

मः ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

अभट्टापाद - श्री भुवानी योग-निवासी

શ્રીઃ ગોવિન્દલાલ હિરાલાલ તસરંધી

तत्त्वज्ञानम्

नक्षत्राणां धा

ਮਾਭਿੰਨ ਧਾਰਮਿਕ

අප්‍රේල් 2014

यः प्रोक्तः ।

જાન પંચમી, મોન જોષાશી, વીશ-સ્થાનક અને રોહિણીના નવ કર્ત્તવ્યો

ॐ नमिन् कुरुता उजमलामा ॐ

જાનલકિત નિમિત્તે આ ખુદતક દેશાપન કરવાઆ આવલ છે. વિક્રમ સં. ૧૮૮૫

11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35 36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100 101 102 103 104 105 106 107 108 109 110 111 112 113 114 115 116 117 118 119 120 121 122 123 124 125 126 127 128 129 130 131 132 133 134 135 136 137 138 139 140 141 142 143 144 145 146 147 148 149 150 151 152 153 154 155 156 157 158 159 160 161 162 163 164 165 166 167 168 169 170 171 172 173 174 175 176 177 178 179 180 181 182 183 184 185 186 187 188 189 190 191 192 193 194 195 196 197 198 199 200 201 202 203 204 205 206 207 208 209 210 211 212 213 214 215 216 217 218 219 220 221 222 223 224 225 226 227 228 229 230 231 232 233 234 235 236 237 238 239 240 241 242 243 244 245 246 247 248 249 250 251 252 253 254 255 256 257 258 259 260 261 262 263 264 265 266 267 268 269 270 271 272 273 274 275 276 277 278 279 280 281 282 283 284 285 286 287 288 289 290 291 292 293 294 295 296 297 298 299 300 301 302 303 304 305 306 307 308 309 310 311 312 313 314 315 316 317 318 319 320 321 322 323 324 325 326 327 328 329 330 331 332 333 334 335 336 337 338 339 340 341 342 343 344 345 346 347 348 349 350 351 352 353 354 355 356 357 358 359 360 361 362 363 364 365 366 367 368 369 370 371 372 373 374 375 376 377 378 379 380 381 382 383 384 385 386 387 388 389 390 391 392 393 394 395 396 397 398 399 400 401 402 403 404 405 406 407 408 409 410 411 412 413 414 415 416 417 418 419 420 421 422 423 424 425 426 427 428 429 430 431 432 433 434 435 436 437 438 439 440 441 442 443 444 445 446 447 448 449 450 451 452 453 454 455 456 457 458 459 460 461 462 463 464 465 466 467 468 469 470 471 472 473 474 475 476 477 478 479 480 481 482 483 484 485 486 487 488 489 490 491 492 493 494 495 496 497 498 499 500 501 502 503 504 505 506 507 508 509 510 511 512 513 514 515 516 517 518 519 520 521 522 523 524 525 526 527 528 529 530 531 532 533 534 535 536 537 538 539 540 541 542 543 544 545 546 547 548 549 550 551 552 553 554 555 556 557 558 559 560 561 562 563 564 565 566 567 568 569 570 571 572 573 574 575 576 577 578 579 580 581 582 583 584 585 586 587 588 589 590 591 592 593 594 595 596 597 598 599 600 601 602 603 604 605 606 607 608 609 610 611 612 613 614 615 616 617 618 619 620 621 622 623 624 625 626 627 628 629 630 631 632 633 634 635 636 637 638 639 640 641 642 643 644 645 646 647 648 649 650 651 652 653 654 655 656 657 658 659 660 661 662 663 664 665 666 667 668 669 670 671 672 673 674 675 676 677 678 679 680 681 682 683 684 685 686 687 688 689 690 691 692 693 694 695 696 697 698 699 700 701 702 703 704 705 706 707 708 709 710 711 712 713 714 715 716 717 718 719 720 721 722 723 724 725 726 727 728 729 730 731 732 733 734 735 736 737 738 739 740 741 742 743 744 745 746 747 748 749 750 751 752 753 754 755 756 757 758 759 760 761 762 763 764 765 766 767 768 769 770 771 772 773 774 775 776 777 778 779 780 781 782 783 784 785 786 787 788 789 790 791 792 793 794 795 796 797 798 799 800 801 802 803 804 805 806 807 808 809 810 811 812 813 814 815 816 817 818 819 820 821 822 823 824 825 826 827 828 829 830 831 832 833 834 835 836 837 838 839 840 841 842 843 844 845 846 847 848 849 850 851 852 853 854 855 856 857 858 859 860 861 862 863 864 865 866 867 868 869 870 871 872 873 874 875 876 877 878 879 880 881 882 883 884 885 886 887 888 889 890 891 892 893 894 895 896 897 898 899 900 901 902 903 904 905 906 907 908 909 910 911 912 913 914 915 916 917 918 919 920 921 922 923 924 925 926 927 928 929 930 931 932 933 934 935 936 937 938 939 940 941 942 943 944 945 946 947 948 949 950 951 952 953 954 955 956 957 958 959 960 961 962 963 964 965 966 967 968 969 970 971 972 973 974 975 976 977 978 979 980 981 982 983 984 985 986 987 988 989 990 991 992 993 994 995 996 997 998 999 1000 1001 1002 1003 1004 1005 1006 1007 1008 1009 1010 1011 1012 1013 1014 1015 1016 1017 1018 1019 1020 1021 1022 1023 1024 1025 1026 1027 1028 1029 1030 1031 1032 1033 1034 1035 1036 1037 1038 1039 1040 1041 1042 1043 1044

श्रुतिवर्षं देवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोद्भारे ग्रंथांकः ७६ ।

श्रीसर्वज्ञाय नमः ।

श्रीमद्विजयानंदसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः

श्रीशुभशीलगणिविरचिता

श्रीभरतेश्वरबाहुबलिवृत्तिः ॥



युगादौ व्यवहाराध्वा, सर्वो येन प्रकाशितः । स श्रीवृषभयोगीन्द्रो, दद्याद्दोऽव्ययसम्पदम् ॥ १ ॥ त्यक्त्वा  
चक्रिश्रियं सद्यो, ललौ यः संयमश्रियम् । स श्रीशान्तिजिनो भूया-ज्जनानां शिवशर्मणे ॥ २ ॥ येनासावतारेण, यदुवंशः  
पवित्रितः । स श्रीनेमिजिनाधीशो, भूयादव्ययसम्पदे ॥ ३ ॥ यस्य नामश्रुतेर्विघ्न-श्रेणिर्योति क्षयं क्षणात् । स श्रीपार्श्व-  
प्रभुर्दद्या-त्कल्याणकमलां सताम् ॥ ४ ॥ सेवतेऽङ्गमिषात्सिंहो, यं बलेन पराजितः । स श्रीवीरविमुर्वर्यः श्रिये भूया-

च्छरीरिणाम् ॥५॥ महात्मनां मुमुक्षूणां सतीनां च सुयोगिनाम् । नामोत्कीर्तनमात्रेण, शिवश्रीर्जायते नृणाम् ॥ ६ ॥  
तपगच्छाधिपाः श्रीमन्—मुनिसुन्दरसरयः । तच्छिष्यः शुभशीलाब्धो, भरतादिकथां व्यधात् ॥७॥ तथाहि, तत्र प्रथमम्—  
भरहेसरबाहुबली, अभयकुमारो य ढंढणकुमारो ।

सिरिओ अग्निआउत्तो, अइमुत्तो नांगदत्तो अ ॥ १ ॥

इत्यादि त्रयोदश गाथा । दानविषये श्रीभरतचक्रिबाहुबलिकथा । सा तु श्रीऋषभदेवचरित्रं विना  
वक्तुं न शक्यते, तेनादौ श्रीयुगादिदेवस्य त्रयोदश भवा उच्यन्ते—“धण १ मिहुण २ सुर ३ महबल ४ ललियंगसुर  
५ वयरजंघ ६ मिहुणे य ७ ॥ सोहम्म ८ विज्ज ९ अच्चुय १० । चक्की ११ सव्वहु १२ उसभे अ १३ ॥ १ ॥”  
तथाहि—पूर्वं क्षितिप्रतिष्ठिते पुरे धननामा सार्थत्राहोऽजनि । तेनाऽस्यदा चितितं, लक्ष्मीं विना नरः शोभां नाप्नोति ।  
यतः—“वरं वरं व्याघ्रगणैर्निषेवितं, जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् । तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये विधनस्य  
जीवितम् ॥ १ ॥ हुंति ए हुंति गुणा, जंति ए जीइ जंति संतावि । जीसे निस्सेसगुणा, धन्नाणं सा जयउ लच्छी ॥ २ ॥  
आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगितां, मूकत्वं मितभाषितं वित्तुते मौढ्यं भवेदार्जवम् । पात्रापात्रविचार-

भावविरहो यच्छत्युदारात्मतां, मातर्लक्ष्मि ! तव प्रसादवशतो दोषा अपि स्युर्गुणाः॥३॥”विमृश्येति लक्ष्म्यर्थं वसंतपुरपत्तने  
 गन्तुं पुरमध्ये पटहोद्घोषणामदापयद्धनः॥ ततो भूरिसमुदाये मिलिते सन्मुहूर्त्तं जग्राह । तृतीया तिथिः भृगुवारः  
 रेवतीनक्षत्रम् । यतः—“आदित्यहस्तो-गुरुणा च पुष्यो, बुधाऽनुराधा शनिरोहिणी च । सोमेन सौम्यं भृगुरेवती च, भौमाश्विनी,  
 चामृतसिद्धियोगाः ॥ ४ ॥ अश्विनीपुष्यरेवंत्यो मृगमूलं पुनर्वसुः । हस्तज्येष्ठाऽनुराधाः स्युः, यात्रायै तारका-  
 बले ॥ ५ ॥ ” यावद्धनश्चलितुकामोऽभूत्तावच्छीधर्मघोषसरयस्तत्राम्येत्य, धर्मलाभपूर्वं धनदत्तासने उपविश्य,  
 धर्मकथामिति प्रोचुः । — “चत्वारो धनदायादा, धर्मचौराग्निभूमुजः । ज्येष्ठेऽप्यपमानिते पुंसां, घ्नन्ति त्रीणि बलाद्धनम्  
 ॥१॥ गव्यूतं प्रव्रजन्मार्गो, यः पथेयं करोति सः । मृत्युमार्गे न वै कुर्याद्दुर्बुद्धिः सज्जनैर्विना ॥२॥ शम्बलं कुरु रे मूढ-धर्म-  
 दानं तपो जपम् । इहाऽमुत्र हितार्थोय, न ज्ञातं व्रजनं भवेत् ॥३॥ धर्माच्छम्बलतो नृदेवस्वचरव्यालेन्द्रसौख्यं भवे-दत्रा-  
 ऽमुत्र च चन्द्रनिर्मलयशः पूजादिकं प्रत्यहम् । पापेनैव च दुःखदुर्गतिभवं श्वभ्रादिकं दुःसहं, निन्दाकीर्तिगणं  
 तदेव कुरु भो आतः ! यद्विष्टं तव ॥ ४ ॥ श्रुत्वेति धनः प्राह—किं कार्यं श्रीपूज्यपादानोमादिशन्तु, गुरुभिरुक्तं वयं  
 वसन्तपुरपत्तने जिगमिषवः स्मः । धनः प्राह—“भगवन्ममोपरि कृपां कृत्वा मया सार्धं समागच्छत । ममापि



मार्गे धर्मश्रवणश्रीपूज्यपादनमनात्पुण्यं भवति । ” ततः शोभने दिने सुशकुनेषु जायमानेषु, जम्बूचासमयूरदर्शन-  
प्रदक्षिणावर्त्तोत्तरणादिना धनसार्थवाहः श्रीधर्मघोषसूभिः सह चचाल । यतः—“जम्बूचासमयूरे, भारद्वाजे तहेव  
नउले य । दंसणमेव पसत्थं, पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥ १ ॥ ब्रजित्वा वामदिग्भागं, दक्षिणात्मधुरस्वरः । काकः  
पूरयते नित्यं, प्रस्थितानां मनोरथान् ॥ २ ॥ चक्रवाकभारद्वाज-हंसहारीतसारसाः । कलर्विकस्तु दात्यहू-चकोरज-  
लकुर्कुटाः ॥ ३ ॥ एतेषां लोमशश्चापि, दर्शनं मङ्गलप्रदम् । लटाखंजनचाषानां, दक्षिणे गमनं शुभम् ॥ ४ ॥ टिट्ठिभः  
कौशिकश्चापि, वामो राजशुकः शुभः । मयूरश्च तथा श्येनो, दक्षिणाद्दामगः शुभः ॥ ५ ॥” मार्गेऽत्येद्युरुपायनागतं, परि-  
पक्करसालफलपरिपूर्णं स्थालं, श्रीगुरुणां पुरो मुक्त्वा धनः सार्थवाहः प्राह—“ भगवन् ! अस्मूनि सहकारफलानि  
गृहाण, मम पुण्यं भवति । ” गुरवस्तं भद्रकस्वभावं विज्ञाय जीवाजीवादिस्वरूपं तस्य पुर एवं प्ररूपयामासुः ।  
मूलं धम्मस्स दया, असेसजीवाण होइ सा जणणी । जं तसथावरजीवाण, रक्खणं होइ जइ धम्मो ॥ १ ॥  
जीवस्वरूपं त्वेव प्रोच्यते जिनेन्द्रैः—भूजलजलणाऽनिलवण-बित्तिचउपंचेदिइहि नवजीवा । मणवयणकायगुणिया,  
हवंति ते सत्तवीसाओ ॥ २ ॥ इक्कासई ते करणकारणाणुमइताडिया होइ । सच्चिय तिकालगुणिया, दुम्मिसया हुंति तेआला

॥ ३ ॥ एतेषां जीवानां यो बधं मनसा वचसा कायेन करोति, तस्य दुर्गतिपातो भवति । यतः—“जीवहिंसां जनः कुर्वन्-न्निहाशं लभतेतराम् । परलोके समाप्नोति, दुःखं श्रमआदिकं स्फुटम् ॥१॥ जीवरक्षां जनः कुर्वन्, वाचा कायेन चेतसा । इहाऽमुत्र सुखश्रेणी, नराणां लभतेतराम् ॥२॥ आनुं दीहमरोगमंगमसमं रूवं पण्डितं बलं, सोहृगं तिजगुत्तमं निरुवमो भोगो जसो निम्मलो । आएसिक्कपरायणो परियणो लच्छी अविच्छेयणी, हुज्जा तस्स भवंतरे कुणइ जो जीवाणुकंपं णरो ॥३॥ परसमयेऽप्युक्तम्—“ यो दद्यात्कांचनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् । एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर ! ॥ १ ॥ देहिनः सुखमीहन्ते, विना धर्मं कुतः सुखम् । दयां विना कुतो धर्मः, तस्मात्तस्यां रतो भव ॥ २ ॥ अथ हृदयमंजरीशैवागमेऽपि प्रोक्तम्—“ सर्वेषां धर्माणामादि-रहिंसा निगद्यते सद्भिः । तद्रहिता नश्यन्ति हि, हतनायकसैन्यवत् धर्माः ॥ १ ॥ ” गीतायां—“ पृथिव्यामप्यहं पार्थ ! । वायावन्नौ जलेऽप्यहं । वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ॥ १ ॥ यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा, न हिंसेत कदाचन । तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मां न प्रणश्यति ॥ २ ॥ ” यत्र जीवरतत्र शिव इति वचनात् । अतः स्थावरेष्वपि जीवत्वं सिद्धं, अतः साधुभिः सर्वप्रकारेण त्रसेषु स्थावरेषु जीवेषु हिंसा न कर्तव्या । ततः प्रासुकान्येवान्नपानानि गृहीतव्यानि, तदलमोभिः फलैः

सचिचैः । ततो धनोऽवग्—“भगवन् ! अद्य प्रभृति मया प्रासुकान्येवान्नादीनि दातव्यानि” । ततः क्रमाच्चलनात् सार्थस्य वर्षाकालः समागमत । स च कीद्वग्—“सर्वत्रोद्वतकन्वला वसुमती वृद्धिर्जडानां परा, जाता निःकमला स्थली समल्लिनैः प्राप्ता धनैरुन्नतिः । सप्यन्ति प्रतिमं धिरं द्विरसनाः संत्यक्तमार्गो जनः, हा कष्टं कलिकाल एष वहति प्रावृट्स्वरूपं भुवि ॥ १ ॥ मेघो बृष्टुं लभः, वैषम्यं कर्दमादिना जातं, कापि शैलपार्श्वे वर्यायां भुवि सर्वः सार्थो निवेक्षितो धनेन । सांघिमद्र-श्राद्धदत्तोपाश्रये गुरवः स्थिताः । कालविलम्बेन क्षीणपार्थेय, सर्वलोका कन्दमूलादि भक्षितुं लभाः । तत्र मासद्वये जातेऽ-कस्मात् धनसार्थवाहस्य गुरवश्चेतोमार्गे समाययुः । ध्यातं च तेन, मया श्रीगुरवः सार्थमाकारिताः एकशोऽपि मया न तेषां भक्तपानादिचिन्ता कृता । अतो धिग् सामधमं, प्रतिपन्नाविस्मास्कम् । ये प्रतिपन्नं न कुर्वन्ति ते अधमा एवोच्यन्ते । चलति कुलाचलचक्रं, स्याद्वामधिपतन्ति जलनिधयः । प्रतिपन्नममलमनसां, न चलन्ति पुंसां युगान्तेऽपि ॥ १ ॥ तत्तियमिदं जंपह, जत्तिमसिन्ता च होइ निव्वाहो । वाया मूयाण नासइ, जीवंता मा मया होंति ॥ २ ॥ तेतस्तत्कालं समुत्थाय धनः श्रीगुरुपार्श्वे गतः, ननाम च तांन् । ततो धनोऽवग्—“भगवन् ! नाहं भाग्य-वानास्मि । मया श्रीपूज्यपादानां सार्थमाकारितानामेकशोऽपि सारा न कृता । श्रीपूज्यपादानां भिर्वाहो दुःशक्योऽस्ति ।”

गुरवो जगुः—“महानुभागे ! महान् सार्थो विद्यते, श्राद्धाश्च बहवः सन्ति, तेषां शकटेषु प्रासुकमन्नपानादि सर्वं विलोक्य-  
 मानं सदा लभ्यतेऽङ्गीक्रियते च । संवतः सार्थ एव वयमागताः तत्पुण्यं तव महज्जायमानमस्ति ” । सार्थेशोऽवगु-  
 “यत्स्वहस्तेन दीयते तदेव लभ्यते शरीरिभिः । स्वहस्तेनान्नपानादि, दीयते यद्विवेकिभिः । लभ्यते तज्जनैः संख्या-  
 तीतपुण्यं न संशयः ॥१॥ सृतानामपि जन्तूनां, श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य, स्नेहः किं वर्द्धते शिखाम् ॥२॥  
 धनसार्थवाहः प्राह—साधुयुग्मं प्रेष्यतां तत्र किमप्यहं प्रासुकान्नादि दास्ये । ततो गुरुभिस्तस्य शुद्धभावं  
 मत्वा साधुयुग्मं धनस्योत्तारके प्रेषितम् । अन्नं दातुं यावत् सार्थपो विलोकतेस्म, तावदमन्त्रेषु किमपि न दृश्यते, पूर्वव्यय-  
 करणात् । ततः सत्यानीभूतं घृतं भाजनस्थं दातुं शुद्धभावात् सार्थप उत्थितो यावत्तावत् सार्थेशस्य शुद्धभावं मत्वा, प्रासुकं  
 घृतं च वीक्ष्य साधुनाऽग्नेत्तनेन विहृतम्, तदा तेन सार्थेशेन घृतं ददता मनुष्यमन्त्रायुः पुण्यानुबन्धिपुण्यमर्जितं, बोधिबी-  
 जं च । तथा च जिनागमः—“केल्लिचि होइ विचं, पत्तं अन्नेसु उभयमन्नेसु । चित्तं विचं पत्तं, तिन्निचि केसिचि धन्नाणं”  
 ॥ १ ॥ सिद्धांतेऽप्युक्तं—तहारुवाणं समणाणं माहणाणं भंते ! फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं  
 पडिलाभेमाणेणं किं किज्जइ ? गोयमा ! तत्थ अट्टकम्मंपयडीओ धणीयंबंधणबद्धाओ सिट्ठिलंबंधणबद्धाओ पंगरइ,

दीहकालट्टिआओ रहस्सिकालट्टिआओ पगरइ, इमं च णं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतरं थेवेणवि कालेण परियट्ठइ ।  
तथा चोक्तं—“अन्नंपानं तथा वस्त्रं, आलयः शयनाऽसने । शुश्रूषा वंदनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥ १ ॥  
साहूण कप्पणिज्जं जं नवि दिन्नं कहिंवि किंपि तहिं । धीरा जहुत्तकारिणो, सुसावगा तं न भुंजंति ॥ २ ॥  
तथा च—ददस्वान्नं ददस्वान्नं, ददस्वान्नं युधिष्ठिर ! । सद्यः प्रीतिकरं लोके, किं दत्तेनापरेण हि ॥ ३ ॥  
इत्यादि पात्रदानफलं धनो मत्वा धृतदानात्तदा मुक्तिगमनयोग्यं पुण्यं भावनयाऽर्जयामास । ततो धन उपाश्रये गुरून्  
वंदितुं सदा याति, गुरूक्तं धर्ममशृणोदिति-संसारसागरोच्चारतीतुल्यस्य श्राद्धधर्मस्य प्रतिष्ठानप्रतिष्ठमादौ सम्यक्त्वं  
वीतरागेणोक्तम्—“वीतरागप्रभुर्देवः, सुसाधुश्च परो गुरुः । कृपामूलरतु सद्धर्मः, सम्यक्त्वमभिधीयते ॥ १ ॥ जिणवयण-  
मेव तत्तंतत्थ रुई होइ दवसम्मत्तं । जहभावणाण सद्धा, परिसुद्धं भावसम्मत्तं ॥ २ ॥ सम्मत्तंभि यल्लहे, पलियपुहुत्तेण-  
सावओ हुज्जा । चरणोवसमखयाणं, सायरसंखंतरा हुंति ॥ ३ ॥ अंतमुहुत्तं पालिय, सम्मत्तं जो वमेइ पज्जंति । तस्स य  
अवद्धुपुग्गल, परियट्ठो चेव संसारो ॥ ४ ॥ भट्टेण चरित्ताओ, सुद्धयरं च दंसणं गहेयव्वं । सिज्झंति चरणरहिया, दंसण-  
रहिया न सिज्झंति ॥ ५ ॥ सव्वत्थ उचियकरणं, गुणाणुराओ रई अ जिणवयणे । अगुणेषु अ मज्झत्थो, सम्म-

दिङ्गिरस लिंगाङ् ॥ ६ ॥ आइपुढवीसु तीसुं, खइयं उवसामगं च सम्मत्तं । वेमाणियदेवाणं, पणियं तिरियाण  
 एमेव ॥ ७ ॥ सेमाणं नारयाणं, तिरियथीणं च तिविहदेवाणं । पंचविहं सम्मत्तं, पन्नत्तं वीयराएहिं ॥ ८ ॥ अण-  
 कोहाइचउक्के, सम्माइपुंजतियगखवियंमि । जीवस्स सुहो भावो, अपुगलं खाइयं सम्मं ॥ ९ ॥ मिच्छतं जमुइअं  
 तं-खीणं अणुदियं च उवसंतं । मीसीभावपरिणयं, वेज्जं जं तं खउवसमं ॥ १० ॥ ” इत्यादिसदुपदेशामृतैर्मिथ्यात्वं मुक्त्वा  
 सम्यक्त्वं धनसार्थवाहो ललौ । वर्षान्तेऽगस्त्युदयं ज्ञात्वा धनसार्थवाहस्ततश्चचाल । यतः—” दिवा च कुरुते यस्मि-  
 न्नुदयं मुनिपुङ्गवः । अनावृष्टिस्तदा घोरा, पिता विक्रयते सुतम् ॥ १ ॥ वर्षाकाले दिने यस्मि-न्नुदिते मुनिपुङ्गवः ।  
 ततः स्तोकं पयोवाहो, मुञ्चते सलिलं भुवि ॥ २ ॥ ” क्रमाद्धनसार्थेशो वसन्तपुरं ययौ । तत्र कृतकयविक्रयोपार्जित-  
 भूरिधनः पुनः स्वपुरं प्रति चचाल । स्वपुरं समागतश्च क्रमात् समयातावसाने सप्तक्षेत्र्यां धनं व्यधत् । कृताराधनकः,  
 पालितनिःकलङ्कुश्रावकधर्मः, समाधिना विपद्य, उत्तरकुरुषु सीतासरित उत्तरतो जम्बूतरोश्च पूर्वतो युगलिधर्मत्वे-  
 नोत्पेदे धनः । तत्र दशविधकल्पद्रुमास्तस्य मानसेप्सितं ददुः । तथाहि—” ते मत्तंगा १ भिंगा २ तुडीयंगा ३  
 दीव ४ जोइ ५ चित्तंगा ६ । चित्तरसा ७ मणियंगा ८, गेहागरा ९ अगणिया य १० ॥ १ ॥ मत्तंगाएसु मज्जं,

मधु पिज्जं भायणाइ भिमेसु । तुडियंगेसु य संगयतुडियाइं बहुपयाराइं ॥ २ ॥ दीवसिहा जोइसि-नामंगा एए करंति उज्जोयं । चित्तंगेसु य मज्जं, चित्तरसा भोयणट्टाणा ॥ ३ ॥ सणियंगेसु य भूसण-त्राइ भवणरुक्खेसु । अणियंगेसु य धणियं । वत्थाइ बहुपपगाराइं ॥ ४ ॥ इत्थं दशविधकल्पवृक्षेभ्योऽधिगतांनि सुखान्यनुभूय, तदायुःप्राप्तिं विपद्य, प्राग्जन्मकृतदानपुण्यानुभावात् सौधर्मे स्वर्गे सुरोऽजनि ॥ इति तृतीयभंशः ॥

तत्र सुखान्यनुभूय चिरं ततश्च्युतः स सुरोऽपरविदेहे गन्धिधलावतीनाम्नि विजये वैताल्यगिरौ गन्धारदेशे गन्धस-मृच्छपुरे शतबलनाम्नो विद्याधरस्य महाबलनामा सुतोऽजनि । सचाभ्यस्तशस्त्रशास्त्रकलाकलापः समये पित्रा राज्येऽभिषिक्तः । तत्सुखानि भुञ्जानोऽन्यस्मिन्नवसरे समलंकृतास्थानसिंहासनः, संगीतके प्रवर्तमाने-स्वयम्बुद्धाभिधेन सचिवेन राजा विज्ञप्तः इति—धिच्ची एस पमाओ, गलहत्येइ जो जियाण जिणधम्मं । नल्लिणीदल-ग्गधोल्लिर-जललवपरिचंचले जीए ॥ १ ॥ इति तस्यानवसरोपदेशात् स नृपः किमेतदिति पृच्छन् मन्त्रिणाऽभाणि-“यदद्य मया बने गतेन चारणमुनिर्भवत आयुःस्वरूपं पृष्टः सन् जगौ । मासमेकमस्य भूपस्यायुरस्ति ” । इति तद्वचन-दनु राजा जगौ—“अद्य निशाशेषे संभिन्नश्रोतप्रमुखैरमात्यैरहमंधकूपे पातितोऽपि स्वयम्बुद्ध ! भवता एकेनोद्धृतः, इति

सद्यः स्वप्नफलसंवादी ममायं भवदुपदेशः” । स नृपः इत्युच्चरन् क्षीणे आयुषि किं कर्तव्यतामूढतयाऽनुतप्यमानः  
सचिवेनोचे—“एगदिवसं पि जीवो, पयज्जमुवांगओ अनन्नमणो । जइवि न पावइ मुरकं अवस्स वेमाणिओ होइ॥१॥”  
इति जैनसिद्धान्तगिः प्रामाण्यात् चारित्रग्रहणात् सफल्य एवं जन्म, परलोकं साधय । श्रुत्वेति मंत्रिवचः  
क्षितिपतिः स्वं पुत्रं राज्ये निवेश्य, कृताष्टान्हिकां महः पुरस्सरं प्रव्रज्यां जग्राह, गुरुपाश्वे । गुरुं क्तविधिना गृहिताऽनंशनः  
समाधिना विपद्य, ईशानदेवल्लोके श्रीप्रभविसाने ललिताङ्गनाम्ना सुरः, प्रस्फुरद्दीप्तिभासुरशरीरः समर्जनि । तस्य स्वय-  
म्प्रभाभिधा देवी-पत्नी बभूव तया समं दिव्यान् भोगान् चिरं मुञ्जानस्य तस्य देवस्य कदाचिदायुःक्षये स्वयम्प्रभा देवी  
स्वर्गात् च्युता । तस्या देव्या विरहेण विधुरोऽमूल्ललिताङ्गः । ततः उद्यानादिवापिषु रममाणः क्षणं न रतं लेभे ।  
यतः—“देवाऽवि देवल्लोए, दिव्याभरणेण रंजियसरीरा । जं परिवट्ठति तत्तो, तं दुक्खं दारुणं तोसि ॥ १ ॥ तं  
सुरविमाणविभवं, चित्तिअ चवणं च देवलोगाओ । इयं बलियं च जं नवि, फुट्ठइ सयंसक्करं हिययं ॥ २ ॥ ईसा-  
विसायमयकोह—मायालोभेहि एवमाईहिं । देवाऽवि समभिभूयां, तोसिं कुतो सुहं नाम ॥ ३ ॥ इतश्च स्वयम्भुद्धोऽपि  
मन्त्री गृहीतव्रतोऽनशनेन मृत्वा तस्मिन्नेव कल्पे दृढधर्मभिधः शक्रसामानिकोऽभवत् । यतः—तव नित्यमेण य मुरको



दाणेण यं हुंति उत्तमा भोगा । देवच्छणेण रज्जं, अणसणमरणेण इंदत्तं ॥ १ ॥ स एव देवः प्राग्भवसौहाद्वर्ति,  
ललिताङ्गसुरं विरहविब्हलं वीक्ष्य प्राह शोकापनोदाय—“ विषयगुणः कापुरुषं, करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् ।  
बध्नाति मशकमेव हि, लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ १ ॥ स्त्रीरागसागरस्यान्तश्चेतःपोतान्निमज्जतः । अपयाति मतिलज्जा  
पौरुषं साधुतावृत्तिः ॥ २ ॥ मा विषादं कुरुष्व त्वं, देव्या विरहितो मनाग् । कुरु चित्तं स्थिरं तस्मात्, सुखी-  
भवसि संततम् ॥ ३ ॥ संझरागजलबुबुउवमे, जीविष् वि जलबिंदुचंचले । जुष्टणे यं नईवेगसन्निभे, पावजीव किमयं  
न बुज्झसि ॥ ४ ॥ दुष्पयं चउष्पयं बहुष्पयंच अप्पयं समिद्धमहणं वा । अणवकएवि कयंतो हणइ हयासो अपरितंतो  
॥ ५ ॥ एवमुपदेशे दीयमाने तेन सुरेण ललिताङ्गो न मनाग् मोहान्निवृत्तः ततो दृढधर्मा देवस्तस्या देव्याः  
प्राप्त्युपायं प्रोक्तवानिति धातकीखण्डे प्राग्विदेहे नन्दग्रामे नागिलस्य दरिद्रस्य श्रेष्ठिनः सप्तानां पुत्राणामुपरि तस्यां  
पत्न्यामष्टभ्यां पुत्र्यां जातायां कुरूपायां भाग्यहीनायां पितरि प्रणष्टे, उद्वेगात् नामाकरणात् निर्नामिकेति नामाऽ-  
जनि, निर्नामिका क्रमाद्वृधे, कचिद् निर्नामिका गगनतिलकपर्वते दारूण्यानेतुं गता, तत्र तत्कालोत्पन्नकेवल-  
ज्ञानं युगन्धराभिधं मुनिं सिंहासनस्थं धर्ममुपदिशन्तं शुश्रावेति । “ आयुर्वायुचलं सुरेश्वरधनुर्लोलं बलं यौवनं

विद्युद्वलुलं धनं गिरिनदीकल्लोलवच्चञ्चलम् । स्नेहं कुञ्जरकर्णतालचपलं देहं च रोगोकुलं ज्ञात्वा भव्यजनाः सदा-  
 कुरुत भो धर्मं महानिश्चलम् ॥१॥ दारिद्रनाशनं दानं, शीलं दुर्गतिनाशनम् । अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा, भावना भवना-  
 शिनी ॥ २ ॥ ” एवं गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्राप्तगृहिधर्मा कुमारिका निर्नामिका सा सम्प्रति वर्तते । साम्प्रतं चान-  
 शनं सा जग्राह, ततस्तत्र गत्वा स्वरूपं तस्या दर्शय कथय च, यथा सा निर्नामिका त्वदनुरागिणी भूत्वा मृत्वा च  
 स्वयम्प्रभैव प्रिया उत्पद्यतेऽत्रैव स्वर्गे, तथा कृते तेन देवेन सा निर्नामिका तत्रैव स्वर्गे ललिताङ्गस्य प्रियाऽभवत् ।  
 ततः स देवस्तया प्रियया सह विलसन् सुखीजातः ॥ इति ललिताङ्गदेवभवः ॥ ततः क्रमादायुःक्षये ललि-  
 ताङ्गसुरो जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहे सीतासरिदुत्तरे तटे पुष्कलावतीविजये लोहार्गलपुरे स्वर्णजङ्घस्य राज्ञः लक्ष्मीदेव-  
 कुक्षिजन्मा प्रद्युम्नप्रतिमो वज्रजङ्घोऽङ्गजोऽभवत् । पित्रा जन्मोत्सवः कृतः यौवनं प्राप क्रमाद्वज्रजङ्घकुमारः । इतः  
 स्वयम्प्रभापि स्वर्गात् द्युत्वा तस्मिन्नेव विजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां वज्रसेनतीर्थकरचक्रवर्तिनः श्रीमती नाम्ना सुताऽ  
 भूत्, सा क्रमाद्यौवनालङ्कृतदेहाऽजनि । एकदा श्रीमती सन्निहितवने समुत्पन्नकेवलज्ञानं मुनिं प्रेक्ष्य जाति-  
 स्मृतिं प्राप । ततः पूर्वभवपतिं करिष्यामीति निर्बन्धपरा पितुर्निर्देशात् पूर्वभवं स्वं स्वरूपं चित्रपट्टे लेखया-

मास । प्राप्तवयो मम पूर्वभवं कथयिष्यति, तमहं वरिष्ये । ततः स्वयंवरमण्डपो मण्डितः । आहूता अनेके नृपराजकुमाराः ॥ तैर्भूपैस्तस्याः पूर्वभवो न कैरपि प्रोक्तः । तेषु तेषु सङ्केतेषु अपूरितेषु तत्रागाद्वज्रजङ्घकुमारः चित्रपट्टे लिखितं पूर्वभवं स्वं वीक्ष्याकस्माज्जातिस्मृतिं प्राप । ततः कुमार्या हृदयस्थान् पूर्वभवसङ्केतान् कुमारः कथयामास । ततस्तथा स पूर्वभवसम्बन्धिनं पतिं मत्वा वरमालान्यासपूर्वमुपयेमे । ततो वज्रजङ्घस्तां परिणीय सन्महं स्वपुरमाययौ । ततः क्रमात् स्वर्णजङ्घः पुत्राय राज्यं दत्त्वा स्वयं दीक्षां जग्राह । प्राप्तराज्यो वज्रजङ्घो न्यायाध्वना भुवं राजास । यतः—“यो न्यायेन भुवं सर्वा, पैतृकीं पृथिवीपतिः । जुगोप स प्रयात्येव, वृन्दारकनिकेतनम् ॥१॥ राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः । राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥ २ ॥” क्रमेण तस्य राज्ञो नन्दनो जातः । तस्य वज्र इति नाम दत्तम् । अन्येद्युः श्रीमतीभ्रातुः पुष्कलपालस्य राज्ञः सीमालभूपालैराक्रान्तस्य साहाय्याय वज्रजङ्घश्चाल । मार्गे वज्रजङ्घश्चलन् दृष्टिविषं सर्पं तस्मिन् मार्गे श्रुत्वा तत्र गत्वा सर्पं प्रबोधयामास तद्(स्वद)र्शनात् । ततश्चलन् पुष्कलावतीं पुरीं ययौ । तत्रागतान् सर्वान् पुष्कलपालस्य रिपून् हत्वा स्वां पुरीं प्रति चचाल । इतस्तस्मिन् मार्गे मुनियुगस्य ध्यानं कुर्वतः सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं जातम् । वज्रजङ्घः पत्नीयुतो

मुनिसेनसागरसेनाख्यमुनियुगं प्रणनाम । तयोर्मुन्योः पृथग् पृथग् उपदेशं श्रुत्वा स्वपुरमाययौ । अन्येद्युर्वज्रजङ्घेनो-  
 क्तम्—प्रिये ! व्रतमहं ग्रहीष्ये त्वं समाधिना गृहिधर्मे पालय । पत्नी जगौ । पुराऽहमपि व्रतं ग्रहीतुकामाऽस्मि, यदि  
 त्वया व्रतं ग्रहीष्यते, तदाऽहमपि त्वया सह दीक्षाग्रहणं करिष्ये । अत्रान्तरे पुत्रो मातापित्रोः संयमग्रहणाभिप्रायमजा-  
 नानो विषं दातुकामोऽभूत् । ततः पुत्रेण राज्यार्थिना विषदानात् मातापितरौ हतौ । इतिवज्रजङ्घभवः ॥ ६ ॥ शुभ-  
 ध्यानात् तौ मृत्वा उत्तरकुरुषु समुत्पन्नौ । युग्मधर्मेण तत्र दशविधकल्पवृक्षपूर्णमनोरथौ सुखिनौ बभूवतुः । इति  
 युग्मिभवः सप्तमः ॥ ७ ॥ ततो मृत्वा तौ मिथः स्नेहलौ प्रथमस्वर्गे सुरावभूताम्, तत्रातीव सुखिनौ जातौ । इतिसुरभवो-  
 ऽष्टमः ॥ ८ ॥ स्वर्गात् च्युत्वा जम्बूद्वीपे विदेहे क्षितिप्रतिष्ठितपुरे स्वर्गिपुरसोदरे, सुविधिवैधस्य जीवानन्दनामा पुत्रोऽभूत् ।  
 तत्रैवेशानचन्द्रस्य भूपस्य महीधरनामा पुत्रो बभूव १ ॥ मन्त्रिपुत्रः सुबुद्धिरासीत् २ ॥ सार्थवाहाङ्गजः पूर्ण-  
 भद्रः ३ ॥ श्रेष्ठिसूनुर्गुणाकरोऽभूत् ४ ॥ श्रीमतीजीवः स्वर्गात् च्युत्वा तत्रैव श्रेष्ठिपुत्रः केशवनामाऽभवत् ५ ॥  
 एतेषां जीवानन्देन सह सौहार्दमभूत् अत्यन्तम् । कदाचिज्जीवानन्दवैधस्य सञ्जानि तेषां वयस्यानां पञ्चानां तस्थुषां  
 गुणाकराख्यो जैनमुनिः कुष्टगल्देहः पारणार्थं समागात् । तस्य यतेस्तादृशं देहं कुष्टव्याधिग्रस्तं वीक्ष्य मिथश्चि-

न्तयामासुः । एष मुनिस्तीव व्याधिना ग्रस्तो दृश्यते । ततः सानुकम्पो जीवानन्दो जगौ—अयं मुनिर्महता धनव्ययेन सज्जीक्रियते । लक्षपाकतैलं गोशीर्षचन्दनं रक्तकम्बलं च विलोक्यते । तैलं तु मम मन्दिरे समस्ति । शेषवस्तुद्वयोपायश्चिन्त्य एव । असौ यतिः सुमहाभागस्तपस्वी स्वशरीरनिरपेक्षोऽस्ति । यद्यस्योपकारः करिष्यते कुष्टरफेष्टनेन तदा मुक्तिगमनयोग्यं कर्मोपाज्यते । यतः—“ ज्ञानवान् ज्ञानदानेन, निर्भयोऽभयदानतः । अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधिर्भेषजान्नवेत् ॥ १ ॥ ” अथ तदौषधप्राप्तये महीधरपुत्राद्याः पञ्चापि जीवानन्देन समं कस्यापि सुहृदो महेभ्यस्याऽऽपणे मूल्येन यत्यर्थं गोशीर्षचन्दनरत्नकम्बले याचन्ते स्म । धर्मेण तेन तद्वस्तुद्वयं यत्यर्थं दत्तम् । प्रोक्तं ममापि पुण्यं भवति । पापिनामौषधे दत्ते पापमेव भवति । धर्मिणां तु दत्ते धर्म एव भवति । धर्मो तु धर्ममेव करोति । तस्य पुण्यविभागो वैद्यस्यौषधदातुर्भवति । ततस्ते सर्वे सुहृदस्तानि औषधानि लात्वा वने ययुः तस्य मुनेस्तेन तैलेन प्रथमं देहेऽभ्यङ्गनं कृतम् । तच्चैलयोगात् अतीव तापिते साधुवपुषि रत्नकम्बलं निदधे । तापव्याकुलाः साधुदेहस्थाः क्रमयो रत्नकम्बले लग्नाः । ततो वैद्येन दीर्घदर्शिना ते क्रमयोऽतीवार्द्रगोशबमध्ये स्थापिताः । ततस्तद्देहे शीतनिमित्तं गोशीर्षचन्दनाङ्गरगः कारितः इति । एवं त्रिःकृत्वा प्रतीकारेण मुनिं पट्टकृत्य ते क्षमयामासुरिति

भगवन् ! युष्मच्छरीरे किमप्यपराधः कृतः स क्षम्यताम् । ततस्तं यतिं प्रणम्य तस्मै श्रेष्ठिने यतिनारोगः कृतोऽस्ति भवत औषधाभ्यामिति निवेद्य च स्वस्थानं ययुः । स च श्रेष्ठी तदौषधदानपुण्यमनुमोदमानो गृहस्थ एव सर्वकर्म-क्षयात् केवलज्ञानं प्राप । तेऽपि च सुहृदो गोक्षीर्षरत्नकम्बलौ विक्रीय तद्व्यवहारे निजकाञ्चनलक्षद्वयेन च जिनालयं कारयामासुः । इति नवमो भवः ॥ ९ ॥ ते सर्वे जीवानन्दादयः क्रमात् प्रव्रज्यां गृहीत्वा द्वाविंशतिसागरा-युष्काच्युते स्वर्गे त्रिदशा बभूवुः ॥ इति दशमो भवः ॥ १ ॥

अथ जीवानन्दजीवस्ततश्च्युत्वा प्रथमं जम्बूद्वीपे प्राग्निदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां वज्रसेनस्य तीर्थकरभूपतेः धारिणीदेव्याः—कुक्षौ चतुर्दशस्वप्नसूचितोऽवततार क्रमात् पुत्रोऽभवत् । वज्रनाभनामा ज्येष्ठनन्दनः समभवत् । नृपामात्यश्रेष्ठिसार्थेशानां जीवास्ततश्च्युताः क्रमेण बाहुसुबाहुपीठमहापीठनामानः कनीयांसस्तस्य सोदरा-श्चत्वारो बभूवुः । केशवजीवस्तु स्वर्गाच्च्युतः सुयशा नामा भूपुत्रो भूत्वा वज्रनाभं सिषेवे । वज्रसेनभूपो वज्रना-भाय पुत्राय राज्यं वितीर्य लोकान्तिकदैवैर्जय नन्देति जल्पिते सांवत्सरिकं दानं दत्त्वा दीक्षां जग्राह । क्रमेण केवल-ज्ञानं प्राप । वज्रनाभस्तु प्राप्तषट्खण्डराज्यः स्वयं समस्तचक्रवर्तिपदभागभूत् । अन्येद्युस्तस्मिन्नेव पुरे श्रीवज्रसेन-

स्तीर्थंकरः समवसृतः । तदा चक्री सपरिवारः पितुः तीर्थकृतो धर्मोपदेशं श्रोतुं गतः । जिनेन्द्रस्तत्रेति धम्मोपदेशं  
प्राह “न श्रीर्मे विपुला जने न च मतिर्जाता न वा सूनवो, जाता वा न गुणास्पदं न च मुदं धत्ते कुटुम्बं मम । द्विष्टो-  
भूमिपतिः खलाश्च कुहशो देहं रुगार्तं सुतो-द्वाह्या भूरिक्लृणं ऋणन्ति गृहिणां चेतांसि चिन्ता इमाः ॥१॥ प्राग् जन्मजाते  
सुकृते सति प्रभो !, विवेकिभिस्तत् पुनरर्ज्यते नयम् । नीवीधनाऽदस्य पुनः कुतोऽर्जनं, वापः क्व वा प्रोषितबीज-  
भोजिनः ॥ २ ॥ ” एवं धर्मोपदेशं श्रुत्वा सज्जातवैराग्यो वज्रनाभो बाहुसुबाहुर्पाठमहापीठआतृभिः सुयशसा च  
सार्धं संयमश्रियं जग्राह । वज्रनाभो यतिः क्रमाद् गुरुपार्श्वे पठन् द्वादशाङ्गभूत बभूव, शेषा एकादशाङ्गधारिणो-  
ऽभवन् । अर्हदादिभिर्विशिष्टानकैरतीर्थंकरपदवीं बबन्ध वज्रनाभः । यतः—“वज्रनाभस्तु विशतिस्थानैरोभिर्मनोरमैः ।  
निर्ममे तीर्थकृन्नाम—कर्म भवाब्धिधारकम् ॥१॥” तथाहि—“अरिहंत १ सिद्ध २ पवयण ३ गुरु ४ थेर ५ बहुस्सुए ६  
तवस्सीसुं ७ । वच्छल्लयाइ एसिं अभिक्खनाणोवओगे य ८ ॥ १ ॥ दंसण ९ त्रिणए १० आवरसए य ११  
सीलव्वए निरइआरो १२ । खणलव १३ तव १४ च्चियाए १५ वेयावक्खे १६ समाही १७ य ॥ २ ॥ अपुव्व-  
नाणगहणे १८ सुअभत्ती १९ पवयणे पभावणया २० । एएहि कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥ ”

शुद्धमन्नं समानीय, विभज्य बाहुसंयतः । ददानो यतिभ्यश्चाजि-कर्मोपाजितवान् क्रमात् ॥ १ ॥ साधुपञ्चशतीनां स-  
 द्विश्रामणविधानतः । अतीवबलकर्मादि, सुबाहुरर्जयत् स्वयम् ॥ २ ॥ वज्रनाभगुरौ वैया-वृत्यं विश्रामणादिकम् ।  
 बाहुसुबाहू कुर्वाणौ, पुण्यमर्जयतां नवम् ॥ ३ ॥ यदा यदा तयोर्व्याख्यां, कुर्वते गुरवः स्फुटम् । तदा पीठमहा-  
 पीठौ, सहेते न स्वचेतसि ॥ ४ ॥ मायान्ध्यात्वयोगेन, क्रोधादिकृत्यतत्परौ । स्त्रीत्वकर्म भृशं पीठ-महापीठौ बब-  
 न्धतुः ॥ ५ ॥ यतः—“जो चवलो सठभावो, मायाकवडेहि वंचए सयणम् । न य कसस य वीसत्थो, सो पुरिसो  
 महिलया होइ ॥ १ ॥” सुयशाः संयतस्तत्र, कुर्वन् धर्मं निरन्तरम् । अर्जयामांस कल्याण-प्राप्तिकर्म निरव्ययम्  
 ॥ २ ॥ इत्येकादशमो भवः ॥ ११ ॥ एते सर्वे चतुर्दशलक्षपूर्वौ यावत् निःकलङ्कं व्रतं प्रतिपाल्य आयुःप्रान्ते  
 समाधिना मृत्वा सर्वार्थसिद्धिविमाने समुत्पन्नाः ॥ इति द्वादशो भवः ॥ १२ ॥ इतश्चावसर्पिण्यां सुषमदुःखमा-  
 भिधतृतीयारकप्रान्ते प्रान्तपत्न्योपमाष्टभागशेषे इहैव जम्बूद्वीपे दक्षिणभरतार्धे गङ्गासिन्ध्वोरन्तराले प्रथमः कुलकरो  
 विमलवाहनाहोऽभूत् १ । तस्य पत्नी चन्द्रयशाः । तदा च क्रमात् समयहीनताभवनात् स्वल्पेषु कल्पवृक्षेषु  
 जायमानेषु कलहकारिषु युगलिषु च हकारनीतिः प्रवर्तयामास । तयोः षण्मासशेषायुष्कयोश्चक्षुष्मान् चन्द्रकान्तेति



युगलमभूत् २ । तयोश्च यशस्वी स्वरूपेति युगलं बभूव ३ । अस्य राज्ये मकारनीतिरभूत् । ततोऽभिचन्द्रः प्रिय-  
ङ्गुरिति युगलं जातम् ४ । यतः—“नवधणुसयाइ पढमो, अहुसत्तच्छसत्तमाइं च । छच्चेव अहुछडा, पंचसया  
पणवीसं तु ॥ १ ॥ संघयणं संठाणं, उच्चत्तं चेव कुलगरेहि समं । वज्जेण एगवन्ना, सव्वाओ पियङ्गुवन्नाओ ॥ २ ॥”  
ततस्तदपत्यद्वयं प्रसेनाजित् पूर्णकांता इति युगलं जातम् ५ । अस्य काले धिक्कारनीतिरजनिष्ठ, तस्यापत्यद्वयं  
मरुदेवः श्रीकांता इति युगलं जज्ञे ६ । ततः सप्तमं श्रीनाभिर्मरुदेवीति युगलं बभूव ७ । नाभिस्तु सपाद-  
पञ्चशतधनुर्देहः मरुदेवी अपि सपादपञ्चशतधनुर्देहाऽभूत् । इतस्तृतीयास्य चतुरशीतिपूर्वलक्षेणैकोननवति-  
पक्षाधिकेषु अवशिष्टेषु आषाढशुद्धचतुर्दश्यामुत्तराषाढानक्षत्रे सर्वार्थसिद्धिविमानात् त्रयस्त्रिंशत् सागरो-  
पमप्रामितायुगनुभूय ततश्च्युत्वा श्रीवज्रनाभजीवः मतिश्रुताविधानशाली गजादिचतुर्दशमहास्वप्नसचिततीर्थ-  
करजन्मा मरुदेव्याः कुक्षाववातरत् । तदा च नारकाणामपि सुखमजनि । यतः—“नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्या-  
णपर्वसु । पवित्रं तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ॥ १ ॥” तस्मिन् काले स्वप्नपाठकादयो न सन्ति । तदा  
शक्रः प्रभुभक्त्या स्वामिरक्षार्थं आभियोगिकान् स्वसेवकान् मुमोच । नवमासे सार्द्धसप्तदिने व्यतिक्रान्ते चैत्रासि-

ताष्टस्यां उत्तराषाढानक्षत्रे गते चन्द्रे युगलधर्मिणं पञ्चशतधनुस्तनुमानं सुवर्णवर्णशरीरं वृषभध्वजं सर्वाङ्गुतलक्षणं प्रथमं जिनं पुत्रं मरुदेवी स्वामिनी सुषुवे । जन्माभिषेककरणं शक्रश्चक्रे । अवतारितस्वाङ्गुशमृतास्वादादुपचित-तनुर्लोछनवृषभस्य दर्शनात् स्वप्नेऽप्यादौ वृषभदर्शनात् वृषभ इति नाम दत्तम् । युगलजातायाः कन्यायाः सुमङ्गलेति नाम दत्तम् । वृषभस्य किञ्चिदूने हायने व्यतिक्रान्ते, शक्रः इक्षुदण्डं लात्वा प्रसुं नन्तुं वंशस्थापनाय चागात् । तदा वृषभेण बालस्वभावात् इक्षुदण्डं गृहीतुं हस्तः क्षितौ भक्षणेच्छया । ततः शक्रेण वृषभवंशस्य इक्ष्वाकुरिति नाम दत्तम् । ततः सदा सुरा उत्तरकुरुतः फलानि प्रसुकृते प्रत्यहं क्षीरोदजलानि चोपनयन्ति स्म । अथ दश (देशेन) वर्षदेश्ये प्रभौ अकाले तालफलपतनतो युगलिनः पुरुषस्य (जन्मदिने) मृतिरभवत् । स्त्री तु स्थिता सुनन्देति तस्या नाम । ततो युगलिभिः श्रीनाभिकुलकराय युगलिनो मृतिस्वरूपं प्रोक्तम् । अथ यौवनस्थस्य प्रभोः श्रीनाभिराज्ञा सुमङ्गलासुनन्दयोः पाणिग्रहे क्रियमाणेऽवधिना विज्ञाय वासवः सहाप्सरोभिस्तत्र समागात् । प्रभुरपि अवश्यभोग्यं कर्म जानन् सर्वमनुमेने । ततः प्रथममेव स्वामी सुमङ्गलासुनन्दाभ्यां सह दिव्यधात्रीभिः स्त्रपितोऽवलितो भूषितश्चानीतो मण्डपद्वारे कृतं दधिदूर्वालवणादि मङ्गलकर्म प्रभोरिन्द्रेण ततः शक्रः स्वर्गं समागात् । नवपरिणीतस्य प्रभोर्मे-

ङ्गलानीति मरुदेवाऽवगू-सूनो ! जङ्गमकल्पवृक्षविततः शाखाशतेन क्रमात्, त्रैलोक्यं निखिलं समीहितफलैः संतर्प्य धैः  
सन्ततम् । सत्याशीरिति या वधूद्वयजुषः प्रोवाच तत्राङ्गिनां, प्रीत्यै श्रीमरुदेव्यसौ विजयतां तीर्थङ्करस्य प्रसूः  
॥ १ ॥ इति मातुराशिषं प्रभुः पाप । किञ्चिदूनेषु षड्वर्षलक्षेषु सर्वार्थसिद्धिविमानाञ्च्युत्वा  
बाहुपीठजीवौ सुमङ्गलादेव्याः कुक्षाववातरतुः । तदा सुमङ्गला चतुर्दश महास्यमानि गजादीनि ददर्श ।  
क्रमात् तयोर्जातयोर्जन्मोत्सवे कृते पुत्रस्य भरत इति नामाऽभूत् पुत्र्याश्च ब्राह्मीति नामाऽजनि । सुबाहुमहापीठ-  
जीवौ सुनन्दायाः कुक्षौ युग्मत्वेन बभूवतुः । पुरुषस्य बाहुबलिरिति नामाऽभूत्, पुत्र्याश्च सुन्दरीति नाम दत्तम् ।  
क्रमात् सुमङ्गला एकोनपञ्चाशत् युगलानि प्रासूत । एवं ऋषभदेवस्य पुत्रशतं पुत्र्यौ ब्राह्मीसुन्दर्यौ । क्रमात्  
कल्पवृक्षेषु हीनसत्त्वेषु फलदानशक्तिषु कषायबहुलानां नीतिमर्यादालङ्घनपराणां मिथः कलिपराणां युगलिनां श्रीना-  
भिकुलकरेण श्रीऋषभदेवः समर्पितो मर्यादायै । ततस्ते युगलिन एकीभूय परमेश्वरं महतः स्थलस्योपरि उपवेश्य  
नलिनीपत्राण्यादाय हस्तेषु भगवत्स्नानार्थं जलाशये गताः । इतः शक्रः स्वर्गोदेत्य परमेश्वरं तादृशे रत्नसिंहासने  
निवेश्य द्वापञ्चाशच्चन्दनसेनोपलेप्याभरणाभराणि परिधाप्य प्रच्छन्नः स्थितः । इतस्ते युगलिनो गृहीतपद्मिनी-

पत्रस्थजलाः प्रभुं तादृशं दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य चिन्तयामासुः । यदि जलं मस्तकोपरि प्रक्षिप्यते । तदा सर्वाणि वस्त्राणि  
 विनक्ष्यन्ते । ततस्ते प्रभोः पदयोरधस्तादभिषेकं चक्रुः । तद्विनयसन्तुष्टः शक्रः प्रकटीभूय प्रभुं भक्त्या प्रणम्य सुवि-  
 नीता एते युगलिन इत्युक्त्वा तस्मिन् स्थाने द्वादशयोजनायामां नवयोजनविस्तृतां नवां पुरीं विनीतामिति चकार ।  
 प्रभोर्जन्मतो विंशतिपूर्वलक्षाणि व्यतिक्रान्तानि । ततः प्रभुणा केचिद्युगलिनः सचिवाः कृताः । केचिद् दूर्गाऽऽरक्षकाः  
 कृताः केचिच्च भोगा-गुरवः कृताः केचिद्वयस्या-राजन्याः कृताः शेषाश्च युगलिनः क्षत्रियाः पत्न्यश्च कृताः । ततः  
 करितुरगगोमहिषादिसङ्ग्रहः कारितः प्रभुणा । अथ कल्पद्रुमेषु उच्छिन्नेषु गतेषु अपक्वौषधिमक्षणपराणां युगलिना-  
 मुदरेषु दुष्यत्सु प्रभुणोक्तम् । हस्ततले कुक्षौ ( कक्षायां ) च मुक्त्वौषधीः भक्षयत । यतः-“ओमपाहारंता, अजीरमाणंमि  
 ते जिणमुर्विति । हृथेहिं धंसिउणं, आहारेह त्ति ते भणिआ ॥१॥ आसी अ पाणिधंसी तिमिअतंदुलपवालपुंडभोई ।  
 हथ्यतलपुडाहार, जइआ किर कुलकरो उसहो ॥ २ ॥” ततस्तथा कुर्वत्सु तेषु अग्निरुपन्नस्तं दृष्ट्वा भीतारंते  
 प्रभुपार्श्वेऽग्न्येत्य जगुः । भगवन्नस्माकमौषधीर्भक्षयन् राक्षस उत्पन्नोऽस्ति । प्रभुणा ज्ञानेनाग्निमुत्पन्नं ज्ञात्वोक्तम्-तस्य  
 राक्षसस्याग्नेर्मध्ये मुक्त्वा यूयं भक्षयत । ततस्तथा कुर्वत्सु तेषु राक्षसरूपोऽग्निः सर्वं भक्षयति । ततस्ते प्रभुपार्श्वं गत्वा

तदपि प्रोचुः । ततो वृषभेण कुम्भिकुम्भस्थलस्थेन मृत्तिकामानाख्य प्रथमं कुम्भं घटयित्वाऽर्पयामास । प्राह च-एवंविधान्  
कुम्भान् कृत्वा वह्निना पाचयित्वा तेषु औषधीः स्थापयित्वा भक्षयत । ततः प्रभूक्तविधिना ते औषधीर्भक्षयन्तिस्म ।  
ततस्ते सुखिनोऽभवन् । ततः प्रभुः शिल्पशतं प्रकाशयामास । ततः प्रजास्तथा चक्रुः । चतुर्धा सामदामादिनीतीः  
प्रकाशयामास । द्वासप्ततिं कला नराणां भरतं शिक्षयामास । स्त्रीणां चतुःषष्टिं कलाः बाहुबलिं शिक्षयामास ।  
अश्वभादीनां लक्षणानि प्रभुः प्रकाशयामास । दक्षिणहस्तेनाष्टादश लिपीर्ब्राह्म्यै, वामेन शयेन गणितानि सुन्दर्यै  
प्रकाशयामास सारस्वतादिदेवा अभ्येत्य प्रभुं प्रोचुः—धर्मं तीर्थं प्रवर्तय त्वम् । ततः संयमग्रहणावसरं प्रभुरवधिना  
विज्ञाय भरतायायोध्याराज्यं वितीर्य बाहुबल्ये बहलीदेशराज्यं च शेषेभ्योऽङ्गजेभ्यो यथायोग्यं पुरग्रामादि वितीर्य सांवत्स-  
रिकं दानं ददौ ॥ ततः प्रभुः त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि निष्कण्टकां राज्यश्रियमुपभुज्य वसन्तसमये अष्टादशभारवनस्पति-  
शोभाकारके चैत्रासिताष्टम्यां उत्तराषाढानक्षत्रगते चन्द्रे सुरासुरौघवाह्यां सुदर्शनाख्यां शिबिकामारुह्य सुरेन्द्रादि-  
भूपपरिवृतो राजमार्गे चचाल । प्रभुः क्रमादेवदुदुम्भौ वाद्यमानायां सिद्धार्थोद्यानमाजगाम । प्रभुः शिबिकाया अव-  
रुह्याशोकतरुतले वसनाभरणानि मुमोच । प्रभुः ततो जम्भारिन्यस्तं देवदूष्यमसे दधानश्चतुर्मुष्टिलोचं चकार । तदा

शक्राग्रहादेका मुष्टिः स्थिता प्रभोर्मस्तके । वासवेन कोलाहले निषिध्यमाने प्रभुर्नमस्कारोच्चारणपूर्वं संयमं जग्राह ।  
 तदा नाभेयस्य चतुर्थं ज्ञानं समुत्पन्नम् । यतः “काऊण नमुक्कारं, सिद्धाणमभिगहं तु सो गिण्हे । सव्वं मेऽकरणिज्जं,  
 पावं ति चरित्रमारुढो ॥ १ ॥ तिहि नाणेहि समग्गा, तित्थयरा जाव हुंति गिहवासे । पडिवन्नंमि चरित्ते, चउनाणी  
 जाव छउमत्था ॥ २ ॥ तदा भरताच्चैर्बहुभिर्मूर्धैर्निषिध्यमाना अपि कच्छमहाकच्छादयश्चत्वारो नृपसहस्राः प्रभुणा समं  
 संयमं ललुः । इन्द्रादिषु यथास्थानं गतेषु प्रभुरन्यत्र विजहार । प्रभुः पूर्वभवोपाजिताशुभकर्मवशाद् भिक्षामलभानो  
 वर्षं यावन्निराहारो विहृत्य गजपुरं समाजगाम । तत्र बाहुबलिपुत्रः सोमयशाः, तस्य पुत्रः श्रेयांसस्ततसाहाय्यात्  
 शत्रुभिराक्रांतो महाभटो जयीजात इति स्वप्नपश्यत् सोमयशा नृपः १। रविमण्डलतः श्रस्तः करौघो घटितः पुनः  
 श्रीश्रेयांसकुमारेण स्वप्नं श्रेष्ठीति लब्धवान् २। पुनः श्रेयांसकुमारेण स्वप्नो दृष्टः मेरुर्मलिनो जातः सो मया  
 पायसेन उज्वलीकृतः ३। प्रातरतः शुभं भावि श्रेयांसस्योदयो महान् कोऽपीति मन्त्रयित्वा ते स्वस्ववेश्म त्रयोऽप्यगुः ॥ ३ ॥  
 लाति श्रीऋषभः किञ्चिन्नेति कोलाहलं नृणाम् । श्रुत्वा गवाक्षतोऽधाव-द्युवराजा प्रभुं प्रति ॥ ४ ॥ प्रभोर्दर्शनात्तदा  
 जातिस्मृतिं प्राप्य पश्चान्नवभवं स्वं गृहीतसंयमं ज्ञात्वा प्रभुं चान्नग्रहणतत्परं ज्ञात्वा यावत् प्रासुकांक्षं दातुकासः

श्रेयांसोऽभवत् तावल्लोकैर्ढौक्यमानानि गजाश्वकन्याभरणादीनि वस्तूनि त्यजन् श्रेयांसकुमारगृहे प्रभुः समागात् । इतोऽकस्मादिक्षुरसभृतं कुम्भशतं केनचिद्राज्ञा श्रेयांसकुमाराय ढौकनीचक्रे । ततो निरवद्याहारं तमिक्षुरसं विज्ञाय समुल्लसदतीवभावः संयोजितकरकमलः प्रभुं प्रति श्रेयांसः प्राह । प्रभो ! प्रसारयाह्वाय करौ निस्तारयात्र माम् । द्वाचत्वारिंशदोपरहितमाहारं लाहि साम्प्रतम् । अत्र कविघटना । दक्षिणकरं भिक्षामगृह्णानं दृष्ट्वा प्रभुः प्राह—भो दक्षिण-कर कथं भिक्षां न गृह्णासि ? दक्षिणहस्तोऽवगृह्णन् अहं दातृहस्तस्याधः कथं भिक्षां गृह्णामि । यतः—“पूजाभोजनदानशान्तिककलापाणिग्रहस्थापना—चौक्षप्रेक्षणहस्तकार्पणमुखव्यापारबद्धस्त्वहम् । ततो वामो हस्तो जगौ—वामोऽहं रणसम्मुखाङ्कगणनावामाङ्गशय्यादिकृत्, द्यूतादिव्यसनी त्वसौ धनिगृहे गृह्णातु भिक्षामपि ॥ १ ॥ राज्यश्रीर्भवतार्जि-ताऽर्थनिवहस्त्यगैः कृतार्थीकृतः, सन्तुष्टोऽपि गृहाण दानमधुना तन्वन्द्यां दानिषु । इत्यब्दं प्रतिबोध्य दक्षिणकरं श्रेयांसतः कारयन्, प्रत्यग्रेक्षुरसेन पूर्णमृपभः पायात् स वः श्रीजिनः ॥ २ ॥ ” तदा जिनस्य पारणे जाते श्रेयांसस्य यशसा भुवनं पूर्णम् । भवनान्ङ्गणं सार्द्धद्वादशरत्नकोटिभिः परिपूर्णम् । धुटं च अहोदाणं, दिवाणि अ आहियाणि तूराणि । देवा वि य संनिहिया, वसुहारा चैव बुद्धी य ॥ २ ॥ भुवनं जसेण भयवं, रसेण भयणं पडिहत्थो । अप्पा निर-

वमसुक्खे, सुपत्तदाणं महग्घविअं ॥ ३ ॥ रिसहेससमं पत्तं, निरवज्जं इक्षुरससमं दाणं । सेयंससमो भावो, हविज्जं  
 जइ मग्गियं हुज्जा ॥ ४ ॥ इतः कच्छादयो भिक्षामलभमाना वनमध्ये तापसा जाताः, जटाधराभिधा अधुना निगद्यन्ते  
 लोकैः । तत्पुत्रौ नमिविनमी दूरगतत्वात् प्रमुदीक्षाग्रहणादनु समायतौ । भरतं सेवितुमनीहमानौ श्रीऋषभदेव-  
 पार्श्वे गत्वा प्रोचतुरिति—स्वामिन्नावां तव सेवकौ तेन भरतपार्श्वे किमपि राज्यादिकं न याचिष्यते आवाभ्याम् । यत्र  
 यत्र स्वामी पादौ धत्ते तत्र तत्र कण्टकादीन्यपसारयतस्तौ, यत्र प्रभुः कार्योत्सर्गे तिष्ठति तत्र तौ खड्गधरौ उभयतः पार्श्व-  
 योस्तिष्ठतः सेवयै, प्रातः कमलैः प्रभुं प्रपूज्य राज्यमावयोर्देहीति जल्पतः । ततो धरणेन्द्रस्तत्रागतोऽवक्—भो नमिवि-  
 नमी भवन्तौ राज्यार्थिनौ दृश्येते, प्रभुस्तु निर्ममो निर्द्रव्यश्च तेन भरतं राज्यं याचेथाम्, तावूचतुर्थदि प्रभुः राज्यं  
 दास्यति तदा ददातु नो चेदेवं तिष्ठावः आवाम्, ततस्तयोर्द्वेढां भक्तिं ज्ञात्वा धरणेन्द्रोऽतीव सन्तुष्टः सन् प्रभुमुखे-  
 ऽवतीर्थं प्राह—चलतं युवां वैताढ्ये राज्यं दास्यामि युवाभ्याम्, ततो द्वितीयं वृषभरूपं कृत्वा धरणेन्द्रो वैताढ्यं  
 गत्वा तयोर्दक्षिणश्रेण्युत्तरश्रेण्योरर्ज्यं ददौ, ४८ सहस्रं विद्याश्च वितीर्णवान् । उक्तं च—“मुणिणोऽवि तुह ह्ठीणा,  
 नमिविनमी खेहराहिवा जाया । गुरुआण चलणसेवा, न निप्फला होइ कइयावि ॥१॥ नमिविनमीणं भायाण, नागिंदो



विज्जदाणवेयङ्गे । उत्तरदाहिणसेठी, सङ्गी पन्नास नयराइ ॥२॥” अन्येद्युर्भगवान् विहरमाणो बहुलीदेशविभूषणस्य तक्ष-  
शिलापुरस्य बाहिरुधाने सन्ध्यायां समेत्य कार्थोत्सर्गे स्थितः । तदा पितुरागमनं ज्ञात्वा बाहुबलिर्ध्यातवान् । अधुना रात्रौ  
प्रायो वन्दनं मम न शोभते, प्रातर्विस्तरात् प्रभुं प्रणंस्यामि एवं ध्यात्वा प्रातर्विस्तरं कृत्वा यावत् प्रभुं नन्तुं याति बाहु-  
बलिः तावदितः पूर्वं प्रभुर्विहारं व्यधात् । बाहुबलिः प्रभुमदृष्ट्वा खिन्नः सन् रुरोदतमाम् । अलक्ष्यलक्ष्य ! क्व गतस्त्वम्,  
एकशो दर्शनं देहि । ततो मन्त्रिवचसा स्वस्थीभूय तत्र प्रभुपादुकायुक्तं स्तूपं महान्तं रत्नमयं कारयामास बाहुबलिः ।  
प्रभुरपि मौनावलम्बी वर्षसहस्रान्तो पुरिमतालपुरे शकटाह्वे वने कृताष्टमतपा वटवृक्षस्याधः स्थितः । फाल्गुनकृष्ण-  
कादश्यां उत्तराषाढानक्षत्रे प्रातः प्रभुः केवलज्ञानं प्राप । तत्क्षणादेव सर्वे सुरेन्द्रास्तत्र समेत्य समवसरणं रचयामा-  
सुर्यथाधिकारम्, ततो ‘नमो तित्थस्से’ति कृत्वा भगवान् सिंहासनमुपविष्टः । द्वादश वर्षदः उपविष्टाः, इतो भरत-  
स्यायुधशालायां चक्रत्नं समुत्पन्नम्, ततो द्वयोश्चक्रत्नप्रभुकेवलज्ञानोत्पत्त्योः वर्धोपनिष्ठा समकालं भरतात्रे  
समायाता । भरतो ध्यातवान्, प्रथमं चक्रपूजां करोमि अथवा युगादिदेवपूजां करोमि, एवं ध्यात्वा क्षणाद्भरतो दध्यौ  
भिग् मां यदेवं ध्यातं मया । यतः—“तायमि पूइए चक्कं, पूइयं पूअणरिहो ताओ । इह लोइयंमि चक्कं, परलोअसुहावओ

ताओ ॥ १ ॥ ” ततो मरुदेवीं पितामहीं पुत्रवियोगाश्रुजातनेत्रपटलां हरतिकुम्भस्थलमध्यारोप्य भरतः परमेश्वरं वन्दितुं  
 प्रतिचचाल । समवसरणं दृष्ट्वा भरतोऽवग-हे मातर्विलोक्य स्वपुत्रस्याद्भुतां विभूतिं शृणु च देवदुन्दुभिनिनादांश्च ।  
 एका तावत् स्वल्पा मम ऋद्धिः द्वितीया प्रभुता तव पुत्रस्य विभूतिः, द्वयोरंतरं मेरुसर्षपयोरिव हंसकाकयोरिव चिन्ता-  
 मणिकर्करयोरिव राजरङ्कयोरिव दृश्यते । ततो मरुदेवी देवदुन्दुभिशब्दं श्रुत्वा हर्षश्रुपतनादुत्तरितनेत्रपटला समव-  
 सरणं ददर्श । तत्क्षणात् सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं प्राप्यायुषः क्षयान्मुक्तिं गता । “ सूनुर्युगादीशसमो न विश्वे,  
 भ्रान्त्वा क्षितौ येन शरत्सहस्रम् । यदर्जितं केवलरत्नमग्र्यं, स्नेहात्तदेवापर्यत मातुराशु ॥ १ ॥ अतिसोहं जिने कुर्यात्,  
 त्यक्तं चेच्छक्यते न सः । यथा श्रीमरुदेव्याप, कुम्भिकुम्भस्थिता शिवम् ॥ २ ॥ ” तदा देवाः समेत्याग्निसंस्कार-  
 क्रियां व्यधुः । भरतः समवसरणे गत्वा प्रदक्षिणात्रयं दत्त्वा प्रभुं प्रणम्य धर्मं श्रोतुमुपविष्टः । प्रभुणेति धर्मोपदेशो  
 ददे शोकच्छिदे । संसारंमि समुदे, अणोरपारंमि दुल्लहं एअं । मणुअत्तजाणवत्तं, विसालकुलजाइदलकलियं ॥ १ ॥  
 निव्वाणपुरी चिह्दइ, भवपारावारारणसमत्था । ते न पवडंति जीवा, मुत्तुं मणुअत्तबोहित्थं ॥ २ ॥ लोभमूलानि पापानि,  
 रसमूलाश्च व्याधयः ॥ स्नेहमूलानि दुःखानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखीभव ॥ ३ ॥ संसारंमि असारे, नत्थि सुहं वाहिवे-

यणापल्लवे । जाणतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं ॥ ४ ॥ अथिरं जीयं रिद्धी च, चंचला जुव्वणं च खणसरिसं । पच्चक्खं पिरकंतो, तहवि य वंचिज्जए जीवो ॥ ५ ॥ अत्र मधुबिन्दु कथा ज्ञातव्या । धर्मोपदेशं श्रुत्वा भरतपुत्रः पुण्डरिको दीक्षां जग्राह । स च गणधरपदव्यां स्थापितः प्रभुणा । 'उष्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, 'धुवेइ वा' इति । अन्ये त्र्यशीतिः गणधराः स्थापिताः । तत्र भरतस्य पुत्रपञ्चशती दीक्षां जग्राह, नमृतसप्तशती व्रतं जग्राह, मरीचिः ब्राह्मी च संयमं जग्राह । पुण्डरीकाद्याः साधवः ब्राह्मणाद्याः साध्व्यो भरताद्याः श्राद्धाः सुन्दर्याद्याः श्राद्धयः इति चतुर्विधः श्रीसङ्घः । ततो भरतः प्रभुं प्रणम्य स्वगृहे गत्वा प्रभुं पूजयित्वा भक्त्या चायुधशालायां गत्वा चक्रत्नं पूजयामास भक्त्या । ततः शुभे दिने भूरिभिर्भूयैः सेव्यमानो भरतश्चक्रणोपदेश्यमानं मागधतीर्थसन्निधिं प्राप्य तत्र स्कन्धावारं स्थापितवान्, कृताष्टमतपाः तत्पारणके तु रथाधिरूढो भरतो नाभिदम्ने जले स्थित्वा स्वनामाङ्कितं बाणं मुमोच । भरतचक्रिनामाङ्कितं बाणं दृष्ट्वा मागधकुमारस्तत्राभ्येत्य किरीटकुण्डलादि प्राभृतं दत्तवान्, ततो जगौ-अहं तव सेवकोऽस्मि । ततस्तं स्वसेवकं मागधं कृत्वा स्वस्कन्धावारं प्राप्तवान् भरतः, अनेन विधिना दक्षिणवारिधौ वरदामं साधयामास भूपः । ततः पश्चिमपाथोनिधिस्वामिनं

पूर्ववत् प्रभासं सिन्धुदेवञ्च भरतः साधयामास, ततो वैताल्यस्य दक्षिणनितम्बे शिबिरं स्थापयामास । तत्र पूर्वरूढ्या  
 वैताल्यदेवमप्याराध्य तमिश्रागुहासमीपमाससाद, तद्गुहारक्षकं कृतमालं देवमाराध्य दक्षिणसिन्धुनिष्कुटं साधयितुं  
 सेनापतिं सुषेणाहं प्रेषयामास । ततः सकटकः स सुषेणो जलस्थलदुर्गनिवासिनः सिंहबर्बरादीन् म्लेच्छाधिपतीन्  
 निजाज्ञावशंवदान् कृत्वा तेषामुपायनान्यादाय स्वस्वामिपार्श्वे समागात् । अथ तमिश्रागुहोद्घाटनाय सप्रसादं देवं  
 भरत आराधयामास, तत्र गत्वा तमिश्रागुहाद्वारं दण्डरत्नेनोद्घाटयामास । चक्री करिरत्नमारुह्य तत्कुम्भे मणिरत्नं  
 निधाय गुहांतः सञ्चरन् द्वादशाश्रिणा द्वादशयोजनप्रकाशमयेन काकिणिरत्नेन गोमूत्रिकाक्रमात् गुहाभित्त्यो-  
 र्योजनान्ते योजनान्ते पञ्चधनुःशतायामानि एकोनपञ्चाशन्मण्डलानि तमश्छिदे भरतो व्यधात् । ततो  
 यत्र शिलाऽपि क्षिप्ता तरति-तुम्बीफलवत् सा उन्मग्ना नदी, यत्र क्षिप्तं तुम्बीफलमपि शिला-  
 वन्मज्जति सा निमग्ना नदी, ते द्वे तटिन्यौ वार्द्धकिमणिविहितया पद्यया सकटको भरत उत्तार । पञ्चा-  
 शत् योजनमानाया गुहाया बहिर्निर्गत्य तत्रस्थान् सर्वान् किरातादीन् रिपून् प्रबलानपि सेनापतिर्जिगाय । अथ तत्र  
 केचित् किराताः स्वगोत्रदेवीमाराध्य द्वादशयोजनमितामतीव वृष्टिं कारयामासुः । तज्जलोपद्रवरक्षणाय द्वादशयोज-

नायामे चर्मरत्ने शिबिरं निवेश्य तदुपरि तत्प्रमाणं छत्रं संनिवेश्य प्रकाशाय छत्रदण्डमूले मणिं निधाय च सप्त  
दिनानि यावत् चक्रिणा स्थितम् । ततो यदा सप्तदिनान्ते चर्मरत्नात् चक्रं निर्गतं तदा लोकैरुक्तम् । ब्रह्मत इदं  
अण्डं निर्गतं, इति प्रघोषो जातः । ततः क्षुद्रहिमवद्भिरनाथं संसाध्य पश्चात् भरतो चचाल । वैताल्याद्रिदक्षिणो-  
त्तरस्थौ नमिबिनमी द्वादशवर्षयुद्धविधानेन जिगाय भरतः । विनमिः—स्वां पुत्रीं सुभद्राभिधां दण्डदानपुरस्सरं भर-  
ताय ददौ । उत्पन्नवैराग्येण स्वपुत्रौ स्वपदे निवेश्य नमिबिनमी—श्रीऋषभपादान्ते प्रव्रज्यां ललतुः । ततो गङ्गातीरे  
आवासेषु दत्तेषु सुषेणेन सेनापतिना तदुत्तरतटे पूर्वरीत्या साधिते देव्याऽनुरक्तया समं चक्री वर्षसहस्रं रेमे । पश्चात्  
स्वपुत्रीं प्रत्यागच्छन् गङ्गातटे नवनिधानानि भरतः प्राप । तेषामेतानि नामानि—नैसर्प्य १ पाण्डुकश्चाथ २, पिङ्गलः  
३ सर्वरत्नकः ४ । महापद्मा ५ काल ६ महा—कालौ ७ माणवक ८ शङ्खुकौ ९ ॥ १ ॥ ते प्रत्येकं दैर्घ्येण द्वादशयो-  
जनानि विस्तरेण च, पत्न्योपमायुषः । ततश्चक्री महोत्सवपुरस्सरं स्वां राजधानीमयोध्यामाययौ । चक्ररत्नपूजापुर-  
स्सरं भरतस्य च द्वादशवर्षाणि राज्याभिषेकः कृतः । एवंविधा विभूतिरभूद्भरतस्य—चतुर्षष्टिसहस्रा अंतःपुर्यः, सपादलक्ष-  
पिण्डविलासाः, चतुरशीतिलक्षाः प्रत्येकं गजतुरङ्गमरथाः, ९६ कोटिपत्तयः ग्रामाश्चैतावन्तः, ७२ सहस्रपुरवराः,

३६३ सूपकाराः, १८ श्रेणयः अनेके व्यवहारिणः, इत्यादिऋद्धिः, षष्टिवर्षसहस्रैः सर्वा दिशश्चक्रिणा साधिताः । कदाचित्  
 सुन्दरीं भगिनीं कुशाङ्गीं दृष्ट्वा तस्याः परिवारो भरतेन दुर्बलकारणं पृष्टोऽवग-युष्माकं दिग्यात्राचलनादनु अनया  
 आचाम्लान्येव क्रियमाणानि सन्ति, षष्टिवर्षसहस्राणि जातान्यस्यास्तपस्तपन्त्याः । प्रभुणा युगलधर्मे निषिद्धेऽपि स्व-  
 सौन्दर्यं सोदरस्य मोहजनकं (च) विमृशन्ति तन्निग्रहाय सा सती सुन्दरी तपश्चकार । अहो नाभयवंशेऽस्मिन्, धर्मो-  
 धिक्यमनर्गलम् । यत्तद्विधेन तपसा, बाल्येऽरमत सुन्दरी ॥ १ ॥ समुद्धाराशु तपःकृशाऽपि, मोहाम्बुराशौ भरतं  
 निमग्नम् । महीभृतं शीलगुणेन तेन, बलीयसी बाहुबलेः स्वसाऽपि ॥ २ ॥ अथ भरतेन क्षमयित्वा, विसृष्टा सुन्दरी  
 श्रीऋषभपार्श्वे दीक्षां जग्राह । अथ चक्रत्ने आयुधशालायामप्रविशति मन्त्री भरतेन पृष्टश्चक्रत्नस्यायुधशालाया-  
 मप्रवेशहेतुं प्राह—भवतो बाहुबलिभ्राता सेवां कर्तुमागतो नास्ति, तेनेदं चक्रत्नमायुधशालां न प्रविशति । ततो  
 भरतेन प्रेषितो दूतो बाहुबलिपार्श्वे गत्वा जगाद—भवतो भ्राता भरतः षट्खण्डं साधयित्वा स्वपुरं प्राप्तोऽस्ति ।  
 अन्येषां राज्ञां गजतुरङ्गमादिदेशदानान्मनांसि तोषयामास भरतः । त्वं नागाः, आतुर्मिलनार्थमपि । त्वमपि तत्रा-  
 गच्छ भूरिदेशादि दास्यति भ्राता । बाहुबलिः प्राह—कः कस्य भ्राता । अहमपि यदि तस्य भ्रातुः सेवां करिष्ये तदा

मम सर्वस्वं गतम् । ममासौ देशस्तु तातेनार्पितोऽस्ति । अस्मिन् देशे भरतस्य का तृप्तिः ? दूतोऽवग-एवं वक्तुं न युज्यते भवतोऽधुना गजाश्वरथपत्न्यादिभिः स तव आता बलिष्ठो विद्यतेतराम् । यदि त्वं तत्र समेष्यसि तदा तुभ्यं बहून् देशान् दास्यति । यदि त्वं न तत्रैष्यसि सोऽत्र समेष्यति तदा त्वां हत्वा देशं ग्रहीष्यति अधुना तव तस्य सेवां कर्तुमवसरोऽस्ति, बलिष्ठो विद्यते । बाहुबलिर्जगौ-यदाहं भरतेन समं रममाणो गङ्गातीरे भरतमुत्पाट्य हस्तेन नभसि दूरं क्षिप्त्वा पुनस्तं पतन्तं स्वहस्तेनाधारिष्यं तत्तस्य किं विस्मृतम् । एवं मया तत्र पूर्वं भरतो बहुशो जितः । अधुना किं असौ आत्मीयं बलं ज्ञापयति । दूतोऽवग-यस्य सेनया चलन्त्याधुना पृथ्वी कम्पते शेषोऽपि कम्पते तीव्रभारत्वात्, वैताढ्यपर्वतवासिनमिविद्याधरमागधादिबहून् बलिष्ठान् स साधयामास । ततो दूत एवं जल्पन् हक्कितो बाहुबलिना । ततो दूतो भरतपार्श्वं गत्वा सर्वं बाहुबल्युक्तं जगाद । ततो भरतः संनह्य चचाल यदा तदा बहवोऽपशकुना बभूवुः, पश्चाच्छकुना वर्या बभूवुः । भरतो बहुलीदेशे गत्वा तक्षशिलां वेषयित्वा स्थितः । इतो बाहुबलिः सभायामुपविष्टोऽन्यचक्रं समागतं श्रुत्वा मनसि किमपि भयं नानैषीत् । यदा बाहुबलिर्युद्धाय निर्गतः, तदा सुमतिसागरमन्त्री प्राह-एवमकस्माद्रणं कर्तुं न युज्यते पश्चादपसार्य चमूं भुक्त्वा पश्चात् सङ्ग्रामः क्रियते । ततः

पश्चाच्चमूपसार्य श्रीऋषभदेवस्य पूजां कृत्वा सर्वैः पत्तिभिः समं भुक्तवान् भरतः । ततो द्वादशवर्षाणि युद्धं भरत बाहु-  
 बल्योरभूत् । एकोऽपि द्वयोर्मध्ये न भनक्ति । यदा तदा बहुजीवसंहारं दृष्ट्वा शक्रोऽभ्येत्य द्वयोरग्रे ग्राह एवं भवतो-  
 र्युद्धं बहुसंहारकारकं कर्तुं न युज्यते, मिथः युवां युद्धं कुरुत । प्रथमं दृष्टियुद्धे भरतेन हारितं बाहुबलिना जितम्,  
 देवैः पुष्पवृष्टिर्बाहुबलैर्मस्तकस्योपरि कृता । इत्यादिदृष्ट्यादियुद्धे जायमाने भरतेन हारितम् । उक्तं च—“ पठमं द्विही-  
 युद्धं वायायुद्धं तर्हेव बाहाहिं । मुहीहि य दंडेहि य, सव्वत्थ विजिप्पए भरहो ॥ १ ॥ ” ततो भरतेन चक्रं मुक्तं  
 बाहुबलिं हन्तुम्, चक्रमपि बाहुबलिं प्रदक्षिणीकृत्य हस्ते उपविष्टम् । बाहुबलिरवगू भो भरत ! इदं चक्रं चूर्णीकरोमि  
 त्वया सह परं किं क्रियते त्वं तु आता ज्येष्ठोऽसि । चक्रं मयेदं पश्चात् प्रेष्यमाणमस्ति । या तव शक्तिः स्यात् सा करिष्य-  
 ताम् । ततो बाहुबलिना प्रेषितं चक्रं भरतपार्श्वे गतम् । मन्त्री जगौ एकस्मिन् गोत्रे चक्रं न प्रभवति, ततो भरतेन  
 मुष्टिना बाहुबलिर्मस्तके आहतो जङ्घां यावद्धूमौ गतः, बाहुबलिना (ऽपि भरतस्य मारणाय मुष्टिरुत्पाटिस्ततो) ध्यातं  
 मया मुष्टिरुत्पाटितो निष्फलो मा भवतु, तेन मे मस्तकस्योपरि मुच्यते लोचकरणेन । संसारश्चासारोऽसौ यदि आता  
 एवंविधमकृत्यं करोति, तदा कस्य दोषो दीयते, ततः स्वयमेव पञ्चमुष्ट्या लोचं कृत्वा आत्मानं व्युत्सृजामीत्युक्त्वा,



कायोत्सर्गे तस्थौ बाहुबलिः । दध्यौ च बाहुबलिः—मम पूर्वं अष्टानवतिभ्रातरो व्रतं ललुः । यदि केवलज्ञानं विना तत्र भगवतः समीपे गम्यते मया तदा ते लघवोऽपि भ्रातरो लब्धकेवलज्ञाना नम्यन्ते इति मत्वा मौनी बभूव । भरतस्तत्रैतस्य, पदयोर्लङ्गित्वा भो भ्रातर्मुञ्च मौनं राज्यमङ्गीकुरु बाहुबलिं क्षमयित्वा भरतः प्राह—अहं त्वभाग्यवानस्मि । यत्त्वं मया कटकवधकरणादिना खेदितोऽसि । ततो भरतः तस्य बाहुबलेः पुत्राय सोमाय राज्यं वित्तिर्यं, स्वपार्श्वत्वं हितबुद्ध्याऽधिकराज्यग्रामदानात् प्रमोदयामास । ततो भरतः स्वपुरमभ्येत्य द्वादशवर्षीयराज्याभिषेकं स्वस्मिन् कारयामास । इतो बाहुबलेः कायोत्सर्गस्थस्य वर्षं जातं विनाऽशनादिना । इतः श्रीनाभेयेन ब्राह्मीसुन्दर्यौ बाहुबलि-प्रतिबोधाय प्रेषिते । ताभ्यां तत्राभ्येत्योक्तम् । ‘हत्थीउ उत्तर भाय’ । इति श्रुत्वा बाहुबलिर्दध्यौ । वर्षं जातं ममात्र स्थितस्य हस्त्यारोहणं विना । ततो निजभगिन्योः शब्दमुपलक्ष्य बाहुबलिर्दध्यौ मानगजमहमारूढोऽस्मीति ज्ञापयितुमिहागते स्तो भगिन्यौ । ततो मानं मुक्त्वा यावच्चलितुं पादौ दत्ते तावत् सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं प्राप । ततो नाभेयपर्षदि गत्वा, परमेश्वरं प्रदक्षिणीकृत्य, केवलपर्षदि उपविष्टो बाहुबलिः । उक्तञ्च “ कियन्तो बहिरङ्गा-श्चान्तराश्च षडपि द्विषः । तपसा तीव्रतीव्रेण, यत्नेनाशु विजिग्यिरे ॥ १ ॥ नासीरवीरभरतं समरेऽचिरेण, यो हेलयैव

जितवानपि मोहराजम् । ज्ञानश्रियः सपदि संघटनैकहेतु-वीरः स बाहुबलिरिव मुदं तनोतु ॥ २ ॥ भग्ने श्रीभरते स्व-  
पत्तिसदृशैराजन्मपुष्टैर्मदै-स्तद्वैरादिव निर्जितं विगणयन् स्वं श्रीसुनन्दाङ्गजः । हत्वा तान् जिनवाक्यशाणकषणात्ती-  
क्षणेन बोधासिना, वीराणामथ पूर्वैकेवलभृतां मुक्तिं गुणैर्लब्धवान् ॥ ३ ॥ हेतोः केवलसम्पदः किल तपस्यन्तं जिनोक्ते-  
क्षणे, श्रीमद्बाहुबलिं समेत्य मुदिता ब्राह्मीयुता सुंदरी । वल्लीव्यूहविमूर्षितं मुनिवरं दर्पेभकुम्भस्थला-दुत्तार्यथ तपो-  
वशंवदतमामुद्राहयामास ताम् ॥ ४ ॥ अथ कदाचित् पञ्चभिः शकटशतैरन्नभृतैः ऋषभदेवपार्श्वे गत्वा भरतोऽ-  
वगु-स्वामिन्नद्यान्नदानग्रहणेन मामनुगृहाण । ऋषभोऽवगु-छत्रधरराज्ञामाहारः साधूनामधुना न कल्पते, तेन भवता  
साधर्मिकाणां धर्मतत्पराणामन्नं देयम् । ततो भरतेन ये ये धर्मिष्ठाः श्राद्धा ब्रह्मव्रतधारिणो भवन्ति, ते ते स्वगृहे  
भोज्यन्तेस्म । अथ सुपकारेण विज्ञप्तं स्वामिन् ! बहवो ब्रह्मचारिणो भोक्तुमायान्ति तेनास्माभिरन्नं दातुं तेभ्यो न  
शक्यते । ततो भरतेन ये ये ज्ञानदर्शनचारित्रस्वरूपं जानन्ति, तेषां काकिणीरत्नेन कण्ठे रेखात्रयं कारितमभि-  
ज्ञानार्थम्, ये नवतत्त्वविदस्तेषां नव, क्रमात्तेषां यज्ञोपवीतं जातम् । अन्येद्युर्भरतेनोक्तम्-भगवन् ! भवतुल्याः  
कियन्तोऽहन्तो भविष्यन्ति ? प्रभुः प्राह-होही अजिओ संभव-अभिनंदणसुमइसुप्पभसुपासो । ससिपुण्णदंतसीयल-

सिज्जंसो वासुपुज्जो अ ॥ १ ॥ विमलमणंतयधम्मो, संती कुंयू अरो अ मल्ली य । मुणिसुव्वयनमिनेमी, पासो तह वद्धमाणो अ ॥ २ ॥ अस्यां पर्षदि कोऽप्यस्ति ? योऽग्रे भवत्तुल्यस्तीर्थकुट्टभवति ? युगादिदेवो जगौ-यो भवतः पुत्रो मरीचिः, प्रासचारित्रोऽधुना परीषहानसहमानः जलखानं मस्तकोपरि छत्रधारणोपानत्परिधानादिप्रमादपरो विद्यते पर्षदो बहिस्तात् । सोऽग्रे अस्यां चतुर्विंशतौ प्रथमो वासुदेवस्त्रिपृष्ठनामा भविष्यति । महाविदेहे मूकायां पुरि चक्री, भरते चास्मिन्नेव चतुर्विंशतितमो वीरनामा जिनश्च भविष्यति । ततो भरतो हृष्टो झटिति उत्थाय तत्र गत्वा तं मरीचिं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य ग्राह-भवान् त्रिपृष्ठो नाम वासुदेवो, मूकायां चक्री, अस्मिन्नेव भरते चतुर्विंशतितमो वीरो जिनो भविष्यति, तेनाहं तुभ्यं वन्दमानोऽस्मि, एवमुक्त्या मरीचिं नत्वा स्तुत्वा च भरतः पुरीमध्ये गतः । तद्वचनं श्रुत्वा मरीचिः ग्राह-अहो मदीयं कुलमुत्तमं, यतो मे पितामहो युगादीशः, पिता तु भरतः, अहं च क्रमात्सार्व-भौमः, अत्र चान्तिमो वीरजिनेन्द्रो भविष्याम्यहमेव । एवं जल्पनेन तेन मरीचिना नीचगोत्रकर्माजितम् । यतः ॥

“जातिलाभकुलैर्धर्य-त्रलरूपतपःश्रुतैः । कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥ १ ॥” ऋषभदेवस्य प्रथमो गणधरः पुण्डरीकाभिधश्चैत्रशुद्धपूर्णिमायां पञ्चकोटियतियुतो विमलगिरौ मुक्तिमगात् । ततो भरतेन तत्राम्येत्य श्री-

ऋषभदेवस्य पुण्डरीकस्य च शरीरमानप्रमाणाः काञ्चनबलानकस्थाः कारिताः । एकः प्रासादो महान् शत्रुञ्जयशिखरे च  
 श्रीयुगादिदेवपुण्डरीकप्रतिमायुतः कारितश्च । श्रीऋषभदेवः श्रीशत्रुञ्जये बहुशो वारान् समागतः उक्तञ्च—  
 “ नवनवई पुवाइं, विहरंतो आगओ सि संचुंजे । उसभो सुरेहि सहिओ, समोसठो पढमतित्थंमि ॥१॥ ” चतुर्विधं  
 श्रीसंघं स्थापयित्वा विंशतिपूर्वलक्षाणि कौमारपदव्यां त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि राज्यपदव्यां च स्थित्वा एकं पूर्वलक्षं आमण्यं  
 पालयित्वा समस्तक्षीणायुष्कर्मा सर्वायुः प्रपाल्य निर्वाणकल्याणकं स्वं ज्ञात्वा दशसहस्रयतियुतोऽष्टापदगिरौ  
 चतुर्दशभक्तेन गृहीतानशनः आसनकम्पात् समागतसौधमेन्द्रादिचतुःषष्टिशक्रः श्रीभरते तत्र समेते अव-  
 सर्पिण्यास्तृतीयारकस्य एकोननवतौ पक्षेषु शेषेषु माघकृष्णत्रयोदश्यां अभिजिन्नक्षत्रे क्षीणभवोपग्राहिकर्मा पर्यङ्कासन-  
 समासीनो लोकाग्रं मुक्तिमङ्गीचकार । तदानीमशेषाः साधवः क्षीणकर्माष्टका मुक्तिं ययुः । अथ देवैः प्राच्यां दिशि  
 गोशीर्षिचन्दनेन चिता चक्रे प्रभोः । ऐक्ष्वाकुमुनीनां दक्षिणस्यां दिशि त्र्यम्बा, शेषमुनिवराणां पश्चिमस्यां दिशि चतुरस्त्रा  
 चक्रे । इत्थं संस्कारादनु तद्भस्म सुरैर्नरैश्च ववन्दे । ततोऽभिन्नयं तत्र गृहीतं ब्रह्मचारिभिः तदद्यापि ब्राह्मणगृहेषु  
 पूज्यमानमस्ति । देवेषु स्वस्थाने गतेषु क्रमाद् भरतः श्रीऋषभदेवनिर्वाणगमनस्थाने सिंहनिपिद्याकारं प्रासादं कार-

यित्वा स्वस्वशरीरमानप्रमाणाश्चतुर्विंशतिर्जिनप्रातिमा दक्षिणस्यां ४, पश्चिमायां ८, उत्तरस्यां १०, पूर्वस्यां २, स्थापयामास ।  
तीर्थरक्षानिमित्तं दण्डरत्नेन शिखराणि उच्छेद्य योजनप्रमाणानि सोपानानि चक्रे । तत्र पूजामहिमादिकृत्य निर्माय  
श्रीभरतोऽयोध्यां प्राविशत् । तस्य राज्ञोऽन्येद्युरन्तःपुरस्थस्य सर्वाभरणभूषितशरीरस्य पुरुषप्रमाणात्मादर्शमुपनिवान्  
सेवकः, तदानीमादर्शमध्ये स्वदेहं विभूषणभूषितं पश्यतोऽक्रमान् मुद्रिकाऽङ्गुलीतः पपात । तदा मुद्रिकां विना कृतं  
हस्तं वीक्ष्य निःश्रीकं देहात् मुकुटकुण्डलादीन्याभरणान्युत्तारयामास । ततो देहं समग्रं निःशोभमङ्गारसदृशं दृष्ट्वा  
भावनां भावयामास, ततोऽनित्यादिभावना भावयन् केवलज्ञानं प्राप । देहं समग्रमभवद्भरतेश्वरस्य, रूपावलोकन-  
विधौ मणिदर्पणस्य । आत्मानमात्मनि मनीषितया दिदृक्षो-स्तत्त्वप्रकाशविमलं परमात्मरूपम् ॥ १ ॥ राज्ञां दशभिः  
सहस्रैः गृहीतव्रतैरनुगम्यमानः पूर्वलक्षं यावत् भुवि विहृत्य भव्यजीवान् प्रबोध्य अष्टापदगिरौ मासं यावदनशनीभूय  
मुक्तिमासमाद भरतेश्वरः । भरतसूनुः सूर्ययशः स्वयं शक्रेणाभ्यसिच्यत । बाहुबलिः क्षीणकर्मा मुक्तिं गतः । ब्राह्मी-  
सुन्दर्यौ मुक्तिं गते । एतेषां निर्वाणगमनमहिमा देवैरभ्येत्य कृतः । इति श्री भरतबाहुबलिकथा समाप्ता ॥

औत्पत्यादिधियां योगा-दभयो मन्त्रिनायकः । मुक्तिं ययौ पुरा प्राप्य, विशुद्धां संयमाश्रयम् ॥१॥

अतोऽभयकुमारस्योत्पत्तिस्वरूपं मुक्तिपर्यन्तं व्याख्यायते । तथाहि-जम्बूद्वीपे लक्ष्योजनप्रमाणे दक्षिणस्यां दिशि भरतखण्डमध्यस्थमगधदेशो विराजते । तत्र राजगृहं नाम पुरं नवद्वादशयोजनप्रमाणनानाप्रकार-मणिमुक्ताफलप्रवालादिवस्तुपरितं विभासतेतराम् । तत्रासन्नप्रदेशे दक्षिणभागे गङ्गानदी वहते । तत्र वैभारगिरि-नामा पर्वतो विद्यते । राजगृहे पुरेऽनेकमहेभ्योच्चतरगृहजिनप्रासादान् वीक्ष्य केषां न मुद् प्रजायते ? अपि च सर्वेषाम् । तत्र क्रमात् प्रबलवैरिकुञ्जरकेसरी न्यायसागरसमुच्छासनचन्द्रमाः प्रसेनजितमहीपालो राज्यं करोतिस्म । वप्र उच्चैस्तरो नगैरं परितः कुण्डलीव निधानपरितः शोभते । तत्र तस्य राज्ञो राज्ञीनां शतमभूत् । तासां मुख्या कलावती । श्रेणिककुमारप्रभृतिपुत्राणां शतमासीत् । सर्वेऽपि पुत्राः शस्त्रशास्त्रकलाः पाठिताः पित्रा । यतः-  
“ प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये नार्जितो धर्म-श्चतुर्थे किं करिष्यति ॥ १ ॥ जायंमि जीव-  
लोए, दो चेव नरेण सिबिखअव्वाइं । कम्मेण जेण जीवइ, जेण मुओ सुहगइं जाइ ॥ २ ॥ अन्येद्युर्मूपतिश्चिते, चिन्त-

यामासिवानिति । सर्वे पुत्रा अमी तुल्य-बला विद्याविशारदाः ॥ ३ ॥ न परीक्षां विना राज्य-योग्यो हि ज्ञायते सुतः । प्रजाया वल्लभो बुद्धि-युक्तो विनीतमानसः ॥ ४ ॥ राज्ययोग्यो भवेत् पुत्रस्तेन कार्यं परीक्षणम् । ” यतः—“ ताते जीवति यदि तातः परीक्षां कृत्वा मर्यादया पुत्रान् न स्थापयामास तदा पितरि मृते बलोत्कटाः पुत्रा मिथो युद्ध्वा युद्ध्वा म्रियन्ते, राज्यं चान्यत्र याति । यतः—“ देहे नष्टे कुतो बुद्धि-बुद्धिहीने कुतः स्मृतिः । स्मृति-हीने कुतो ज्ञानं, ज्ञानहीने कुतो गतिः ॥ १ ॥ ” त्रिमृश्येति राज्ञा वर्यं पक्वान्नं कारयित्वा चोच्छ्रका वंशमया भरिताः अपवरकमध्ये ते मोचिताः, कोरकाः कुम्भा जलभृतास्तत्र मोचिताः भूषेन, ततः सर्वान् पुत्रान् गर्भगृहे मुक्त्वा भूपः प्राह—भो पुत्राः भवद्भिश्चोल्लकानां [ करण्डकानां च ] जलकुम्भानां च मुखं नोद्धाटनीयं तृप्तेर्भवित-व्यम्, बुद्ध्या स्वकीयया करण्डकमध्यगं पक्वान्नादि भोज्यं, उद्धाटनं विना जलकुम्भेषु नीरं च पेयम् । श्रेणि-कादयः कुमाराः स्वस्वबुद्ध्या चिन्तयन्ति स्म जल्पन्तिस्म च कथं भोक्ष्यते कथं पितुराज्ञा अखण्डा स्यात् कस्यापि बुद्धिर्नोपपद्यते, तदा सर्वान् सहोदरान् बुभुक्षया पीडितान् वीक्ष्य श्रेणिककुमार आचष्ट—मम बुद्धिं यदि कुरुत यूयं, तदा तृप्ता भविष्यथ । सर्वे सहोदरा जगुः—यदि नस्तृप्तिर्भवति तदा वरम् । श्रेणिकः सर्वेषां स्वच्छानि स्वच्छानि-

वस्त्राणि गृहीत्वा जलकुम्भानां परितो वेष्टयन्, ततः करण्डकान् धूनयित्वा धूनयित्वा पक्वान्नचूर्णं पतितं पतितं  
खादं खादं कोरकघटवेष्टितवस्त्राणि मर्दयित्वा तद्गलितं जलं पायं पायं तृप्ताः सर्वे कुमारः बभूवुः ।  
ततोऽखिलाः कुमारः राज्ञः पार्श्वे समेताः । पृष्टं च भूपेन कथं सर्वे तृप्ता जाताः । एकेन पुत्रेणोक्तम्,  
श्रेणिकबुद्ध्या । ततो राजाऽवगृह्य यस्यैवंविधा धीरुत्पन्ना, स रङ्गः एव खज्जकचूर्णकरणात्, ततः प्रसेनजितभूपः  
पायसं कारयित्वा सर्वेषां पुत्राणामग्रे अमन्त्राणि सण्डयित्वा क्षैरेयीं परिवेष्य च तत्कालं सारमेयान्  
बुभुक्षितान् मोचयामास । कुमारः तां यावद्भक्षयन्ति तावत् सारमेया दुर्धुरशब्दं कुर्वन्तः क्षैरेयीं भक्षयितुं कुमारभाजनेषु  
आगताः, ततः सर्वे कुमारः खरण्डितहस्ता भयभीताः श्रेणिकं विना भाजनानि मुक्त्वा नष्टा दिशोदिशं ।  
श्रेणिकस्तु निर्भयीभूय कुमारानां सहोदराणां भाजनानि सारमेयसंमुखं चिक्षेप । सारमेयास्तु खरण्डितेषु खर-  
ण्डितेषु भाजनेषु स्थिताः पुच्छानि चालयन्तः कुमारस्य दासा इव जाताः । ततः श्रेणिकः समाधिना स्वभाजनस्थां  
क्षैरेयीं मुक्त्वा, तृतीभूय चाचमनं गृहीत्वा राज्ञः समीपे गतः । परेऽप्यायाताः कुमारः । राजा श्रेणिकं तृतीभूतमप-  
रान् बुभुक्षामाशुष्काननान् दृष्ट्वा तप्तं श्रेणिकं [जगौ । ततः] कृत्रिमां भुङ्कता [राजा] प्राह—श्रेणिकोऽयं सारमेय-



पङ्क्तिषु जिजेम येन, तेनायं तत्कल्पो जातः । ग्रामीणजनगोपालतुल्योऽसौ येनानेन एवाविधं भोजनं कृतम् । यस्य पङ्क्तिषु यो जेमति स तादृश एवोच्यते जनैः । एते कुमारः पवित्राः, ततस्ते हृष्टाः । श्रेणिकस्य मनसि खेदो नाभून् मनागपि । प्रसेनजितभूपः प्राह—धनवलगृहे ज्वलति त्वं मयाऽग्रे परीक्षितः इति, हीरान् मणीन् मुक्ताफलानि मुक्त्वा भग्मभाण्डां वादित्रं च गृहीत्वा निर्ययौ तस्माद् गृहात्, तेन त्वं इमां भग्मां गृहीत्वा गच्छ गृहे गृहे वादय उदरभरिरसि । अथ राजकुमारा यद्यन्मुञ्चन्ति, तत्तत्त्वं भक्षयाग्रे । यदि त्वमेतदपि जानीहि, तदा त्वं दक्षस्तवाज्ञा । इति शब्दच्छलेन तस्य राज्यं ज्ञापितं पित्रा । सर्वेषां पुत्राणां यथायोग्यं ग्रामान् विभज्य राजार्पयामास । अपरे पुत्रा हस्तिघोटकरथपत्न्यादिसङ्ग्रहं कुर्वते, एषः श्रेणिककुमारः केषाञ्चित् घोटकादीनामपि सङ्ग्रहं न करोति, अनेन सारमेयैः समं भाक्षितं परमान्नं, पक्वान्नं चूर्णीकृतं, प्रदीपने ज्वलति भग्मा एव गृहीतास्ति, तेनासावधुना राज्ययोग्यो नास्ति । वाणिगिव बह्वमुष्टिः किमपि न व्ययति, इत्युक्ते पित्रा श्रेणिकः कुमारः एकाकी रात्रौ विदेशं प्रतिचचाल स्कन्धे खड्गं दधानः । श्रेणिक औषधमन्त्रतन्त्रादिप्रयोगं जानाति । षट्त्रिंशद्वण्डायुधश्रमकरणकुशलः उदयमानान्हुतकर्मा निर्भयः सन् सिंह इव वने

चचार श्रेणिकः । आमं आमं सुवं बह्वीं, कुमारः श्रेणिकः क्रमात् । वज्राकरं महाशैलं, ददर्श मुदिताशयः ॥ १ ॥  
 श्रेणिकस्य कुमारस्य तत्रस्थस्य वज्राकरगिरिसमधिष्ठायकदेवो भाग्यं महत्तमं वीक्ष्य रात्रौ स्वप्नछलेनेदं प्राह—हे कुमार !  
 पिप्पलयुगलं हस्तमेलापकाकारं बृहच्छाखं सुरनदीतीरे समस्ति । इतो गव्यूतान्ते तयोर्मध्ये शाखायामेको महान्  
 धवलप्रस्तरोऽस्ति । तस्य प्रस्तरस्य गुणा मेरुतुल्याः सन्ति । तस्य मध्ये अष्टादश महाप्रभावाणि रत्नानि एकैकोपरि  
 सन्ति । तथाहि—एकेन अष्टादश वर्णा वशीभवन्ति १ एकेन रत्नेन सर्वाणि विषाणि उत्तरन्ति २ एकेन राजामात्य-  
 महेभ्यादयो मानं ददते ३ एकेन ऋद्धियुक्तं सन्तानं भवति ४ एकेन दिव्यभोगाः स्युः ५ एकेन जलपूरस्तीर्यते ६  
 एकेन विवेक उत्पद्यते ७ एकेन क्षुद्रोपद्रवा न भवन्ति ८ एकेन शरीरे घातो न लगति ९ एकेन पठितं विना  
 विद्या समेति १० एकेन अनीकबन्धो भवति ११ एकेन जात्यन्धा अपि जनाः पश्यन्ति पुरस्थितम् । १२ एकेन  
 पावकोऽङ्गं न दहति १३ एकेन वस्तुपरीक्षा ज्ञायते १४ एकेन बुभुक्षातृषे न लगतः १५ एकेन मार्गे गच्छतां नृणां  
 व्याघ्रासिंहादयो दुष्टा जीवा न मीलन्ति १६ एकेन रूपपरावर्तो भवति १७ एकेन देहाद्रोगा गच्छन्ति लोकान् भवन्ति सर्वे १८  
 त्वमसि दक्षः, एष पाषाणस्त्वया विलोकनीयः । अष्टादश रत्नानि गृहीत्वा अक्षराणि लिखित्वा आत्मनः पार्श्वे

स्थापनीयानि च । पूजा कर्तव्या तेषां मदीयं नाम चित्ते धरणीयम् । त्वं तत्र यावद् गच्छसि छायायां विश्रामं  
यावच्च करिष्यसि, तावत् पाषाणोऽपि विकाशं गमिष्यति । यस्य यः प्रभावो मया प्रोक्तोऽस्ति स सत्यस्त्वया ज्ञातव्यः ।  
तव भाग्यं वर्द्धमानं वीक्ष्योक्तं मयैतत् । एतेषां रत्नानां विंशतिवर्षाणि यावन्महान् प्रभावो भविष्यति । ततः परं  
महत्तमोत्तमः प्रभावो भविष्यति । एवंविधं स्वप्नं वीक्ष्य यावज्जागर्ति कुमारः, तावत् प्रातर्जातम् । पञ्चपरमेष्ठि-  
नमस्कारशतत्रयं गणयित्वा स्वप्नस्वरूपं हृदि चिन्तयन् चचाल कुमारः । देवोक्तानुसारेणाचलत् कुमारः श्रेणिकः ।  
नदीतीरे हस्तमेलापकाकारौ महीरुहौ ददर्श । तयोर्मध्ये महान् धवलप्रस्तरो दृष्टः पूजितः श्रेणिकेन । ततः  
एकतः पार्श्वे यावदुपविष्टः, तावत्तयोर्वृक्षयोर्मध्यात् प्रस्तरः पतन् सन् श्रेणिकेन गृहीतो हस्ते । सर्वेषां रत्नानां  
प्रभावचिन्हानि कृत्वा शनैः शनैरग्रतश्चचाल । यतः—“सुराज्यं सम्पदो भोगाः, कुले जन्म सुरूपता । पाण्डित्य-  
मायुरारोग्यं, धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥१॥” पथि गच्छन् श्रेणिकोऽन्येद्युः नद्या उपकण्ठे चम्पकाशोकपुञ्जागमाकन्दराजाद-  
नप्रभृतितरून् पुष्पफलशालिनो ददर्श । ये ये वर्या वृक्षा उपलक्षिता भवन्ति, तेषां तेषां वृक्षाणां मृष्टानि फलान्यास्वा-  
दमानो मृगादिभिः सह क्रीडां कुर्वन्तो नद्यादिस्वच्छप्रवाहेषु जलं पिबन् चचाल । मृदुपत्रनिष्पादितशय्यासु रात्रौ स्वपिति

श्रेणिकः । पर्वतशिखरतः प्रवाहानुत्तरतः प्रेक्ष्य मयूरान् नृत्यतश्च जहर्ष श्रेणिकः । पल्लीमध्ये चलन् राज्यगृहनिवासादधिकं  
सुखं मन्यतेरम । गच्छत एकाकिनो वने अकस्माद् भिछपुत्री कुमारिका दृष्टिपथमवतीर्णा । भिछिका श्रेणिकं देवकुमारतुल्य-  
मागच्छन्तमालोक्य नूपुरनिनादपूरितदिगन्तराला मयूरपिच्छनिर्मापितचरणसालंकृतगात्रा हर्षोत्कर्षपूर्णस्वान्ता चलन्ती  
क्रममाणा गजगत्या शनैः भिछिका कुमारी मुमुदे चन्द्रमिव चकोरीका । पर्वतशिखरादुत्तरन्ती श्रेणिकसमीपमागता  
भिछिका जगाविति । अथ मम जन्म कुतार्थमजनि । यत् त्वमेवंविधस्तरुणो रूपवान् वरो लब्धः । तव शरणमागतास्मि ।  
तिष्ठ तिष्ठ स्वामिन् प्रसादं कृत्वा ममोपरि । पल्ल्यामस्यां मदीयः पिता राजास्ति । मां यदि त्वं परिणेष्यसि तदा मत्पिता  
त्वां देशाधिपं कृत्वा स्थापयिष्यति । यदि मदीयं कथितं नैव करिष्यसि तदा त्वमकाले मृतिं गमिष्यसि । यानि यानि  
औषधानि मणिमन्त्रतन्त्रप्रभावाश्च वर्तन्ते तानि सर्वाणि जानाम्यहम् । एकमौषधमस्ति ममेदृशं येन मनुष्योऽपि पशु-  
र्भवति पशुरपि मनुष्यः स्यात् । एकेन मनुष्यो मर्कटो भूत्वा पदे पदे लगन् चलति । एकेन मर्कटोऽपि मनुष्यो भवति ।  
अहं वृक्षान् प्रति पादौ मुञ्चन्ती अन्येषां जनानां मद्वनभीष्टानां हस्तपादं भिनद्धि । अहं व्याघ्रासिंहभ्योऽपि न बिभेमि ।  
वनमध्ये चलन्ती न बिभेमि, भूतप्रेतपिशाचेभ्योऽपि न बिभेमि । अहं चौरसर्पादिभ्योऽपि न बिभेमि । ममोपान्ते सन्ति

सङ्केताः । अहं पानीयपूरेभ्योऽपि न बिभेमि । कुञ्जरं कर्णे धृत्वा रक्षामि । एकस्माद्वैश्वानरादूरे नश्यामि । मत्वेति त्वं  
वरो मां परिणेतुं मन्यस्व । मम पितुर्देशसीमा योजनशतं यावद्विद्यते । तेन ममाग्रतः कथं त्वं गमिष्यसि ममाङ्घ्रिकरणं  
विना । हसतामहसतामपि प्राघृणो भवति यथा तथा मां परिणेतुं हस्तं धर । श्रेणिकः कुमारो दध्याविति । इमां  
शाकिनीं कथमहं परिणेष्यामि । एकं तावदियं मलिना । नीचा जात्या कामुका वदन्ती च बलिष्ठा धूर्तिका च  
अहमग्रे सारमेयादिभिः जेमनादिक्रियां कुर्वाणस्तातेन निष्कासितः स्वदेशात् । यद्यस्याः स्यां भर्ता तदा मम  
ज्ञातृत्वस्य मस्तके क्षारः पतिष्यति । अगमनगमनेन कुलं क्षिप्यते तथाऽधमैः । यदि मयेयं परिणेष्यते तदा  
क्षत्रियकुलं भिच्छुकुलसमानं मया गण्यते । यदीयं परिणेष्यते मया तदा अस्या हस्ते गृहीतव्य आहारः । अस्याः  
पितुश्च मया नमस्कारः करणीयः । यदि मया पाणिग्रहोऽस्याः क्रियते तदा मम मातापित्रादयो लज्जन्ते ।  
कथमपि नारीमिमां न वरिष्ये । किमस्याः पार्श्वीत् नश्यामि अथवा मूर्तिं करिष्ये श्रेणिक इति दध्यौ । यतः—  
“ अर्जयित्वा कुलं वर्य—तमं ये मनुजाः खलु । अधमैः सह कुर्वन्ति, मैत्रीं ते ह्यधमाः स्मृताः ॥ १ ॥ संसारे ह्यवि-  
हिणा, महिलारूपेण मंडियं पासं । बज्जन्ति जाणमाणा, अयाणमाणा न बज्जन्ति ॥ २ ॥ अनृतं साहसं माया, मूर्ख-

त्वमतिलोभता । निःस्नेहो निर्दयत्वं च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ ३ ॥ दर्शने हरते चित्तं, स्पर्शने हरते बलम् ।  
 सङ्गमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥ ४ ॥” कृत्वा मौनं क्षणं तस्मात्, स्थानकाच्च शनैः शनैः । चचाल श्रेणिको  
 यावत्, तावत् पृष्ठे चचाल सा ॥ ५ ॥ अग्रतो गच्छन् श्रेणिको दावं ज्वलन्तमालोक्य अग्निस्तम्भनमणिं हृदि स्मरन्  
 अग्निमध्ये प्रविवेश । अग्निमध्ये ऊर्ध्वोभूतः श्रेणिकस्तां प्रति प्राह । रे भिल्लिके यदि मां परिणेष्यसि तदाऽत्र मम  
 समीपं समागच्छ । आकर्ण्यैतद् भिल्लिका हस्तौ घर्षयन्ती बभाण-अहं त्वरितगतिकाऽभूवं यद्यहं स्थिराऽभविष्यं  
 तदाऽसौ शनैः शनैर्मां पर्येष्यत । अनेन धूर्तेन संमुखाऽहं छलिताऽस्मि । अकरिष्यमहं बाढं, विनयमस्य सन्ततम् ।  
 अजल्पिष्यं वचो भीति-दायकं न मनागपि ॥ १ ॥ अभविष्यमहं दासी, यद्यस्य मृदुजल्पनात् । अपतिष्यत्तदा-  
 पाशे, मदीयेऽसौ सुनिश्चितम् ॥ २ ॥ यन्मया जल्पितं तन्मे, मस्तके पतितं खलु । मन्त्रतन्त्रादिकोटीना-मेष जानाति  
 निश्चितम् ॥ ३ ॥ रङ्गस्य चाटितं रत्नं, हरते किं तिष्ठति स्फुटम् । मया मौग्ध्यात् स्वमन्त्रादि-ज्ञातृत्वं जल्पितं खलु  
 ॥ ४ ॥ अनेन येन दावाग्निर्गृहीतो मां वञ्चयित्वा । अहं किं करिष्ये क्व गच्छामि कस्याग्रे वदामि ऊर्ध्वस्थिता भिल्लिका  
 कुमारं गच्छन्तं दर्शं दर्शं मनसि खेदं दधती हृदयं कुट्टयामास । क्षणेनैकेन तथा चिन्तितं गच्छन् म्रियमाणो वा

केनापि रक्षितुं न शक्यते । अहं तु मुधैव विषादं करोमि, भाग्यं विना चिन्तामणिर्गृहे न तिष्ठतीति ध्यायन्ती सा तत्र तस्थौ । कुमारो मुष्टिं बध्वा चचाल । ततो बलेन क्रमात् श्रेणिको गङ्गाप्रवाहं प्राप । जलं भूरि पश्यन् कुमारस्तरंश्चतस्रो दिशः पुनः पुनर्विलोकयामास । तस्या उपकण्ठे महाचन्दनतरुं शुष्कमालोक्य हर्षितः श्रेणिककुमार आरुरोह । यावदुपरि चटितस्तावत् कडकडशब्दं कुर्वन् वृक्षो गजेन्द्र इव पानीयमध्ये पपात । रत्नं जलतारकं मनसिकृत्य शुष्कवृक्षारूढः कुमारः विमानस्थ इव चलन् शुशोभ । चन्दनपादपाधारेण रत्नप्रभावेण च विंशतिदिनप्रान्ते वेन्नातटपुरसमीपे प्राप्तः । कुमारः यावत् विमानतरुं तत्र स्थापयामास तावत् पुरमध्ये सर्वतः तस्य तरोः परिमलः प्रससार । परिमलानुसारेण तत्र बहवो महेभ्या आगता अमरा इव जातिपुष्पपार्श्वे । महेभ्या जगुः । भो सार्थवाह अस्य चन्दनस्य किं मूल्यम्, कुमारेणोक्तम्—अस्य मूल्यं वक्तुं न शक्यते । मणिमणिक्यतुल्या विक्रीयते । एवंविधं चन्दनं कस्यापि राज्ञो भाण्डागारे नास्ति । सुवर्णेन समं तोलयित्वा अर्पयिष्यामि चन्दनं शुष्कमपि । यूयमप्यर्पयिष्यथ क्रयाणकं वर्यं सर्वमपि क्षमते । अत्रान्तरे बहुषु लोकेषु मीलितेषु महेभ्यैरुक्तम् भो लोका दूरीभवन्तु, मा जानीथ एवं एककोऽस्ति, वयं सर्वे अस्य साधर्मिकाः स्मः, यदस्य स्वल्पमपि चन्दनं गच्छति तदस्माकमेव गतं, तेन न केनापि

अस्य क्रयाणके हस्तः क्षेप्यः, योऽस्य क्रयाणकमध्ये हस्तं स्थापयिष्यति तस्य चौरदण्डो भविष्यति, राजा अन्या-  
यिनां निग्रहं करोति न्यायिनां रक्षां करोति च । ततो दिशो दिशो वंशिकाः कुठाराः कुद्दालादयोऽप्या-  
गच्छन्ति खंडीकर्तुं, शाखामूलादि सर्वं स्वर्णतोल्यां विक्रीयते । कुमारेण कंपाणके चटापयित्वा हेममूल्यानेन सर्वं चन्दनं  
विक्रीतम् । ततस्तेन हेम्ना जात्यरत्नानि गृहीतानि । क्षणमध्ये सर्वं चन्दनं गृहीत्वा स्वर्णदानेन महेभ्याः स्वस्व-  
गृहे ययुः हर्षिताः । रत्नानि ग्रन्थौ बध्वा वेषपरावृत्तिं कृत्वा श्रेणिककुमारो वेष्मातटपुरमध्ये प्रविवेश । कुमारः  
प्रविशन् हृदश्रेणिमध्ये प्रथमं धनावहहृद्रे जगाम । यावत् क्षणसुपविष्टः कुमारस्तत्र तावच्छ्रेणिं बहुलाभो जाय-  
मानोऽजनि । श्रेष्ठी कुमारं प्रति प्राहेति—एकस्मिन् भाजने मदनफलानि सन्ति, द्वितीये रोहिणित्वचा, तृतीये सुण्डलके  
यवाः सन्ति, एतानि मया कल्ये आनीतानि सन्ति । गडूचीकच्चूरकपाटलादि चतुर्थे सुण्डलके, त्रिगडू त्रिफला  
सैन्धवगिरिमालकादि अस्ति, यच्च वस्तु सुण्ठीमुख्यं तव विलोक्यते तद् गृहाण । एतदाकर्ण्य कुमारोऽवग्-श्रेष्ठिन  
हस्ते बहुमुत्कलोऽसि त्वं किमर्थं, त्वं ममोपरि एवं कुर्वन्नासि, अथवा तवैवविधः स्वभावोऽस्ति । ततो हृद्वा-  
धिपो हसन्नाह—आत्मनोऽर्थ एव वल्लभो विद्यते नृणाम् नतु कस्यापि परकार्यं वल्लभम् । श्रेणिकः प्राह—



कः आत्मनः स्वार्थः ? श्रेष्ठी प्राह—अद्य रात्रौ केनचित् सुरेण स्वप्नछलान्ममात्रे प्रोक्तमेवम्, यः प्रभाते विंशति-  
वर्षप्रमाणो धवलवस्त्रधारी पूर्वादिशायाः कश्चित् समेष्यति ससप्तु घटीषु गतासु अष्टम्यां घट्यां भवद्दहद्वात्रे  
स तवापदां सर्वा भेत्स्यति । एवंविधं स्वप्नं दत्त्वा कोऽपि देवो विद्युदिव तिरोदधे । ततः प्रातरुत्थाय मया चिन्तितं  
वर्थं स्वप्नमिदम् । यतः स्वप्नशास्त्रे—“देवताश्च द्विजा गावः, पितरौ लिङ्गिनो नृपाः । यद्वदन्ति नृणां स्वप्ने, तत्तथैव  
भविष्यति ॥ १ ॥ कृष्णं कुत्सनमशस्तं, मुक्त्वा गोवाजिराजगजदेवान् । सकलं शुक्लं शस्तं, मुक्त्वा कर्पासलव-  
णानि ॥ २ ॥ गायने रोदनं ब्रूयान्, नर्तने वधबन्धनम् । हसने शोचनं ब्रूयात् पठने कलहं तथा ॥ ३ ॥” ततोऽहं  
हृष्टे समेत्य यावदुपविष्टः तावत्त्वं तादृग्लक्षणलक्षितो मया दृष्टः । कुमारो दध्यौ । एष श्रेष्ठी मुग्धः किमपि गुह्यं  
न स्थगयति । यथा यथा श्रेष्ठी स्वप्नस्वरूपं कथयति तथा तथा कुमारः कौतुकं चित्ते धत्ते । अपवरकमध्ये वस्तु  
दृष्ट्वा कुमारः प्राह—गर्भगृहमध्ये यद्वस्तु मुक्तं तत् किमर्थं ? श्रेष्ठी प्राह—परद्वीपसम्बन्धिवाहनं समुद्रमध्ये वहमानं  
चौरैर्गृहीतम्, तैः स्तनैस्त्वरितमत्रानीय मम भूरिद्रव्येण भरितं समर्पितम् । गतेषु स्तेनेषु राज्ञा तदवृत्तान्तं ज्ञात्वा  
प्रथमं धनकणकर्पटकाञ्चनरूप्यादि सर्वं मदीयं दण्डे गृहीतम्, श्रेष्ठिपदव्यपि उद्दालिता, वाहनमध्यस्थं क्रयाणकमपि

गृहीतम् । तन्मध्ये या धूलिर्दृष्टा राज्ञा उक्तं च एषा धूलिरस्य गले बन्धनीया । यतः । अद्यप्रभृति एवंविधं सैन्यं न करोति श्रेष्ठी । ततोऽहमेवंविधो भूपेन कृतोऽखिलधनापहारात् । यदि दूरं त्यज्यते, तदा लोका हसन्ति माम्, ततो मया चिन्तितम् । वर्षाकाले कर्दमो हृदयश्रेणौ भवति तेन कियती धुलिर्हृदयाग्रे स्थापिता, कियती हृदमध्ये स्थापिता मया, यद्वाहनं मया गृहीतं तदपि दिनपञ्चसप्तमध्ये गङ्गापूरेण दृष्टिपथमागमिष्यति । धननामाप्यहं निर्धनोऽभवम् । श्रेणिकः प्राह—अहो वस्तुस्वरूपं यो न जानाति स कथं क्रयविक्रयौ करोति । श्रेष्ठी जगौ—अग्रे लोका मां हसन्ति यदि त्वमप्येवं मां हससि तदा का गतिर्मम । लोका जानन्ति एषोऽत्र किं वसति । वर्यं गृहं वर्यं हृदं मदीयं लातुं सर्वे जनाश्चिन्तयन्ति स्म । गृहं मया विक्रीष्यते नगरमिदं त्यक्ष्यते । यस्मिन् पुरे मयानेक-  
 नानाविधमधुराहारदिव्यवस्त्रपरिधानादि कुतम् । तस्मिन्नधुना यत्तदाहारवस्त्रादिना निर्वाहो मया क्रियते । अहं जानामि किं कूपे पतित्वा मरणं साधयामि, अथवा बन्धौ प्रविशामि । लक्ष्मीं विना नरो न शोभते । यतः—“ वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं, जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम् । तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये निर्धनस्य जीवितम् ॥ १ ॥ ” करुणासागरः कुमारः श्रेष्ठिनं दुःखिनं दृष्ट्वा दुःखितोऽजनि । यतः—चेतः सार्द्रतरं वचः समधुरं

दृष्टिः प्रसन्नोज्ज्वला, शक्तिः क्षान्तियुता भातिः श्रितनया श्रीर्दानैर्न्यापहा । रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्व-  
मुत्सेकता-निर्मुक्तं प्रकटान्यहो नवसुधाकुण्डान्यमन्युत्तमे ॥ १ ॥ कुमारोऽवग्-श्रेष्ठिन् कथं सत्यां श्रियि तया  
प्रियते ? श्रेष्ठी जगौ-मम गृहे तज्जास्ति यद्भुज्यते, एवं त्वं कथं जल्पसि ? कुमारः प्राह-यद्विलोक्यते तद्गृहाण  
त्वं वाहनं गङ्गातटस्थं यत्नेन रक्षितुं । या धूलिः समागता सा सर्वा यत्नेन रक्षणीया भूरि धनं भविष्यति । तत्र  
गृहे यावद् धूल्येव धनं भवति तावन्मदीयै रत्नैर्व्यवसायं कुरु त्वम् । वेत्नातटपुराधिपमावर्जय । ये ये तत्र सेवका-  
स्तान् तान् अङ्गीकुरु । यावदहं देशान्तरं विलोक्य पश्चादागमिष्यामि तावदेतैः रत्नैस्त्वं व्यवसायं कुरु । धनपति-  
र्भणति-त्वयेदमेवं कथं जल्पितम् ? अनेन वचनेन मम हृदयेऽतीवोच्चाटोऽजनि । यत्त्वया चलितुं वार्ता कृता सा  
मच्चित्ते शल्यमिवाजनि । यत्त्वया वचनयानं मम मज्जत आपद्भूमौ तस्मिन् दत्तं तत्कथमधुनैवोद्दाल्यते । उत्तमा-  
नामेवं जल्पितुं न युज्यते । यद्वचनं त्वया जल्पितं तत् क्रियताम् । पश्चाद्यथाशुचि देशान्तरं विलोक्य । त्वं यदि  
मामवगणय्य यास्यसि, तदा देवतोक्तं वचनमपि निष्फलं भविष्यति । तव बुद्धिप्रपञ्चं विना धूल्या धूलिमेवाहं लप्स्ये ।  
त्वमथकल्पतरुस्त्रिागत्य किं गच्छसि । इमां धूलिं त्वं विक्रीणीहि । यद्द्रविणमुत्पद्यते तदर्थेन गृहीष्यते आवा-

भ्याम् । एवं चेन्नक्रियते भवता तदा गङ्गाप्रवाहे प्राक्षिप । यथा सन्तापो न भवति । कुमार आचष्ट । यदि मम  
 पितृनामकुलवसनग्रामादि न पृच्छयते, तदाऽहं दिनानि कतिचित् स्थास्यामि धनो बभाण-अहं तव पार्श्वे किमपि  
 नामादि न पृच्छामि । त्वमात्मीयेन नाम्ना सह राज्यं कुरुष्व । मम सम्बन्धि वस्तु इदं त्वदीया बुद्धिः । तव बुद्ध्या  
 विव्रीयेदं वस्तु आवाभ्यामर्धेन विभज्य गृहीष्यते धनेनावर्जितः श्रेणिकः । ततो दन्तधावनार्थं नीरमानीतम् । एकं-  
 दातनकं द्विरफटिकां कृत्वा द्वाभ्यां धनश्रेणिकाभ्यां मुखशोधनं कृतम् । द्वाभ्यां परस्परं प्रीतिः कृता । कुमारस्य रत्नानि  
 गृहीतानि श्रेष्ठिना । दातनकजले यथाऽऽनीते सा धनपुत्री बालकुमारी विद्यते । दातनकं कृत्वा कुमारी यावद् हृष्टे उपविष्टः ।  
 तावत्तया कन्यकया सुलक्षणवान् कुमार उपलक्षितः । दध्यौ च कुमारी । यद्ययं मम भर्ता भवति तदा सुकृत-  
 स्यान्नन्तस्योदयोऽजनि मम, एवं ध्यात्वा कुमारी पितुः पुरः प्राह-यदि तात त्वं मां परिणयिष्यसि एनं तदासौ वरो  
 मे भवतु, नो चेत् चारित्रं भवतु मम । ततो धनः श्रेष्ठी प्राह-भो वत्से एवं वक्तुं तव न युज्यते गृहे गच्छ, गृहं  
 प्रमार्जय । दूरत आत्मनः प्राधूर्णक आगतोऽस्ति । ततो धनपुत्री गृहे गत्वा जननीपार्श्वे प्राहेति-एक आगतोऽस्ति  
 पुमान् दूरतः आत्मीयहृष्टे, तं दृष्ट्वा मदीयं मानसमुल्लसितम् । मम सुखमक्षिकायै योऽर्थो विधीयते विद्यते वा

तेनार्थेन प्राघूर्णकार्थं वर्यो रसवतीं कुरु त्वं मातरस्य प्राघूर्णकस्यार्थं आलस्यं त्यक्त्वा । स्नानान्नदानादिना तं प्राघूर्णकं सत्कृत्य त्वं मां तेन सह परिणायय । माता प्राह—रे निर्लज्जे वत्से किमर्थं कथितं विना हृष्टे गता, यान् यान् द्रक्ष्यसि तांस्तान् यदि त्वं वरिष्यसि तदा त्वं अस्माकं हस्तादुत्तरिताऽसि । एवंविधानि स्वेच्छाजल्पकानि यद्यपत्यानि यानि भवन्ति तानि दुःस्त्रीनि भवन्ति । त्वं महाकुले उत्पन्ना सती कथमेवं जल्पसि । तवाधुना लज्जाऽपि कुत्राऽगात् । पुत्री बभाण—मातेरेवं मा जल्प, मम शीलं मेरुसमं निश्चलं जानीहि, त्वया विकारः कोऽपि नानेयो मनसि, अहं तु तव पुत्र्यस्मि यो मया पतिर्वाञ्छितः स एवास्मिन् जन्मनि मम भर्ता भवतु नो चेत् संयम एव शरणम् । मातृपुत्र्योरेवं जल्पत्यो रसवतीं कुर्वत्योः सत्योः स एव प्राघूर्णकः प्राङ्गणे आगतः अत्रान्तरे धनश्रेष्ठी भार्यापुत्रीजल्पनोदन्तं श्रुत्वा गृहमध्येऽभ्येत्य पत्न्याः पुरः प्राह—एष वरोवर्योऽत्रागतोऽस्ति, एषा पुत्री विवाहयोग्याऽस्ति यदि अनयोर्विवाहेन संयोगो भवति तदा चन्द्ररोहिण्योरिव सूर्यरत्नादेव्योरिव कन्दर्परस्योरिव कुण्डलमयोरिव शक्रेन्द्राण्योरिव शोभा भवति । अन्तरायो यदि नैव भवति तदाऽनयोर्योगो वर्यो भविष्यति । जीवानां लक्ष्म्यर्जने पुण्यकृत्यकरणे ( च ) विघ्नानि भूरिशो जायन्ते

यतः—“पुण्यं वितन्वतां नृणां, विघ्नानि भूरिशः स्फुटम् । उत्पद्यन्ते ततः सद्भिः, कर्तव्यं साहसं सदा ॥ १ ॥”  
 एतस्य पार्श्वे भवत्या ग्रामनामकुलगोत्रादि न पृष्टव्यम्, एतदर्थे साम्प्रतमहं नियमः कारितोऽस्मि, तत एष अत्रा-  
 त्मीयगृहे आगतोऽस्ति । तदानीं सुनन्दा जगौ—हे तात त्वया नामस्थानकुलगोत्रादिकस्य वार्तापि न पृष्टव्या ।  
 यदि एष कुमारो मामङ्गीकरोति तदा विवाहं कुरुष्व मया सहास्य नो चेन्मम दीक्षां दापय । पुत्र्या निश्चयं मत्त्रा-  
 पिता जहर्ष । ततो द्वयोः स्नानदानदेवपूजावर्थरसवतीपरिवेषणादिपर्यन्तं धनपुत्री भक्तिं चकार । ततश्चित्रशालाया-  
 मुपविष्टौ द्वौ । धनेन प्रोक्तम्—यदि भवता विरूपं न मन्यते तदा किमपि प्रोच्यते श्रेणिकोऽवग्—यन्मम रोच्यमान-  
 मस्ति तज्जल्पनीयं त्वया, धनश्रेष्ठयवग—एषा मम पुत्री तां त्वं परिणय पथिक ! अर्थलोभो मनसि न कर्तव्यः ।  
 विंशमर्द्धविंशं वा जामातुर्न रक्षामि । कन्याविक्रयं ये जनाः कुर्वन्ति तेषां बहुपापं लगति । यतः—“ये कन्यानां  
 जना एवं, विक्रयं कुर्वन्ते स्फुटम् । ते लभन्ते इहामुत्र, दुःखश्रेणिमनुत्तराम् ॥ १ ॥” या एव पुत्री त्वया  
 परिणेतव्याऽस्ति । नो चेच्चारित्रं गृहीष्यति । सान्यं नरं नेहते, ततः कुमारो धर्मिष्ठां तां विज्ञाय मनो गुप्तं  
 कृत्वा च प्रोचे एषा पुत्री ग्रथिलाऽस्ति यं थं वरं पश्यति तं तं वरिष्यति यदि तदा एषा मूर्खाणां मध्ये रेखां

लप्स्यते । नामस्थानककुलगोत्रादि ज्ञातं विना यद्येषा वरं वरति तदासौ ग्रथिला निश्चितम् । कुमारी प्राह—  
यद्येष कथयति, तत्र कथयतु अहं अमुमेव वरिष्यामि, राजहंसानां कुलं कः पृच्छति । यथा तेषामुत्तमं भवति ।  
उत्तमानां कुलमाकारं जल्पनेन ज्ञायते । राजहंसी मानससरोवरे एव रुचिं करोति नान्यत्र तथा एषापि । प्रकटं  
प्राह च कुमारः । मयि अङ्गीकृते तव को लाभः अहं तु वैदेशिकः । घटीमध्येऽत्र स्थितोऽपि यामि । अभ्रच्छायेव  
मम मेलापको भविष्यति तव । ततः सुनन्दाऽवग—सत्यं वचस्तव, अभ्रस्याधारे चन्द्रसूर्यौ, अभ्रस्याधारे जलधरपूरः,  
अभ्रस्याधारे ताराः सर्वाः स्युः, अभ्रस्याधारे लोकाः सर्वे, तथाहं तवाधारेऽस्मि । कृपां कृत्वा मम पाणिग्रहं कुरु ।  
अभ्रमिव भवान् पुत्रपौत्रादिना विस्तरतु । कुमारः प्राह—पाणिग्रहः स्वप्नतुल्यो मम तव भविष्यति । विवाहानन्तरं  
यावद् दिनानि पञ्चदश भविष्यन्ति तावदहं वैदेशिको विदेशं प्रति चलिष्यामि । देशान्तरितोऽथवा अवधूतः उत्थाय  
चलितः, लग्नं भूतं यस्य रा यथा उत्थाय याति तदा तस्याः का गतिः । पुनरपि सुनन्दा जगौ—अहं व्रतं ग्रही-  
तुक्कामाऽभूवम् । अधुना त्वां दृष्ट्वा मनः एवंविधमभूत् । तव करो हस्ते लगति अथवा संयमश्रियः करः । यदि  
त्वं मां परिणीय गमिष्यसि तदाऽहं शीलव्रतं पालयिष्यामि । अथवा संयमं—निष्कलङ्क । मां परिणीय त्वं देशान्त-

राणि विलोक्यात्मीयराज्यं कुरु । श्रुत्वैतत् कुमारो ग्रन्थि बध्वा ग्राह-एषैव वेला वर्या वर्तते । यत् रोचते भवतः तत्  
 कुरु । ततः श्रेष्ठी स्वां पुत्रीं समहोत्सवं श्रेणिकाय पर्यणाययत् । अन्येद्युः श्रेणिको हृष्टे उपविष्टः । अत्रान्तरे पुरे-  
 पटहो वाद्यमानः कुमारेण श्रुतः । पृष्टं च तेन । श्रेष्ठिन् किमर्थं पटहो वाद्यते ? श्रेष्ठी ग्राह सपादलक्षबलीवर्द्धभृत-  
 नान्दिसारथपैकदाऽऽत्मपुरस्त्वेन स शुकः । तस्यास्ति एकः शुकः । षण्मासान्ते जल्पति पृष्टः सत्सत्यं । देव-  
 सा तेजनतूरिका । ततः स सार्थवाहो भूरिक्रयाणकपूर्णसपादलक्षपृष्ठवाहयुतो गतदिनेऽत्रागात् । राज्ञो मीलितः प्रामृतं  
 वर्यं कृतं । राज्ञोक्तं किं विलोक्यते ? तेन प्रोक्तं तेजनतूरिका । राज्ञाऽऽकारिता मन्त्रिणः पृष्टाश्च कस्यास्ति तेजनतूरिका ?  
 मन्त्रिभिरुक्तम्-न ज्ञायते कस्यास्ति । राजा ग्राह-तन्नगरं वर्यं । यत्र पुरे सर्वाणि वस्तूनि लभ्यन्ते । आयान्ति च  
 यत्र भूरिधनिनो व्यवहारिणो वसन्ति । यत्रागता वस्तु न लान्ति जनाः । यत्र सर्वाणि क्रयाणकानि न सन्ति ।  
 तदपि पुरं पुरमध्ये कथं गण्यते । इत्यादि प्रोक्त्या राजानं खेदं दधानं दृष्ट्वा मन्त्रिणो जगुः पटहौ वाद्यते ।  
 आत्मीयं पुरं महद्विद्यते । कस्यापि गृहे कदाचिद्भविष्यति । एतद्विचार्य राजाऽऽदिष्टा मन्त्रिणः पटहं वादयन्ति ।



श्रेष्ठिनो वचनमाकर्ण्य, श्रेणिको जगौ श्रेष्ठिनं प्रति त्वं पटहं स्पृश । ततस्तस्य वचसा पटहे स्पृष्टे भूपसेवकैर्भूपोपान्तेऽभ्येत्योक्तं धनश्रेष्ठिना पटहः स्पृष्टः । तदा राजादयोऽखिला जना जहसुः, धनगृहे धूलिरेवागतास्ति, अपरं धनं तु सर्वं गतं तेन श्रेष्ठिलो जातोऽथवा वातेसुतोऽथवा श्रेष्ठी । येनाधुना पटहः स्पृष्टोऽनेन । अथवा अनेन धूलिर्यदा दर्शयिष्यते सार्धवाहस्य । तदात्मीयपुरस्य माहात्म्यं यास्यति । ततो राज्ञा धनमाकारयितुं स्वसेवकाः प्रेषिताः धनपार्श्वे । धनस्तान् भूपानुगानाकारयितुमागतान् दृष्ट्वा श्रेणिकाग्रे जगौ—किं करिष्यते । राज्ञो मृत्या आगताः । श्रेणिको जगौ—भवता खेदो नानेयः । राजवशीकरणरत्नं ग्रन्थौ बध्वा मनसि स्मृत्वा च राज्ञो मीलितव्यं । मणिप्रभावेण यदा राजा तुष्टो भवति तदा त्वया माण्डविका भूरिधनेन दृढीकृत्य गृहीतव्या । तेजनतरिकाप्यर्पयिष्यते ततो धनो रत्नसहितो राज्ञो यावन् मीलितः नृपं प्रणाम च, तावद्राजा प्रसन्नीभूय रत्नं गृहीत्वा प्राह—मन्त्रिणं प्रति भवता माण्डविका अस्यार्पणीया । अस्य हस्ताद् धनं चटाप्यापि लोकैरन्यैर्माण्डविका न ग्राह्या । ततो मण्डपिका गृहीता । ततो राज्ञोक्तं—श्रेष्ठिन्नस्य सार्धवाहस्य रोच्यमानं वस्तु दाप्यतां त्वया । श्रेष्ठिनोक्तं । जीर्णां तेजनतरिका विलोबयते नवा वा एतस्य

सार्थपस्य एतच्छ्रुत्वा राजा हृष्टः । दिव्यवस्त्रादिना सन्मान्य धनः श्रेष्ठी सार्थपयुग्ं प्रेषितः । श्रेष्ठिनोऽग्रे स्वर्णबीजपू-  
राणि यावत् सार्थपो मुञ्चति तावत् श्रेष्ठी जगौ-अस्य श्रेणिककुमारस्याग्रे मुञ्च असावेव जानाति सर्वम् । द्वयोः  
प्राभृतं कृत्वा सार्थपः प्राह-अहो धनो धन्योऽस्ति यस्य ईदृक्षे विभवे सति एवंविधो विनयः । यस्मिन् देशे ईदृक्षा  
व्यवहारिणो भवन्ति स देशो धन्यः । श्रेणिकं दृष्ट्वा तदा सार्थपः प्राह-अहो कुमार ! त्वं राजगृहे दृष्टोऽभूर्मया ।  
कुमारोऽवग-राजगृहो वैरिणामपि सा भवतु, यद्येवंविधमशुभं वचनं जल्प्यते भवता, तदा अन्येषां गृहे  
गत्वा वस्तु गृहाण, अस्मदीयं वस्तु गृहितारो बहवो भविष्यन्ति । ततो रुष्टं श्रेणिकं मत्वा सार्थप  
उत्थाय तस्य पादयोः पतित्वा प्राह-अहं मुग्धोऽभूवं यदेवंविधं वचोऽत्र जल्पितं मया क्षम्यताम् ।  
ततो कुमारोऽवग-एकं तेजनतूरिकाया गद्यानकं बन्दिमध्ये क्षिप्त्वा तन्मध्ये भारप्रमाणं ताम्रं क्षिप्यते,  
ततः सर्वं सुवर्णं भवति, ततो नायको हृष्टो न्युछनकं चकार तस्य । ततः स प्राह-तेजनतूरिकायाः वर्णिकां,  
दर्शय, ततो धनेन वर्णिका दर्शिता । तेजनतूरिकां दृष्ट्वा सार्थपो दृष्ट्यौ । अहो धन्योऽसौ यस्य गृहे एवंविधे  
वैभवे सत्यपि एवंविधो दाक्षिण्यादिगुणः । धन्यमिदं पुरं धन्योऽसौ भूपः यस्य राज्ये एवंविधा व्यवहारिणः सन्ति ।

ततः सार्थपः सपादलक्षपृष्ठवाहिकान् रत्नसुवर्णरूप्यपट्टकुलपञ्चवर्णमयकर्पटकचन्दनकर्पूरकस्तूरिकाजवादिप्रभृतिबहु-  
मूल्यैक्याणकपूर्णान् धनश्रेष्ठिगृहप्राङ्गणे आनिनाय ॥ धनश्रेणिकौ तान् पृष्ठवाहकांस्तादृग्वस्तुभरितान् वीक्ष्य चम-  
त्कुतौ । ततः परस्परं वस्तु विलोक्य मिथः प्रोच्यमानधनसार्थपौ ललतुः । मिथो हृष्टौ बभूवतुः । ततः सार्थ-  
वाहधनश्रेणिका जिनप्रासादे जिनस्य शतपत्रसहस्रपत्रजातियूथिकादिभिः पूजां रचयित्वा नर्तनगीतगानादिभावपूजां  
च कारयामासुः । व्यवहारिणो जाता मिथः प्रीतिश्च । ततो वस्तु गृहीत्वा राजपार्श्वे गत्वा सार्थपः प्राह—राजन्  
धन्योऽसि पुण्यवानसि त्वम् ? । यस्य पुरे एवंविधो धनो व्यवहारी वसति पुण्यवान् जिनधर्मवासितसप्तधातुः  
नवनिधिचतुर्दशरत्नानि तव पुरे प्राप्तानि सन्ति मया । ततो धनोऽसौ व्यवहारी अन्यव्यवहारितुल्यो मा  
गणितव्यो भवता । एवंविधो व्यवहारी बहुपुरेषु कुत्रापि न दृष्टो मया । राजा तस्य सार्थपस्य वर्यदुकूलाद्याभरण-  
दानेन सन्मानं चकार । ततः सार्थपः पुनर्धनपार्श्वेऽभ्येत्य नानाप्रकारभक्तिपुरस्सरं श्रेणिकधनौ प्रणम्याह—अहं पुनः  
पुनः स्मरणीयश्चित्ते न विस्मर्यः, इति जल्पन् चचाल सार्थपः । यतः—“सत्प्रीतिवल्ली हृदयालवाले, निवेशिता  
शैशवतोऽपि यत्र । सा वर्धनीया सततप्रवृत्ति-पत्रादिसम्प्रेषणनीरपूरैः ॥ १ ॥ तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं, पुनरस्तु त्वरितं

समागमः । अयि साधय साधयेप्सितं, स्मरणीया समये वयं वयम् ॥ २ ॥ ” ततश्चतसृभ्यो दिग्भ्यो नवीनानि पात्राणि धनस्य तस्य गृहे नर्तितुमागच्छन्ति स्म याचका धनं याचितुं च । अयं श्रेष्ठी अभाग्यवान् मूर्ख इत्यादि ये ये जजल्पुरिभ्यास्ते ते अस्य धनसाधोर्वणिजोऽभूवन् पदयोस्तलेऽस्य लुठन्ति च । श्रेणिकेनात्मनो नाम्नि गोपाल इति नाम स्थापितम् । श्रेष्ठी धनधान्यादिपूर्णाऽजनि । सुनन्दानाथको देवगृहे जिनपूजादि सप्तक्षेत्रे धनव्ययं करोति स्म । यद्यत क्रयाणकं धनो गृह्णाति तत्र तत्रानर्गलो लाभो भवति । अनेके घोटका गृहीता धनेन आवासः कैलाससोदरोऽङ्गीकृतः । घोटकशालायां घोटका बद्धास्तेषां रक्षणार्थं पाण्डवाः स्थापिताः । बहवः व्यवहारिणोऽपि तस्य किङ्करीभूय सेवां कुर्वन्ति । यस्य गृहे लक्ष्मीर्भवति तस्य सर्वे जनाः सेवां कुर्वन्ति । यतः—“ एहि गच्छ पुरे तिष्ठ, वद मौनं समाचर । एवमाशाग्रहग्रस्तैः, क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ १ ॥ ” श्रेणिकस्य सुनन्दया सह प्रीतिरजनि बाढम् । सुनन्दा भर्तुर्मनसा चलति । क्रमाद्वर्षद्वयातिक्रमे सुनन्दा गर्भं दधार । यथा यथा गर्भो वर्धते तथा तथा तस्या बुभुक्षा न लगति । कदाचित् कवलद्वयं जेमते न वा सा । यद्भुक्तं तथा तद् द्वितीयदिवसे वमति । क्रमादतीव्र दुर्बलाऽभूत् सुनन्दा । चलन्त्याः सुनन्दाया मुखे श्वासो न माति । सोजकः पदयोर्लम्भ-

स्तस्या जीवन्तमृतायाः क्षणं न ज्ञायते । पुनः पुनः बभाणेति सा पानीयमानीयतां तृषा लप्ताऽस्ति । श्रेणिक एवं-  
विधां प्रियामालोक्य अन्येद्युः श्वश्रुं प्रति ग्राह-तव पुत्रीयं । कः दुर्बला दृश्यते । कोऽपि दोहलोऽस्या जातोऽस्ति  
नवेति पृच्छयतां स्वपुत्री । यो दोहलो भवति अस्याः स पृथिते नोचेन्मृतैवेधम । ततः सुनन्दोपान्ते गत्वा माता  
जगाद । पुत्रि ! किं तवाङ्गं दुर्बलं दृश्यते ? तव कस्य विषये वाञ्छा विधते ? । सुनन्दा जगौ-दोहलोत्पत्तिस्व-  
रूपं यदि कथ्यते तदा मनसि न माति कस्यापि, दुःशक्योऽस्ति दोहलः तेन मे मरणं, माता जगौ-पुत्रि ! मातुः  
कथ्यते । ततः सुनन्दावग-अहमेवं जानामि कुक्षारारूढा राजपथे दानं ददाना गच्छामि, राजा तदा सपरिवारोऽग्रे  
चलति, स्वहस्तेन जिनालये गत्वा वर्धपुण्यैः द्रव्यपूजां करोमि संस्तवनेन भावपूजां च, जानेऽहं राज्ञो वादित्राणि  
ममाग्रे वाधन्ते, ममाग्रे च पात्राणि नृत्यन्ति, जानेऽहं पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरामि, जानेऽहं मस्तके छत्रं धारयामि,  
जानेऽहं मनोऽभिमतं दानं ददामि । जानेऽहं सधार्मिकान् भोजयित्वा दुक्कलादिभिः परिधापयामि, जानेऽहं  
देशमध्ये अमारिं प्रवर्तयामि, जानेऽहं शीलं पालयामि, जानेऽहं चैत्यपरिपार्थीं कृत्वा गृहे आगच्छामि, जानेऽहं घृतादि-  
शुद्धाहारं यतिभ्यो ददामि । एषा वार्ता मयोक्ता तवाग्रे अभयदानं विना मम जीवितं नास्ति, श्रुत्वेति जननी पुत्रीप्रोक्तं-

जामातुरग्रे जगाद । श्रेणिकः पत्नीमनोरथं श्रुत्वा हृष्टः । यस्या एवंविधो दोहलो जायते, तस्या गर्भे कोऽपि पुण्यवान् नरः । गर्भानुभावाद्विधो दोहलो भवति । यतः—“भवन्ति भूरिभिर्भाग्यै—धर्मकर्ममनोरथाः । फलन्ति यत्पुनस्ते तु, तत् सुवर्णस्य सौरभम् ॥ १ ॥ प्रतिपन्नं यदभ्यस्तं, जीवैः कर्म शुभाशुभम् । तेनैवाभ्यासयोगेन, तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ २ ॥ ” ततः कुमारोक्तं, राज्ञोऽस्य या पुत्री जात्यन्धाऽभवत् । साऽधुना जीवन्त्यस्ति अथवा मृताऽस्ति ? । धनोऽवगू—अद्य यावत् जात्यन्धा विद्यते । वेद्नातटपुरस्वामी तस्या एव आज्ञां कारयति वल्लभत्वात् । बाल्येऽपि चारित्रं गृहीतुकामा प्रचण्डं तपः करोति । तस्याः प्रसूतिप्रमाणलोचने दृष्ट्वा लोका जानन्त्येषा इति पश्यन्त्यस्ति, स्वभावेनापश्यन्त्यपि, सुलोचनेति प्रोच्यते । यस्तां राजपुत्रीमन्धां वदति । तस्य राजा शिक्षां ददाति । राज्ञोऽतीव वल्लभाऽस्ति । भूपुत्रीमन्धां मत्वा श्रेणिकोऽवगू—तव पुत्र्या यो दुःशको दोहद उत्पन्नोऽस्ति, तस्य पूरणे उपायोऽस्ति । श्रेष्ठिनोक्तं कः उपायः ? श्रेणिकः प्राह—इदं रत्नं गृहीत्वा राजोपान्ते गत्वेदं कुरु । अनेन रत्नजलेन राज्ञः पुत्रीनेत्रे छण्टय, ततो दिव्ये चक्षुषी भविष्यतः । राजा यदा तुष्टो भवति तदा त्वत्पुत्रीदोहदपूरणं मार्गय । ततो धनो रत्नमादाय यावन्नृपोपान्ते गतस्तावद्राजा समुत्तरथौ । मिथः प्रीतिवृद्धिं चक्रतुः श्रेष्ठी रहसि जगौ । तवाग्रे

काथितुं न शक्यते, तथापि किमप्यनुच्यमानमपि मयोच्यते । भवत्पुत्रीं अत्रानय त्वम् । तत्रानीता नृपेण ।  
रत्नाम्बुछटया सुलोचनानेत्रे प्रक्षालिते, ततः सुलोचना दिनेऽपि ताराः पश्यन्त्यभूत् । ततो राजा  
जगौ-अर्धराज्यं गृहाण । धनोऽवक् मम राज्येन किमपि कार्यं नास्ति, परं मम पुत्र्या यो दोहदो जातोऽस्ति  
तं पूरय । ततो राज्ञा स्वपुत्रीयुता सुनन्दा कुञ्जरारूढा कृता । राजाग्रे चचाल, नृत्यादि कारयन्  
छत्रचामरवादित्रादिपुरस्सरं नरपतिर्भूपमार्गे चचाल । सर्वप्रासादेषु जिनान् पूजयामास सुनन्दा । ततः स्वगृहे-  
ऽभ्येत्य यतीनाकारयित्वा प्राशुकाद्वपनैः प्रतिलाभयामास । ततोऽखिलदेशेषु अमारिः कारिता । ततो भूपधनयोः  
सुलोचनासुनन्दयोर्बीडं मैत्री जाता । गृहे गृहे घृतलभनादि कृतम्, हृदश्रेणिमध्ये तल्लिकतोरणानि च कारया-  
मास भूपः । अन्येद्युः श्रेणिकेनोक्तं प्रियां प्रति यद्यात्मनः पुत्रो भविष्यति तस्याभयकुमारेति नाम दास्यते,  
यतोऽमारिप्रवर्तनादिदोहलोत्पत्तेः । इतः स सार्धपः पृथिवीपीठे भ्रमन्नुपार्जितभूरिधनो राजगृहे नगरे जगाम ।  
प्रसेनजितराजा नवनवतिं पुत्रान् परस्परं विरोधं कुर्वतो वीक्ष्य श्रेणिकं कुमारं तादृशं विनीतं स्मरन् पुनःपुनरेवं  
तस्थौ प्रियाग्रे एवं जजल्प च । मयाऽपमानितो राज्यं मुक्त्वा श्रेणिकः कुमारो दूरं गतः, स कथं भविता । मम

तेन पुत्रेण विना रात्रिन्दिवं निद्रा नायाति स निःश्वासो मुखे न माति च । यदा तस्य सूनोर्मम वियोगोऽभूत्, ततः  
 प्रभृति सुखं गतम् । मया अविमृश्य कार्यं कृतम् । न ज्ञायते स मम कुमारो जीवन् मृतो वाऽथवा कापि श्राप-  
 दैर्भक्षितः । कस्यापि गृहेऽथवा दासीभूय स्थितोऽस्ति । जलदे वर्षति गृहे गृहे भिक्षां मार्गमाणोऽस्ति । वृमुक्षित-  
 स्तृषितो दुःखीजातो भारी । वर्षाकाले स्थानक्राभावात् पशूनामिव मस्तकोपरि सर्वं जलं पतिष्यति । शीतकाले मृशं  
 शीतेन ताड्यमानोऽतीव दुःखितो भारी । श्रेणिकः उष्णकाले तृषातापादि कथं सहिष्यति । एवं स्मारं स्मारं श्रेणिकं भूपो  
 दुःखितोऽभूत् । कदाचिदेवं ध्यायतिस्म राजा । कस्य पुत्राः केषां पिता कस्य माता कस्य सुहृद् कस्य प्रिया इत्यादि सर्वं  
 स्वप्नजालतुल्यं दृश्यते । मिथोऽनन्तेषु भवेषु जीवाः सर्वे सर्वसम्बन्धिनोऽभवन् भवन्ति भविष्यन्ति च । एवं स्वं चित्तं  
 स्थिरीकृत्य यावद् राजा तिष्ठति स्म, तावत् सार्थपोऽभ्येत्य जगौ—देव ! युष्माकं पुत्राणां शतं श्रुतं । अधुना नवनवतिः कथं  
 दृश्यते ? राज्ञोक्तं श्रेणिकगमनस्वरूपं ततोऽवगृह्य सार्थपः भवत्पुत्रतुल्यो वेद्नातटपुरे धनश्रेष्ठिगृहे महाबुद्धिमान् दृष्टः ।  
 तत्र यदा मयोक्तं—भवान् राजगृहे दृष्टः, तदा तेन 'राजगृहो वैरिणामपि मा भवतु' तस्य मुखादित्यादि श्रुत्वा प्रसेन-  
 जितभूपस्य हृदि पुनः शल्यं प्रकटीजातम् । प्रसेनजितो जगौ च । अहो तेन पुत्रेणैकशोऽपि आत्मनः



स्थितिर्न ज्ञापिता । तथास्य स्थितिः साम्प्रतमेतेषां पुत्राणामग्रे न प्रोच्यते । इति राजा मानसं गूढं कृत्वा सार्थ-  
पात्रे जगाद—मुधैवं कथं जल्प्यते त्वया । स पुत्रोऽलसो मखोऽधम इतो निस्सरणादनु रलित्वा मृतो भावी । य  
एवं स्वेच्छया गृहाग्निसरति । स म्रियते एव । रङ्क इव गृहे गृहे अमति च । कर्म प्रकटीभूय किमपि न दर्शयति ।  
किन्तु कामपि तां बुद्धिं ददाति यया रंक इव रलति लोकः । यतः—“ विरंचिर्न नरं हन्ति, प्रादुर्भूय चपेटया ।  
किन्तु तां ददते बुद्धिं, यया रलति रङ्कवत् ॥ १ ॥ स्थापनिकामन्यस्य योऽपलपति विश्वस्थं नरं च यो वञ्चयति तयो-  
स्तृतीयस्त्वं यदि एवं कूटं जल्पसि । ततो नायको रहसि समेत्यावग् । स्थापनिकापलापविश्वस्थातन-कन्याविक्रय-  
कूटककयविक्रय—स्त्रीहत्या-गोहत्या-बालहत्या-यतिहत्यादि-पापानि मम लगन्ति, यदि स श्रेणिको न भवति ।  
नायकोऽवग्—मया वेत्तातटपुरे धनहृद्रे राजहंस इव कुमार उपविष्टो दृष्टः । तस्य श्रेष्ठी देवशेषामिवाज्ञां  
सर्वकार्येषु मन्यते । तस्य कुमारस्य प्रसादवचनेन अहं धनश्रेष्ठिहृद्वाचेजनतूरिकामगृह्णम् । तयां मम-  
गृहे भूरिशः काञ्चनकोटयोऽभवन् । एवमेव जाने धनस्य पुत्री भवत्पुत्रेण परिणीताऽस्ति । नायकवचनेन  
राजा हृष्टो नन्दनमानेतुमुत्सुकोऽभवत् । ततो राज्ञोक्तं । यदि तत्रास्ति तदा तत्रात्मीयः कोऽपि विचक्षणः पुरुषः

स्वनिर्मितसमस्यायुक्तः प्रेष्यते । ततो यदि मदीयः पुत्रो भविष्यति तदा मत्कृतां समस्यां श्रुत्वा त्वरितमागमिष्यति ।  
 ततः आत्मीयो विज्ञः पुरुषः प्रसेनजितराज्ञा प्रेषितः सन् वेन्नातटपुरे धनश्रोष्ठिगृहे गत्वा समस्यामेवंविधां गोपाल-  
 कुमारहस्ते प्रसेनजितप्रेषितः पुरुषो ददौ । गोपालस्तां समस्यामेवं वाचयामास । येन कुमारेण स्वबुद्ध्या पक्कान्न-  
 भृतपूर्णकरण्डकेभ्यो मुखकृतचिन्हेभ्योऽम्बुघटेभ्यश्च स्वसोदरा भोजिताः । येन सारमेयान् खरण्डितक्षीरभाजनानि  
 क्षेपं क्षेपं कुकुरान् वाहयित्वा स्वयम्बुमुजे । इत्यादि यस्यावदातः स कथं वेन्नातटपुरे जीवन् धनेभ्यपुत्रीं  
 परिणीय तिष्ठति । यः आत्मीयमातापितरौ सहोदरान् मुक्त्या दूरदेशे गत्वाऽन्यस्य गृहे गृहजामातृकीभूय तिष्ठति, स  
 जनः कथं जीवंतिष्ठति । यस्य मातापितरावधुना दुःखिनौ बभूवुः, स कथं वराक इव दूरे तिष्ठति-कुक्कर कहतां  
 कोपि चडिओ, घरजमाई थाई । हईया हईयालीको कहइ, कवण भणंउ चित्तमाहि ॥ १ ॥ एवंविधां समस्यां  
 वाचयित्वा तस्या अर्थं विज्ञाय पुनः पुनश्चक्षुःक्षरज्जलबिन्दुको गोपालः स्वमनसि दध्याविति । मारण ताडण  
 जे करइ, येवी केवी लहंति अहसरीखा बेटडा, ते बोले न रहंति ॥ १ ॥ अमीयरसायणआगली  
 मायतायगुरु सिस । जे नवि मन्नइ बप्पडा, ते रलीया सविदीस ॥ २ ॥ एवं चिन्तयित्वा स एव

मृत्यो लेखसहितः प्रेषितः । प्रसेनजितभूपपाश्वे श्रेणिकेन । ततो राजा तं लेखं वाचयामासेति । मम उपहरा बोलडा, लहसिइं रायकुआरा । हुं तुह्नि भणिओ वाणिओ, नहि वयण फलाऽऽसाइं ॥ १ ॥ जीणि अवसरि जोईइ, स्वामी तणउ पसाउ । तीणि नीचउतारणओ, किम सेवीजइ राउ ॥ २ ॥ घरजमाई घरसुणह ते कुण हुंस धरंति । पण अपमान्यां छोखां मरइं कि दुरि फिरंति ॥ ३ ॥ एवं लेखं वाचयित्वाथं ज्ञात्वा च पुनरपि प्रसेन-जितो लेखं श्रेणिकपाश्वे प्रेषयामास । छन्नं श्रेणिकेन रहसि तातलेखो वाचित इति । जे मइ सभामाहि बोलिउं, ते अपमान किं मानसो । जि संभारि विचारकरि, तो आरोगो धान ॥ १ ॥ मोर भणइ अह्य पीछडां, मइं मेल्यीयां वणमाहिं । हुं अ जिअगासउ, तीह विण ते सिरिराय वहेइ ॥ २ ॥ यद्यत्तात्तवचनं तत्तत्तस्यामृतमिव परिणमति । श्रेणिकेन प्रेषितं पत्रं राजा वाचयामासेति । जातइ एकजि पिछडइ, मोर दोहिछुउ काई । ते नवाणू पीछडा भरी पूरी रहिआइं ॥ १ ॥ प्रसेनजितेन प्रेषितं लेखं पुत्रो वाचयामासेति । बेडी केरां पाटीयां, बांधाबहु अ गुणेहिं । पइ-टाणुं छांडइ, रहण तु तारिज्जइ केण ॥ १ ॥ कल्पतरू केरं पानडुं, ऊडिउ वायवसेण । तु तिहा सीली छांहडी, जे सीअला ते सील ॥ २ ॥ अत्र जीवन्नहं यावदस्मि तावत्तत्र भवता । प्रेषितव्यः पुनर्लेखो ममोपान्ते निरन्तरम् ॥

॥ ३ ॥ ततः श्रेणिकेन नवनवतिभ्रातृनिमित्तं आभरणादीनि कारितानि । मातृभगिनीकृते कनकरत्नार्दानां शृङ्गारः कारितश्च । पितृबान्धवार्थं जात्यतुरङ्गमान् अङ्गीचकार । इत्यादीनि वर्याणि प्राभृतानि नामाङ्कितानि रहसि श्रेणिकः पितृपार्श्वे प्रेषयामास । पित्रा च हर्षितेन भग्भानाम भेरी सुनवे तस्मै प्रेषिता ज्ञापितं चेति हि तं तथा हि-या भिच्छी सुंदरी त्यक्ता, त्वया पुत्र वनान्तरे । तद्वयं विहित चक्रे, कुलोद्योतश्च सर्वतः ॥ १ ॥ या पल्ली लङ्घीता पूर्व, गच्छतास्तः पुरात्सुत ! । तस्यां ये सन्ति भिच्छास्ते, रुष्टाः सन्ति तवोपरि ॥ २ ॥ इति तातवचो निशम्य श्रेणिको रहसि शनैः शनैः तुरङ्गमान् द्रविणं सेवकान् पुराद् बहिः कर्षयामास । ततश्च प्रियाग्रे प्राह-अहं स्वपितुः पार्श्वे यास्यामि । ततः सुनन्दा जगौ-अहं भवता सार्धमागमिष्यामि त्वां विना क्षणं स्थातुं न शक्नोमि । श्रेणिकोऽवग-त्वयाऽधुना सार्ध-मागन्तुं न वक्तव्यं मनागपि । पुनः सुनन्दा प्राहावग्योर्नन्दनो भविष्यति तस्य किं नाम दास्यते ? श्रेणिकोऽवग-यादृशस्तव दोहदोऽभूत्तादृशनामाऽभयेति दातव्यं त्वया । सुनन्दाऽवक्थ्यदा पुत्रोऽष्टनववर्षयो भूत्वा पृच्छति, मत्पिता कुत्राऽस्ति तदा किं मया तस्य कथ्यते ? ततः कुमारः खटीं लात्वा हस्तेन चित्रशालाभारपट्टे अक्षराण्येवं लिखेत् राजगृहि पालिगाम गोवालि धवले टोडे घर कहीइ । ततोऽन्यदा रहोवृत्त्या श्रेणिको बहिर्निर्गत्य पूर्वप्रेषित-

सैन्यमध्ये जगाम । ततः ससैन्यश्चलन् कुमारो भिन्नराजधानीसमीपे भग्नां वादयामास तथा । यथा तस्या रवं  
श्रुत्वा भिन्नपतिः संनह्य सर्वबलेन दधावे । यावन्निष्ठपतिना शिङ्गिका वादिता । तावच्छक्षशो भिन्नाः किल-  
किलारवं विकुर्वाणाः स्वभल्लीरुच्छालयन्तः क्रोधोत्पाटितअकुटयो वयमरीन् हन्मां हन्म इति जल्पन्तो मील्लिताः ।  
शोणिकेन शरीरक्षणरत्नस्मरणेन युद्धं कर्तुमारब्धम् । भिन्नाः शरनाराचकुन्ताचायुधानि मुमुचुः, परमेकस्य  
श्रेणिकानुगस्य एकमपि नास्ति न लगति । ततो भिन्ना बाणादीन्यायुधानि क्षेपं क्षेपं भग्नाः सन्तः श्रेणिकाय  
नमस्कारं चक्रुः । नश्यन् भिन्नपतिर्बद्धः, श्रेणिकेन रणाङ्गणे । गृहीतं विपमं स्थानं, तदीयं च धनान्वितम्  
॥ १ ॥ यतः—“न श्रीः कुलक्रमायाता, शासने लिखिताऽपि वा । खड्गेनाक्रम्य मुञ्जीत, वीरभोज्या वसुन्धरा ॥ २ ॥  
नाभिवेको न संस्कारः, सिंहस्य क्रियते मृगैः । विक्रमार्जितसत्त्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ ३ ॥ श्रेणिको जगौ—रे भिन्न-  
पते अग्रे भव राजगृहपुरवर्त्म दर्शय ‘यद्दधदं’ समेति तदुत्तारय नोचेन्मद्धस्तेन मृत एव । ततो भिन्नेन सेवकीभूय राज-  
गृहवर्त्म दर्शितम् । क्रमेण सर्वान् घट्टानुद्धय सपादलक्षभिन्नपरिवारयुतो भूरितुरङ्गमादियुक्तश्च श्रेणिको भक्त्या  
पितुः मातुश्चपादयोरपतत् । श्रेणिकसमागमं श्रुत्वा सर्वे बान्धवास्तत्रैव ज्येष्ठभ्रातरं विनयेन नेमुः । ततः प्रसेन-

जितराज्ञा सर्वपुत्रयुतेन श्रेणिकाय राज्यं दत्तं स्वयं च तपोऽङ्गीचक्रे । स भिक्षो लज्जितस्तापसो भूत्वा कोष्ठ्यां  
प्रविश्योत्तमार्थमङ्गीचकार । ततस्तस्य पुत्रमाकार्य स्वसेवकं कृत्वा च तस्यैव तद्देशं समर्पयामास श्रेणिकः । सर्वान्  
सहोदरानाकार्यं यैवैरिभिः पितुराज्ञा नाङ्गीकृता तानरीन् स्वपदोस्तले लोठयामास श्रेणिकः । अन्येद्युः श्रेणिकेन  
परीक्ष्य परीक्ष्यैकोना पञ्चशती मन्त्रिणां स्थापिता । एकमतीव वर्यं मन्त्रिणं कर्तुकामो दध्यौ श्रेणिकः । वर्यतमं मन्त्रिणं  
विना राज्यसूत्रं न तिष्ठति । ये ये मन्त्रिणः कृताः सन्ति, ते ते सर्वे गर्वोद्धताः ईर्ष्यालवः । यावद्दर्यतमो निरहंकारी  
विनयी धर्मिष्ठो विशुद्धमतिमान् मन्त्री मम न भवति तावदहं प्रधान एव न राजा । यतो विशिष्टं मन्त्रिणं विना  
राज्यं न स्थिरतामेति । यतः—“कुलशीलगुणोपेतं, सत्यधर्मपरायणम् । रूपिणं सुप्रसन्नं च, राजाऽध्यक्षं तु का-  
रयेत् ॥ १ ॥ शीलवृद्धिकरो धीरः, सर्वरत्नपरीक्षकः । शुचिरव्यभिचारी च, भाण्डाध्यक्षोऽभिधीयते ॥ २ ॥  
इङ्गीताकारतत्त्वज्ञः, प्रियवाक् प्रियदर्शनः । सकृदुक्तगृही दक्षो, मन्त्रिनाथः प्रशस्यते ॥ ३ ॥” एवं हृदये विचार्य श्रेणिकः  
शुष्ककूपे आत्मीयां मुद्रां क्षिप्त्वा प्राह—यः कश्चिन्नरः अस्य कूपस्य कण्ठोपविष्टो निजबुद्ध्या इमां मुद्रां परिदधाति तस्याहं  
राज्यार्धदानपूर्वं मन्त्रिमुख्यमुद्रां दास्यामि । एवंविधां बुद्धिं कृत्वा कूपसमीपे निजसेवकान् मुत्त्वा प्राह श्रेणिकः ।

यः कूपकण्ठस्थो मुद्रां परिदधाति स कथनीयो मम, अपरो यो नरो मन्त्री वा परिधत्ते तदपि ममाग्रे कथनीयम् । सर्वे मन्त्रिणो दर्शं दर्शं मुद्रां कूपकण्ठस्थाः खिन्ना जजल्पुश्चेति । कोऽपि कौहतिको मण्डितोऽस्ति राज्ञा आत्मना-मपाये पातयितुम् । ततोऽन्येऽपि पौरा लोका आगताश्च, तत्रैतस्य मुद्रां कर्षयितुमुपक्रमं चक्रुः तेऽपि खिन्नास्तदा । इतः सुनन्दा पुत्रमसूत । तस्याभयकुमार इति नाम ददौ । वर्धितः क्रमाद्धेखशालायां मुक्तः, क्रमाच्च पण्डितोपान्ते पठन् शालाण्यन्येधुरपरैल्लेखशालकैः कलहं कुर्वन्निरुक्तम्, निःपितृकोऽयम्, ततोऽभयः खिन्नो गेहेऽभ्येत्य पितृस्वरूपं पप्रच्छ मातरम् । मात्रा प्रोक्तं न ज्ञायते अत्र पूर्वं परिणीय मद्रर्भे त्वामुत्पाद्याकस्माद्विदेशं गतः । खिन्नोऽभयोऽवगन्-मम पित्रा गच्छता किमपि जल्पितं किमपि दर्शितम् अक्षराणि वा दत्तानि तुभ्यम् ? माता प्राह—तेनातो गच्छता अस्मिन् चित्रशालाभारपट्टके अक्षराणि लिखितानि सन्ति । ततो भारपट्टस्थानि अक्षराणि वाचयित्वा कुमारः पितृस्वरूपं जज्ञे । कुमारो हृष्टो मातृसमीपमभ्येत्यावगन् च । ज्ञातं मया पितृस्वरूपम्, यत्र मम पिताऽस्ति तत्र गमिष्यामि । मात्रा प्रोक्तमहं सार्थं समेष्यामि । ततो वृद्धपितरं मातरमुत्कलाप्य राजगृहं प्रति चचाल कुमारः । कियन्तीं भूमिमतिक्रम्य राजगृहे पुरोधानेऽभ्येत्य मातरं तत्र मुक्त्वा कूपकण्ठे समागात् । लोकैरुक्तम्—यो मुद्राभिमां कूपोपकण्ठस्थः परिदधाति, तस्य सर्वमन्त्रि-

मुख्यपदवीं ददाति राजा । कुमारेणोक्तम्--यस्य शक्तिः स्यात् स मन्त्रिमुद्रां परिदधाति । पश्चादेवं न वक्तव्यम् । अहं-  
 मेव पर्यदधाम् । सैवैरप्युक्तम्--त्वमेव परिधिहि । ततः कुमारेणादौ आर्द्रगोमयमानीय मुद्रिकाया उपरि क्षिप्तम् । ततस्तस्यो-  
 परि अग्निर्बहुः क्षिप्तः । घटीचतुष्टयेन तदेव गोमयं शुष्कम्, ततश्चासन्नकपूद्नीकाप्रयोगात् पानीयं कर्षयित्वा तमेव-  
 कूपमाकण्ठं पानीयेन पूर्णचकार कुमारः । तदा कूपे आकण्ठेऽम्बुना पूरिते मुद्राप्युपरि समायाता । ततः कूपमध्या-  
 न्मुद्रिकां गृहीत्वाऽङ्गुल्यां पर्यदधात् कुमारः । इयं वार्ता राज्ञा श्रुता तत्क्षणं हृष्टो राजा तत्रागत्य तं कुमारं तादृशा-  
 कारं वीक्ष्य मुमुदे । राज्ञा पृष्टं च कुतस्त्वमागतः ? तेनोक्तमहं वेद्नातटनगरात् । राज्ञोक्तं त्वं कस्य पुत्रः ?  
 तेनोक्तमहं प्रजापालस्य पुत्रः । राज्ञोक्तं तत्र धनश्रेष्ठिनः सुतायाः सुनन्दायाः स्वरूपं ज्ञातम् ? तेनोक्तं तथा पुत्रो  
 जनितोऽभयकुमारेति नाम दत्तं मात्रा । स कियद्द्वर्षप्रमाणोऽस्ति ? स प्राह--यति वर्षाणि ममाभवन् तति तस्यापि रूपेण  
 मनुल्योऽस्ति । राज्ञोक्तं भवतः एवंविधः परिचयः कथं जातः ? कुमारोऽवगू-मम तेन क्रमादतीव मैत्री जाता, क्षणमपि  
 तेन विना स्थातुं न शक्नोमि । तत्र तं मुक्त्वाऽत्र कथमायातः ? कुमारोऽवक्-अहं तेन सममत्रागतोऽस्मि ।  
 कुत्रास्ति स इत्युक्ते भूपेन कुमारोऽवक् स च तन्माताऽधुनात्रोद्याने आगताऽस्ति । ततस्तमग्रे कृत्वा राजा उद्यानं प्रति



चचाल यदा तदा लोका जगुः । राजाऽनेन लघुनाऽपि वाहितः । तत्र वने राजा गतः, प्रियाया मीलितः । प्रोक्तं च राज्ञा यो गर्भोऽभूत् तदा स क्वास्ति ? तयोक्तमयमेव पुत्रः । राज्ञोक्तम्-पुत्र एवं कूटं किं जल्पितं ? अभयकुमारः प्राह-अहं तु मातृहृदये सदा वसामि तेनैवं प्रोक्तम् । ततो राज्ञा कुमार उत्सङ्गे धृतः, आनायितः पट्टहस्ती । भार्योपुत्रौ तस्योपरि कृत्वा महामहोत्सवपुरस्सरं स्वावासे आनिनाय । ततः पुत्रस्य तस्य सर्वबुद्धिनिधानस्य मन्त्रिमुख्यपदवी दत्ता राज्ञा । ततो राजा अभयकुमारं बुद्धिनिधानमग्रे कृत्वा भरिषो देशान् साधयामास । अथैकदा श्रीवीरसंसदि भरिदेवदेवीसाधुसाध्वीसङ्कुलायां महर्षिमैकं शान्तं दान्तं कुशगान् वीक्ष्य प्राहेत्यभयः । भगवन् कोऽयं यतिरेष साक्षात् दृश्यते ? वीरः प्राह-प्रतीच्यां दिशि वीतभयाख्यपत्तनमस्ति स्वर्गपुरसोदरम् । तस्मिन् उदायनो राजा प्रजां प्रशशास न्यायाध्वना । अन्यदाऽहं तत्र समवासार्षम् । देवैः समवसरणं कृतम् । तस्मिन् समवसरणे वीतभयपत्तनस्वामी उदायनो राजा समागात् धर्मं श्रोतुम् । धर्मः सनातनो येषां दर्शनप्रतिभरभूत् । परित्यजति च नैव, तेषां मन्दिरमिन्दिरा ॥ १ ॥ धर्मस्य विश्वाधिपतेः प्रसादात्, पुमान् प्रपेदे सुखमुत्तरोत्तरम् । अहो कृतधनः स तु मोहमोहितो, धर्मस्य नामापि कदापि नास्मरत् ॥ २ ॥ धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा, कृतो वा

कारितोऽपि वा । अनुमोदितो वा राजेन्द्र !, पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥३॥ बुधैर्विधीयतामेको, धर्मः परमबान्धवः । द्वादिरे  
 मदिरावत्यो, येन वाञ्छितसिद्धयः ॥ ४ ॥ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवेत् गर्भवासे नराणां, बालत्वे चापि दुःखं  
 मलमालिनवपुःस्त्रीपयःपानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः, संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं  
 स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥ ५ ॥ संसारागजलबुबुउवमे, जीविवि जलबिंदुचंचले । जुव्वणे य नइवेगसंनिभे, पाव जीव !  
 किमयं न नुज्झसि ॥ ६ ॥ श्रुत्वेत्यादि वचो धर्म-नायकस्य मुखात् पुरा । वैराग्यवासितस्वान्तोऽभवदुदायिनो नृपः ॥ ७ ॥  
 प्रभावतीप्रियाकुक्षिभव ( मभीचिनामकम् । राज्ये समो हि दुर्गतिं, माऽगात् दुःखप्रदामिति ॥८॥ प्रियं पुत्रं स्वकं मुक्त्वा ।  
 जाम्याः ) केश्याख्यनन्दनम् । राज्ये निवेशयामासोदायनो धर्मतत्परः ॥ ९ ॥ ततोऽस्मात्कारणादयमुदायनो राजा दीक्षां  
 जग्राह । अरिमन्त्रेव भवे कर्मक्षयं कृत्वा मोक्षं गमिष्यत्येषः । ततः प्राञ्जलिरभयः प्राह । भगवन् कोऽन्यो राजर्षिर्मुक्तिं गतो  
 भविष्यति । प्रभुराचष्टायमेवान्त्यो राजर्षिः केवली उदायिनः । ततोऽभयः प्रभुं नत्वा गृहे गत्वैवं श्रेणिकपाश्वै प्राह । मम  
 दीक्षाग्रहणकृते प्रसन्नीभव । यथाऽहं सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं गमिष्यामि । ततः श्रेणिकोऽवक्-दीक्षाग्रहणविषये भभावसरोऽस्ति,  
 भवतो राज्यकरणेऽवसरो विद्यते । एवं कथं जल्प्यते त्वया । त्वमेव मम राज्यवर्द्धने समर्थोऽसि । अभयकुमारः प्राह ।

त्वत्पुत्रो भूत्वा यदि व्रतमार्गं न साधयिष्यामि तदाऽहं दुर्भाग्योऽभवम् । त्वं कृपां कृत्वा दीक्षां दापय । अथ भूपतिः  
प्राह—यदाऽहं क्रोधेन त्वां प्रत्येवं जल्पामि दूरे व्रज मुखं मा दर्शय, तदा त्वं वत्स ! व्रतमाददीथाः । अभयोऽवक्-  
तात त्वदीयं वचः प्रमाणमेव । ततो जनकं नत्वा स्थानकेऽभ्येत्यैवमभयो दध्यौ । वज्रेण वज्रं तु यथा तथाऽस्ति,  
वेध्या खबुद्ध्या नृपबुद्धिरेषा । ध्यात्वेति धीमानभयोऽथ भूपं निषेवते प्रत्यहं सुग्धभवत्या ॥ १ ॥ अथैकदाऽतीव शीते  
रफीते पतति लोका अतीव जाड्यपीडिता बभूवुः । यथा—निशासु सन्ध्यासु दिनेषु यस्मिन्, पुरःपुरःपृष्ठिनिवेशितेन ।  
रोरैर्नैर्जानुकुशानुभानु—त्रयेण शीतं क्रमतो विनीतम् ॥ २ ॥ गाढं वल्लभतामवाप दहनो जाड्यं जने जल्पति, मान्यत्वं  
बत बालकस्य शिरसा दोषाः प्रवृद्धिं गताः ॥ दृश्यन्तेऽपि च पञ्चषाः सुमनसोऽवन्यां सदा मोदिनः, इत्थं सम्प्रति शीतका-  
लतुलनामालम्बतेऽसौ कलिः ॥ ३ ॥ इतः श्रीवीरजिनो राजगृहपुरासन्नवने समवासार्षीत् । श्रेणिकस्तत्र गत्वा परमेश्वरं  
नत्वा धर्मं श्रुत्वा चिह्णणादेवीयुतः पश्चाद्ववले । वर्त्मनि नद्युपकण्ठे साधुमेकं कायोत्सर्गस्थितं शान्तं दान्तं नत्वाऽपराह्णे  
स्वगृहमाजगाम । राजा जिनपूजां कृत्वा भोजनं चकार । रात्रौ श्रेणिकः सुप्तः, चिह्णणा राक्षी जागरिता तं  
यतीश्वरं स्मृत्वा प्राह । ‘अहो एवंविधे शीते पतति जीवप्राणान्तर्कसेऽधुना स कथं भावी’ इति प्रियावचः श्रुत्वा

श्रेणिकोऽक्रमाज्जागरितः श्रुत्वेदं दध्यौ इयं मे प्रिया व्यभिचारिणी विद्यते अस्या मत्तोऽप्यपरः कोऽपि पुरुषो बह्वभः  
 विद्यते विचारोऽत्र न कार्यः ततो नूनं दुःशीला एवं ध्यायति रात्रिं सूर्यं उदियाय । प्रातराहूयाभयं प्रति पृथिवीशो  
 जगौ । इदं मदीयमंतःपुरं दुराचारं विद्यते, तेन प्रज्वाल्यतां द्रुतमिदमन्तःपुरं त्वया विलम्बो न कार्यः । ततोऽभयो  
 दध्यौ । राजाभिप्रायो न ज्ञायते सम्यग् । किमर्थं राजैवं जल्पतीति विमृश्याभयः प्राह—प्रमाणं तात ! ते वचः ।  
 ततः श्रेणिकः प्रातर्जिनपार्श्वे जगाम श्रुत्वा धर्मं वीरं पप्रच्छ भगवन् ! मदीयाः पत्न्यः सर्वाः सत्यो न वा ? भगवन्नाह—  
 चिच्छणाद्याः सर्वाः सत्य एव । श्रुत्वेति प्रमुपार्श्वे त्वरितं पश्चाद्भवले श्रेणिकः । इतोऽभयो दध्यौ मम तातेन यदादिष्टं तत्  
 केनापि कारणेन भविष्यति, सहसा कृतं कार्यं विषादाय भवतीति विमृश्य कियन्ति गृहाणि उद्वसानि कृत्वा ज्वालितानि  
 अभयकुमारेण । ततः समवसरणसंमुखं निस्ससाराभयः । वर्तमनि श्रेणिकोऽभयस्य मीलितः । जगाद किं कृतं त्वया ?  
 अभयोऽवक् । त्वदुक्तं कृतं मया । श्रेणिको जगाद—गच्छ परो मद्वृक्षोः, मुखं मा दर्शय । एवं कोऽपि अविमृश्य कार्यं  
 करोति । तातवचः प्रमाणमिति प्रोक्त्वाऽत्रतो गत्वा—वीरपार्श्वे दीक्षां जग्राह । इतः श्रेणिको गृहेऽभ्येत्य उद्वसकुटिराणि  
 ज्वालितानि दृष्ट्वा दध्यौ । अहं वाहितस्तेन छलेन दीक्षा गृहीता भाविनी अभयेन । ततो मुष्टिं बद्ध्वा यावत्समवसरणे याति

श्रेणिकः तावदभयं गृहीतव्रतं हृष्टा प्राह श्रेणिकः । अहं वाहितरत्नया इति प्रोच्य पादौ प्रणिपत्य क्षमयित्वा श्रेणिकः  
पश्चाद् गृहे जगाम । ततः श्रीवीरराभीपे बहु तपस्तप्त्वा कर्मोणि छित्त्वा प्रापानुत्तरां गतिम् ॥

इति श्रीअभयकुमारकथा पारिणामिकीबुद्धिविषये ॥

कर्मोन्तरायं नो कुर्यात् पर्योलोच्ययतौ हितम् । आसमात्रमपि प्रायो, यथा न प्राप ढण्डणः ॥ १ ॥

द्वारिकायां मुकुन्दस्य, ढण्डणगेहिनीभवः । ढण्डणाहः कुमारोऽभूत्, लराछक्षणरूपभृत् ॥ २ ॥ अन्येद्युर्ढण्डणो नेमि-  
नाथपार्श्वे समागतः । धर्मे श्रीजिननाथोक्तं, शुश्रावेति सुखप्रदम् ॥ ३ ॥ कुले जन्मापरोगतं, सौभाग्यं सौख्यमद्भुतम् । लक्ष्मी-  
रायुर्यशो विद्या, रम्या रामा तुरङ्गमाः ॥ ४ ॥ मातङ्गा जनलक्षैश्च, परिचर्यायुतास्तथा । चक्रिशक्रेश्चरत्वं च, धर्मादेव हि  
देहिनाम् ॥ ५ ॥ तत्रापि यो विशुद्धात्मा, संयमं शुद्धमात्मना । पालयति स्फुटं स स्या-च्चरः कल्याणशर्मभाग् ॥ ६ ॥ यतः  
“दो चेव जिणवरोहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्खेहिं । लोगंमि पहा भणिया, सुसमण सुसावओ नावि ॥ ७ ॥” प्रभोः  
पार्श्वे तदा प्राप्त-वैराग्यो ढण्डणः स्फुटम् । जग्राह संयमं भावा-त्रांसाराभोधितारकम् ॥ ८ ॥ लभिण्येऽहं यदा

भिक्षा—मात्मलयैव कर्हिचित् । करिष्यामि तदा नाथ ! पारणं ढण्ढणो जगौ ॥ ९ ॥ इति कृताभिग्रहो ढण्ढण-  
 स्तस्यां पुर्यो भिक्षार्थं अमन्नपि ग्रासमात्रमपि न प्राप । ततोऽन्यदा प्रभुपार्श्वे ढण्ढणेनोक्तं, भगवन् कथं न मे  
 शुद्धाभिक्षाप्राप्तिर्भवति । नेमिनाथोऽवगु—पुरा मगधदेशे धान्यपूरकग्रामे परासराहः कुलपुत्रकोऽभूत् राजकृषि-  
 चिन्तकश्च, क्षेत्रेषु खेटनं कारयन् भक्ते समागते पञ्चशतहलसत्तवृषभान् हालकांश्च वृषभछोटनवेलायां जाताया-  
 मपि नामुञ्चत् । वृषभहालिकामुञ्चनार्जितनिकाचितान्तरायकर्मा मृत्वा, परासरो भवं आन्त्वा क्रमादिह कृष्ण-  
 पुत्रो ढण्ढणनामाऽभवस्त्वम् । इति प्रभुवचो निशम्य तदैव कर्मनिर्मूलयितुं यतते ढण्ढणः । कदाचित् भिक्षायां  
 लब्धमोदकः प्रभोः पार्श्वे पप्रच्छ मम प्राग्भवकर्म क्षीणं न वेति ? भगवानभिदधे । ‘कन्हस्स लद्धी नहु  
 ढण्ढणस्स ।’ ततः कृष्णलाब्धिं श्रुत्वा मोदकान् परिष्ठापयितुमिच्छुरिष्टिकापाके गत्वा मोदकांश्चूर्णयन् शुक्लध्यानात्  
 केवलज्ञानमाससाद ।

॥ इति ढण्ढणकुमारकथा ॥

बलेन कार्यमाणोऽपि, तपःकर्म पुमान् स्फुटम् । लभते स्वर्गसौख्यानि, द्रुतं श्रीयकवत्स्फुटम् ॥ १ ॥  
पाटलीपुरे अनेकजिनेन्द्रमन्दिरसुन्दरे नवमनन्दभूपते राज्यं कुर्वतः कल्पकवंशावतंसः शकडालनामा महा-  
मात्योऽभूत् । तस्य लक्ष्मीवती पत्नी च । तौ जिनधर्मकर्मणि कर्ममैठौ भवतः स्म । यतः—“कुलेजन्मापरोगतं  
सौभाग्यं सौख्यमद्भुतम् । लक्ष्मीरायुर्यशो विद्या, हृद्या रामास्तुरङ्गमाः ॥ १ ॥ मातङ्ग जनलक्षैश्च, परिचर्यायुता-  
स्तथा । चक्रिशक्रेश्चरत्वं च, धर्मादेव हि देहिनाम् ॥ २ ॥” क्रमात्तयोः पुष्पदन्ततुल्यौ स्थूलभद्रश्रीयकाभिधौ सुतौ बभू-  
वतुः । यक्षा १ यक्षदत्ता २ भूता ३ भूतदत्ता ४ सेना ५ वेणा ६ रेणा ७ मिधाः सप्त पुत्र्यः महाप्रज्ञावत्योऽभूवन् ।  
प्रथमायाः पुत्र्या एकत्रारश्रुतं समेति । द्वितीयाया द्विवारं एवं सप्तम्याः सप्तवारं श्रुतं शास्त्रं समेति । यतः—“विद्या  
नाम नरस्य रूपमाधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं, विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः । विद्या बन्धुजनो  
विदेशगमने विद्या परं दैवतं, विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥ १ ॥” तस्य नृपतेर्वाराङ्गना  
कोशानामन्यभूत्, अतीव रूपश्रिया सुराङ्गनां जिगाय । तस्यां सक्तः स्थूलभद्रस्तद्गृहे द्वादशवर्षाणि तस्थौ । तत्र बहु  
धनं भुक्तं तेन । यतः—“क्षत्राणां हयशस्त्रबन्दिषु भवेद् द्रव्यव्ययः प्रायशो, भूमध्ये कृपणात्मनां व्यसनिनां स्त्रीद्युत-

चौर्योद्यमे । शृङ्गरे पणयोषितां च वणिजां पण्ये कृषौ क्षेत्रिणां, पापानां मधुमांसयोः सुकृतिनां धर्मोपकारोत्सवे ॥१॥”  
 तस्य विशेषतो भूपतेः श्रीयको विश्वासभाजनमजनि । अङ्गरक्षकारी श्रीभारत्या लब्धवरोऽभूच्च । प्रतिदिनं वररुचि-  
 द्विजो नूतनं कृतमष्टोत्तरं शतं काव्यानि नन्दाय प्राभृतीकुरुते । मिथ्यात्वमयानि काव्यानि मत्वा शकडालो न  
 प्रशशंस नन्दाग्रे । ततो भूपो द्विजन्मने किमपि न दत्ते । पारितोषिकमलभमानो द्विजो विषादं प्रपेदे । मन्त्रिणा  
 महीपतेर्मिथ्यादृक्संसर्गपरिहारयैकदा प्रोक्तम्—यानि काव्यानि द्विजो जल्पति भवतोऽग्रे तानि मत्पुत्रीणां समा-  
 यान्ति । जीर्णानि आनयति काव्यानि नवीनानि कथयति द्विजः राज्ञोक्तमेकदा श्रूयन्ते काव्यानि । ततः शकडा-  
 लपुत्र्यस्तत्र सभायामैयुः । द्विजोऽपि प्रातः पञ्चशतकाव्यानि कृत्वाऽगात् । एकवारं तेन जल्पितानि यदा । ततः  
 एकसंस्थिकया पुत्र्या तानि सर्वाणि प्रोक्तानि । ततो द्वितीयया ततस्तृतीयया ततश्चतुर्थ्या एवं सप्तम्या । ततो राजा  
 चमत्कृतो जगौ । मन्त्रिन्नेता पुत्र्यस्ते साक्षाद्भारत्यो बह्व्योऽवतीर्णाः । ततो राजा वररुचेर्द्वारप्रवेशनिरोधमकरोत् । अथ  
 स द्विजोऽष्टोत्तरेण काव्यशतेन प्रत्यहं प्रातर्गङ्गां सुवन् दीनाराणामष्टोत्तरं शतं लभते । इति प्रसिद्धिः सर्वत्र लोके  
 प्रससार । तं द्विजं लोकाः सुवन्ति । अहो असौ द्विजो भाग्यवान् प्रज्ञावान् पूर्वमनेन ज्ञानमाराधितम् । यतः—



“ज्ञानवान् ज्ञानदानेन, निर्भयोऽभयदानतः । अन्नदानात् सुखी नित्यं, निर्व्याधिर्भेषजान्नवेत् ॥१॥” इति नद्यां प्रसिद्धिं कूटामवधार्य चतुरचक्रवर्ती गूढपुरुषैस्तन्मुक्तां दीनारग्रन्थि गङ्गामध्यगुप्तीकृतां मन्त्री आनिनाय । प्रातर्यावत्तां ग्रन्थि गृहीतुं गत्वा द्विजो गङ्गां स्तौतिस्म, तावद्राजा मन्त्रियुतस्तत्रागात् । पुनः पुनर्द्विजो गङ्गां स्तुवन् यावन्नान्नाप्नोति ग्रन्थि- तावत् शकडालः प्राह अहो किं गङ्गा नार्पयति भवदीप्सितं ? ततो द्विजोऽवक्-न ज्ञायते अद्य गङ्गा किमर्थं नार्पयति, अग्रे मम मार्गितं दत्तेऽधुना न दत्ते गङ्गा, ममाभाग्यमधुना यातं किं क्रियते । यतः-“अभाग्येऽभ्युदिते पुंसां, दारिद्र्यमेति लीलया । भाग्योदये तु गीर्वाणा, भवन्ति वशगाः स्फुटम् ॥ १ ॥” ततो मन्त्रिणा ग्रन्थिरानाशय दर्शिता राज्ञः द्विजस्य कथितं च । इयं ग्रन्थिः कस्य सत्का तदा द्विजो दध्यौ । मम नेयं यद्यहं जल्पामि तदा तु ग्रन्थिर्याति । प्रथममेव नीवी याति । ममेयमिति जल्पामि तदाहं कूटमिति प्रोक्तवान् द्विजः । ततो राज्ञा लोकेन धिक्कृतो मन्त्रिणि वैरं वहति, छलं विलोकयति । अन्यदोत्पन्नकूटबुद्धिः श्रीयकस्यवि वाहसामग्र्यां जायमानायां द्विजो लेखकशालकानेकां गाथामेवं पाठ यामास । राजलो उ नवि जाणइ एह, जं सगडाल करेसिइ । नंदराय मारेवि णु, सिरीओ राजि ठवेसिइ ॥ १ ॥ एवं बालान् बहून् जल्पतः श्रुत्वा राजा दध्यौ । बालवाचाऽन्यथा न भवति । यतः “अमोघा त्रासरे विद्युत्, अमोघं निशि

गर्जितम् । नारीबालवचोऽमोघं, अमोघं देवदर्शनम् ॥१॥ इति बालवचः सत्यमवगत्य मन्त्रिगृहे सिंहासनछत्रचामरादिकं  
निष्पद्यमानं निशम्य सचिवाय चुकोप, मन्त्रिणं हन्तुं सकुटुम्बं ( राजा तत्परोऽभूत् ) तं वृत्तान्तं निशम्य मन्त्री  
एकदिनमारकविषमश्चातिस्म । ततः कृताराधनको मन्त्री श्रीयकमाकार्यं प्राह—मया तु त्रिषं भक्षितं सन्ध्यायां मरणं  
भविष्यति । राजा तु आत्मनः कुटुम्बस्योपरि रुष्टोऽस्ति । तेन त्वं मारय माम्, ततः सर्वकुटुम्बस्य कुशलं भविष्यति  
ततो यावच्छकडालो राजानं नन्तुं गतस्तावद्राजा पराङ्मुखो बभूव । इतः श्रीयकोऽभ्येत्यावग्—यो राज्ञि द्रोही भविष्यति  
तस्यानेनासिना शिरः छेत्स्यते मयेत्युक्त्वा पितुः शिरः कमलनालवत् चिच्छेद । ततो द्रुतं राजा सन्मुखीभूया-  
वग्—भो श्रीयक ! कथं मुधा त्वया पिता हतः । श्रीयकोऽवग् यो राज्ञि मम स्वामिनि द्वेषी भविष्यति तस्यैवंविधा  
शिक्षा दास्यते । ततो राजा प्रसन्नीभूयावग्—त्वया मुधा किं पिता मारितः । ततः श्रीयकेन विप्रस्वरूपं प्रोक्तम्—  
ततो राजा विप्रस्य देशत्यागं प्रोक्तवान् । ततः शकडालस्याग्निसंस्कारे कृते श्रियकं प्रति राजावग्—त्वमेव धन्यः  
सेवकशिरोमणिरसि । याद्वग् शास्त्रे वर्ण्यते सेवकस्ताद्वग् त्वमेव दृश्यसे । यतः “ युद्धकालेऽग्नौ यः स्यात्, सदा  
पृथानुगः पुरे । प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये, स भवेद्राजवल्लभः ॥ १ ॥ जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्तः, कृत्याकृत्याविचक्षणः ।

करोति निर्विकल्पं यः, स भवेद्राजवच्छनः ॥२॥ भृत्यैर्विरहितो राजा, लोकानुग्रहकारिभिः । मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥३॥ भो श्रीयक ! मन्त्रिमुद्रां त्वमङ्गीकुरु । श्रीयको जगौ—मम ज्यायान् सहोदरोऽस्ति स्थूलभद्रः कोशागृहे निवसति च । ततौ राजा दध्यौ । अहो ईदृशो निर्लोभी कोऽपि न दृष्टः । यतः—“दृश्यन्ते लोभिनो लोकाः, प्रायो बहुतरा सुवि । लोभादब्धौ विदेशे वा, गच्छन्तिस्म जना घनाः ॥१॥ दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यंघ्रिणा कम्पितं, दृग्भ्यां कुड्मलितं बलेन गलितं रूपश्रिया प्रोपितम् । प्राप्तायां यमभूपतेरिह महाधाट्यां जरायामियं, तृष्णा केवल-मेकका च सुभटी हृत्पत्तने नृत्यति ॥ २ ॥” ततो राजा स्थूलभद्रमाकारयितुं स्वसेवकं प्रेषयामास । वेद्यागृहे गतो नृपानुगश्चन्द्रशालायां देवाङ्गनया पण्यस्त्रिया सह सारद्युतखेलनपरं स्थूलभद्रं प्रणम्य विज्ञपयामास शकडालमन्त्रि-मरणस्वरूपं प्रोक्तं, तेन त्वां राजा मन्त्रिमुद्राङ्गीकारायाकारयतिस्म । ततो वज्राहत इव क्षणं भूत्वाऽश्रुपातपातपूर्वं त्यक्तताम्बूलो नृपमन्दिरगमनाय कोशां प्रति प्राह—ततः कोशया व्यज्ञपि । तथाच—पावसउ मिलियाव तिणि कमलिनी वढीया घटीइ नही । पसरतउ वीयालि इत्तीवार कुण पडिखिसिइ ॥ १ ॥ अच्चाइ जाइ मिहुणाइं, जाइ अखंडसुरकविहवाइं । पिच्छंति न विरहदुहं, मरणाउवि जं अणंतगुणं ॥ २ ॥ तं रुदं चिय एगं, पसंसिमो जो वियोय-

दुहर्भीओ । उज्झियतिलोयलज्जो, किरद्धनारीसरो जाओ ॥ ३ ॥ संखसि उपरि दंड कहि निग्गहु परई सिरस्स ।  
 अज्जि अच्छइ अगलओ, जं विछोह पियस्स ॥ ४ ॥ इत्यादि विज्ञाय गणिकाऽवग्-यावद्भवानभ्युपैति तावत्कोऽप्यत्र  
 मुच्यताम् ततः स्वं सेवकं तत्र मुक्त्वा स्थूलभद्रो भूपोपान्ते गत्वा प्रणणाम । ततो राज्ञोक्तं मन्त्रिमुद्रां परिधेहि ।  
 स्थूलभद्रो जगौ-किञ्चिद्विमृश्य विज्ञपयिष्यामि इति प्रोच्य धवलगृहासन्नाशोकवतीं प्रविश्येति दध्यौ । जानाम्य-  
 मात्यमुद्रेयं पितुर्मारणवैरिणी । तस्यागादधुना नाहं पश्याम्यस्या विडम्बनाम् ॥ १ ॥ हं हो शौचसखे विवेक भगवन्  
 वैराग्य भो मार्दव त्वं मातः करुणे क्षमे भगवति व्रीडे सखि श्रयताम् । यूयं तावदनुक्रमागततया सर्वाणि बन्धू-  
 न्यपि त्यक्त्वा मामिह यौवनेऽतिगहने क प्रोषितानि ध्रुवम् ॥ २ ॥ इहानुभूयते दक्षै-रध्यक्षं च निरीक्ष्यते । राजा  
 न मित्रतां याति, याति चेत्त प्रलयस्तदा ॥ ३ ॥ नादास्ये नृपतेर्मुद्रां, प्रान्ते परिभवप्रदास् । जिनेन्द्रस्य गृहीष्यामि, महोदय-  
 निबन्धनाम् ॥ ४ ॥ स्थानं विविधबुद्धीनां, रुद्धो मौलिर्मलीमसैः । एभिः कचैरतः सर्वान्, उच्चस्त्रान स तान्  
 क्रुधा ॥ ५ ॥ पुरा रागाधिकवस्त्रा-प्यनुरूपणि यो दधौ । विरागाणि तदा तानि, संजग्राह विरागभाक् ॥ ६ ॥  
 रज्जोर्युपनयं निन्ये, यः स्वयं व्यसनोदये । प्रतीकारकृते तेषां, रजोहरणमात्तवान् ॥ ७ ॥ इत्थमालोच्योपात्तव्रतः

स्थूलभद्रो नृपोपान्ते गत्वा धर्मलाभाशिपं ददौ । राजा जगौ किमिदं कुतम् । तेनोक्तं आलोचितम् । आसमन्ताल्लोचितं  
लोचः कुतः केशोत्पाटनात् यतो मन्त्रिमुद्रा दुःखदायिनी भवति ततो मयैवं कृतम् । यतः—“हस्ते मुद्रा मुखे मुद्रा, मुद्रा  
स्यात्पादयोर्द्वयोः । ततः पश्चाद्गृहे मुद्रा, व्यापारः पञ्चमौद्रिकः ॥ १ ॥ ” ततो राजा तादृशं त्यक्तसर्वगणिकादिसुखं प्रश-  
शंसेति धन्यस्त्वं सहसा त्यक्त्वा, गणिकादि सुखं द्रुतम् । अलाः संयमसाम्राज्य-मनन्तसुखदायकम् ॥ १ ॥ यतः—“धन्यास्ते  
व्रतदानतत्परधियो नित्यं जिनेन्द्रार्चकाः, धर्मध्याननिरस्तकल्मषविषाश्रित्यालयोद्धारकाः । सद्भिर्म्बान्यपि कारयन्ति  
निपुणास्तेषां प्रतिष्ठां पुनः, सच्छास्त्रश्रवणैककर्मकुशला ये श्रावकाः स्युः क्षितौ ॥ १ ॥ ततो धर्माशिपं भूपाय वितीर्य  
स्थूलभद्रो वनं गतः । तत्र श्रीसंभतिविजयगुरुपादान्ते विधिवत् प्रव्रज्यां जग्राह । अथ राजा श्रीयकस्य महामात्य-  
मुद्रां प्रसादीचकार । श्रीयको राज्यव्यापारं कुर्वन् वारत्रयं जिनाचोभयकालप्रतिक्रान्त्यादि धर्मकृत्यं करोति ।  
ससक्षेत्र्यां स्वधनं व्ययतिस्म च । जिनेन्द्रप्रासादशतं धर्मशालाशतत्रयं कारयामास च । यतः—“जिणभवणबिंब-  
पुत्थयसंघसरूवेसु सत्तखित्तेसु । ववियं धणंपि जायइ शिवफलइ अहो अणंतगुणं ॥ १ ॥ ” क्रमाच्छ्रीयकः क्षितिप-  
पार्थात् स्वपुत्रस्य मन्त्रिमुद्रां दापयित्वा श्रीगुरुपार्श्वे दीक्षां जग्राह । एकदा यक्षया महासत्या स्वभगिन्या श्रीपर्युप-

णापर्वणि समायाते श्रीयकस्याग्रे प्रोक्तम् । अद्य वार्षिकपर्वं विद्यते । अत्र यत् पुण्यं क्रियते, तस्य फलमनन्तं भवति ।  
 यतः—“एगग्माचित्ता जिणसासणंमि, पभावणापूथपरायणा जे । तिसत्तखुत्तो निसुणंति कप्पं, भवणवत्ते लहु संतरंति॥१॥  
 संवच्छरचाउमासीएसु, अट्टाहीआसु य तिहीसु । सवायरेण लग्गइ, जिणवरपूयातवगुणेसु ॥ २ ॥” इत्युक्त्वा  
 प्रथमं श्रीयको नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं कारितस्तथा । ततः पौरुषी ततः सार्द्धपौरुषी । ततः पुरिमार्द्धं ततः  
 एकासनादि तावद्यावत् सन्ध्यायामुपवासो यक्षया कारितः श्रीयकस्य । रात्रौ अकस्मान्मृतः श्रीयकः । ततो यक्षाऽ-  
 तीवदुःखिता श्रीयकगतिज्ञानार्थं श्रीसङ्घसहिता कायोत्सर्गं चकार । ततः शासनदेव्या उत्पाट्य यक्षा महाविदेहक्षेत्रे  
 श्रीसीमन्धरपार्श्वे मुक्ता । श्रीसीमन्धरस्वामिपार्श्वे तथा स्वचित्ताचिन्तितस्वरूपं पृष्टम् । ततः श्रीसीमन्धरस्वामी जगौ—श्रीयको  
 मृतः स्यायुपः क्षयादेव न पुनस्तपसा । शोको न कर्तव्यः । न केनापि जीवितव्यं बहुक्रियते । यतः—“नो विद्या न  
 च भेषजं न च पिता नो बान्धवा नो सुताः, नाभीष्टा कुलदेवता न जननी स्नेहानुबन्धान्विता । नार्थो नो  
 स्वजनो न वा परिजनः शारीरकं नो बलं, नो शक्तास्त्रुटितं सुराः सुरवराः संधातुमायुर्धुवम् ॥ १ ॥” ततस्तथा  
 यक्षयोक्तं कोत्पन्नो मम आता ? श्रीसीमन्धरस्वामी जगौ—प्रथमे सौधर्मे स्वर्गे भासुरद्युतिभाग् सुरोऽभूत् श्रीयकः,

धर्मप्रभावान्मुक्तिं गमिष्यति । ततो मुदितमानसा यावच्चलति यक्षा तावत्परमेश्वरेण चूलिकाचतुष्टयं व्याख्यातम् ।  
तथा तच्छ्रुतं समायातं च तस्याम् । ततः शासनदेव्या उत्पाट्य श्रीसङ्घमध्ये मुक्ता यक्षा । ततः श्रीगुरुणां श्रीस-  
ङ्घस्याग्रे श्रीयकसद्वृत्तिप्रतिस्वरूपं प्रोक्तं तथा चूलिकाचतुष्टयं श्रीगुरुभिरचूलिकाद्वयं दशवैका-  
लिकप्रान्ते क्षितम्, चूलिकाद्वयं च आचाराद्गुप्रान्ते क्षितम् । ततो यक्षा साध्वी स्वयं विशेषतस्तपः कर्तुं लग्ना ।  
तदा श्रीगुरुभिरुक्तम् । ये जना अष्टम्यादिपर्वसु तपः कुर्वन्ति ते क्रमात् क्षीणकर्माणो मुक्तिं गच्छन्ति । यतस्तप एव  
निकाचितकर्मच्छेदकमुच्यते । यतः—“पेरसि चउत्थ छट्ठे, काउं कम्मं खवंति जं मुणिणो । तं नो नारइ जीवा, वाससय-  
सहस्सलरकेहिं ॥ १ ॥ जं नारया ण कम्मं, खवंति एणेहि वरिससहस्सेहिं । तं खलु चउत्थमोई, जीवो निज्जरइ सुह-  
भावो ॥ २ ॥ यहूरं यहूराराध्दं, यच्च दूरे व्यवस्थितम् । तत् सर्वं तपसा साध्दं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ३ ॥ यक्षा  
तपस्तप्त्वा क्रमात् स्वर्गं गता ।

॥ इति श्रीयककथा समाप्ता ॥

मत्सु वैरिषु योऽत्यन्तं, क्षमां कुर्यात्सुभावतः । अन्निकापुत्रसूरीश, इवाप्नोति शिवश्रियम् ॥ १ ॥

तथाहि—पूर्वं राजगृहे नगरे श्रीश्रेणिको राजा राज्यं कुर्वन् श्रीवीरजिनपादाम्बुजसेवया बद्धतीर्थङ्करगोत्रो न्यायमा-  
र्गात् पृथिवीं प्रशशास । यतः “राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजा ॥ १ ॥”  
तस्य चिह्णणाद्या बह्व्यो राइयोऽभूवन् । कोणिकाभयकुमारभेधकुमारादयो बहवः पुत्रा आसन् । कोणिकः श्रेणिकं काष्टपञ्चरे  
क्षिप्त्वा राज्ये उपविष्टः । ५०० नाडीभिर्घातयति । मृते श्रेणिके चम्पा वासिता कोणिकेन । चक्रिरत्नानि कृत्वा खण्डत्रयं  
प्राधयित्वा वैताढ्याग्रेतनखण्डत्रयं साधयितुं गुहायां गतः । तन्निर्गतज्वाल्या दग्धः षष्ठनरकं गतः तत्पुत्र उदार्थानाम्ना  
राजाऽभूत् सोऽपि स्वपित्रा कारितानि सभाक्रीडाशयनादिस्थानानि दर्शं दर्शमतीव खिन्नः शोकसागरे पपात । शून्य-  
चित्तस्य राज्ञः सर्वं राज्यकार्यं विसस्मार । ततोऽमात्यैः प्रोक्तम्—स्वामिन् ! नवीनं पुरं स्थाप्यते । ततो नव्यं पुरं  
निवेशयितुं नैमित्तिकवरान् वर्त्यस्थानगवेषणकृते आदिक्षत राजा । तेऽप्यमात्या वर्त्यं पुरस्थानं पश्यन्तो गङ्गातटं प्रापुः । तत्र  
कुसुमपाटलं पाटलिपादपं सच्छायं वीक्ष्य चमत्कृताः । पाटलितरुशाखायां चापं व्यात्तास्यं स्वयं निपतत्कीटकपेटकं समीक्ष्य  
चेतस्येवं व्यचिन्तयंस्ते । अहो यथाऽस्य चाषविहङ्गमस्य मुखे स्वयमेव कीटाः पतन्तो विलोक्यन्ते तथाऽत्र स्थाने नगरे स्था-



पिते सति अस्य राज्ञः स्वयं सम्पदो बहुयः समेष्यन्ति । एतदालोकयामात्या राजपार्थेऽभ्येत्य जगुस्तत्स्थानस्वरूपम् । सोऽपि राजाऽतीव हृष्टः कमपि वृद्धं नैमित्तिकं विचक्षणं पप्रच्छ । अयं पाटलतरुः कीदृग्माहात्म्योऽस्ति ? ततो नैमित्तिकोऽव-  
ग-अयं पाटलानोकहो न रामान्योऽस्ति, इति ज्ञानिना ममाग्रे प्रोक्तम् । पाटलद्रुः पवित्रोऽयं महामुनिकरोऽजन्मा ।  
एकावतारी स मूलजीवश्चेति विशेषतो मन्ये । राज्ञोक्तम् ॥ कतमः स महामुनिः ? तदनुजगाद नैमित्तिकः ।  
तथाहि—देव ! उत्तरमथुरायां देवदत्ताहो वणिक्पुत्रो वसतिस्म । रोऽन्यदा द्रव्यार्जनहेतवे, दक्षिणमथुरायामग-  
मत, तत्र तस्य जयसिंहनाम्ना वणिक्पुत्रेण सह मैत्री जाता । तत्रान्येधुर्जयसिंहवणिग्गृहे भोक्तुं निमन्त्रितो देवद-  
त्तोऽगमत । तदा देवदत्तो भुजानोऽन्निकाहं तज्जाभिं परिवेषयन्तीं वीक्ष्य तस्याः सद्रूपालोकनादनुरक्तोऽजनि ।  
यतः—“अरकाणऽसणी कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवयं । गुत्ताण य मणगुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥ १ ॥”  
द्वितीयेऽहनि भिन्नपार्श्वान्तरां परिणेतुमयाचिष्ट देवदत्तः । जयसिंहोऽवग-तस्मै स्वसारभिमां दास्ये यो मद्बहादुरे न  
भवति । इयं स्वसाऽतीव प्राणेभ्योऽपि वल्लभाऽस्ति, ततो देवदत्तेनोक्तम् भवद्वचः प्रमाणमेव । ततो वर्येऽहनि  
तामन्निकां देवदत्तः पर्यणैपीत । तथा सह भुजानस्य भोगान् देवदत्तस्यान्यदा पितृभ्यां लेखः प्रेषितः । तथाहि—

त्वं दूरे वर्तसे पुत्र ! वृद्धावावां बभूविव । त्वमेव चेदिहायासि, तदा नौ जीवितं भवेत् ॥ १ ॥ तं लेखं वाचयत-  
 रत्तस्य नेत्रे वर्षितुमश्रूणि लम्ने । ततस्तस्य प्रियया रोदनहेतुं पृष्टोऽपि यावन्न ब्रवीति देवदत्तः तावत्तया  
 स्वयं लेखमादायेति अवाचि सः । तत्र चेदं लिखितमासीत् गुरुभ्याम् । यद्वत्सावां वृद्धौ निकटनि-  
 धनौ स्वः यदि त्वं जीवितं नौ वीक्ष्यसे तदा शीघ्रमत्रागन्तव्यं त्वया विचारो न कार्यः । ततस्तया  
 प्रियया प्रोक्तं-स्वामिन् ! भवतो मातापितरौ वृद्धौस्तः तेन तत्र गन्तुं विलोक्यते एव । देवदत्तो जगौ ।  
 मया पूर्वमुक्तमत्राहं स्थास्यामि । साम्प्रतं यास्यामीति कथं जल्प्यते मया । प्रतिज्ञाया भङ्गो भवति, प्रतिज्ञाभङ्गः केनापि न  
 क्रियते । यतः-“अर्थो विनश्यतु विरज्यतु बन्धुवर्गो, राज्यं क्षयं ब्रजतु बन्धनमस्तु बाढम् । प्राणाः प्रयान्तु निधनं न  
 तथापि सन्तो, धीरा निजानि वचनानि विलोपयन्ति ॥१॥ तत्तियमिचं जंपह, जत्तियमिचं तु होइ निवाहो । वाया मुआण  
 नासइ, जीवंता मा मुआ हेंति ॥ २ ॥” तदनुप्रिया प्राह-स्वामिन् मातापित्रोः समं तीर्थं नास्ति तेन तदर्थे कदाचित्  
 प्रतिज्ञाभङ्गः क्रियते तदा न दोषः । यतः-“माता गङ्गासमं तीर्थं, पिता पुष्करमेव च । गुरुः केदारसमं तीर्थं, माता तीर्थं  
 पुनः पुनः ॥१॥” एवं पतिमाश्वास्य स्वभ्रातरं सुकुमालवचनेन पर्यवसाय्याऽन्तःस्नेहलाऽन्निका पतिं प्राह-स्वामिन्

चल्यतां मया आता पर्यवसायितोऽस्ति । ततो देवदत्तो दध्यौ एवंविधा पंत्नी रनेहला पतिहितकारिणी क्वापि न दृष्टा ।  
यतः—“ श्वश्रूश्चशुरननान्ह-पतिदेवरभक्तिका । धर्मकर्मरता पत्नी, सुभाग्यादेव लभ्यते ॥१॥ ” ततो देवदत्तः सप्रियः  
उत्तरमथुरां प्रति प्रतस्थे । क्रमात्साधानाऽन्निका मार्गे सुतमसूत । जन्मोत्सवे कृते अन्निकाऽवग्-अस्य सुनोर्नाम  
श्वश्रूश्चशुरौ दास्यतः । तदा वर्त्मनि सर्वपरिवारोऽन्निकापुत्र इति उल्लाप । क्रमादेवदत्तः स्वपुरं जगाम । मातापित्रो-  
र्मिलितो विनयपूर्वकमन्निका श्वश्रूश्चशुरयोः क्रमयोः पपात । मातापितृभ्यां संधीरणेति नाम्नि दत्तेऽपि अन्निकापुत्र इति  
नाग पप्रथे । ततः सर्वेषामपि हर्षोत्कर्षं चकार वर्द्धमानः कुमारः । क्रमात् प्राप्तारुण्योऽन्निकापुत्रो गुरुणां समीपे धर्म-  
शृण्वानो धर्मपरो बभूवेति । “ जन्तूनामवनं जिनेशनमनं भक्त्याऽऽगमाकर्णनं, साधूनां नमनं मदापनयनं सम्यग्गुरोर्मा-  
ननम् । मायाया हननं क्रुधश्च शमनं लोभद्रुमोन्मूलनं, चेतः शोधनमिन्द्रियाश्वदमनं यत्तच्छिवोपायनम् ॥१॥ ” इत्यादि  
धर्मोपदेशाकर्णनात् भोगांस्तृणवन्मन्यमानो जयसिंहाचार्यपार्श्वे दीक्षामग्रहीत् । अन्निकापुत्रो विनयपूर्वकं शास्त्राणि  
पठन् गुरुपार्श्वे आचार्यपदं प्राप । बहुपरिवारसहितो भव्यजीवान् प्रबोधयन् वार्द्धके पुष्पभद्रपुरं गङ्गातटस्थं  
प्राप । तत्र पुष्पकेतुर्नृपो राजा राज्यं करोतिस्म न्यायात् । यतः “ राक्षि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।

राजानमनुवर्तन्ते, यथा राजा तथा प्रजाः ॥ १ ॥ ” ततः क्रमात् तस्यासीत् पुष्पवती पत्नी । तयोर्युग्मजौ पुष्पचूलः  
 पुष्पचूला चेति पुत्रः पुत्री जातौ । तौ सह वर्द्धमानौ क्रीडन्तौ च परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा दध्यौ यद्येतौ  
 दारकौ पृथग् विवाहकरणाद्वियुज्येते तदा नूनमेतौ मृतावेव । अहमप्यनयोर्विरहं सोढुमनीशोऽस्मि तस्मादनयोरेव  
 विवाहं कारयिष्यामीति ध्यात्वा मन्त्रिपौरानाकार्यं प्राह—यद्रत्नमन्तःपुरे समुत्पद्यते तस्य कः स्वामी ? तैर्विज्ञप्तं स्वाम्येव  
 स्वामिनः तवान्तःपुरोत्पन्नं वस्तु त्वदीयाभिप्रेतस्थाने त्वया योज्यते । ततो राज्ञोक्तम् । मम पुत्रपुत्र्योर्द्यदि वियोगो  
 भविष्यति तदा मरणमपि भावि इत्यादि विमृश्य पुत्रपुत्र्येरेव विवाहः कारितो देव्यां वारयन्त्यामपि मेदिनीभुजा । तौ  
 दम्पती भोगान् मुक्तः । सा राज्ञी तु प्राह—स्वामिंस्त्वया किमेवंविधमकर्तव्यं कृतं पुत्रपुत्रीविवाहकरणात्मिथः । ततो  
 राज्ञा हक्किता राज्ञी त्वयैवं किमुच्यते रे पतिन यदि पुनः प्रजल्पसे तदा त्वां हनिष्यामि इति धिक्कृता राज्ञी समुत्पन्नवै-  
 राग्या श्रीगुरूणां पार्श्वे व्रतं जग्राह । तीव्रतरं तपस्तप्त्वा पुष्पवती स्वर्गे देवोऽभूत् । अन्येद्युः पुष्पकेतौ  
 कथाशेषे पुष्पचूलो राजाऽभूत् । पुष्पवतीजीवो देवोऽवधिज्ञानात् पुत्रपुत्र्योरकृत्यं ज्ञात्वा तद्धारणायगत्य पुष्प-  
 चूलाया नरकानदर्शयत् तदुःखानि ज्ञात्वा सा च प्रबुद्धा भीता च पत्युः पुरः सर्वं निवेदयामास । राजा च

भीतः शान्तिकपौष्टिकादिकर्म कारयामास । स च देवः प्रतिदिनं तस्या नरकावासानदर्शयत् । राजा तु सर्वो-  
रस्तीर्थिकान् बौद्धादीनाकार्यं पप्रच्छ कीदृशा नरकाः कथ्यन्ते । केचिदाहुर्गोप्तिवासः, केचिद्धारिण्यं,  
केचित् पारतन्त्र्यं प्रोचुः, राज्ञी तु बौद्धादिप्रोक्तं श्रुत्वा मुखं मोटयन्ती प्राह-एवंविधा नरका न विद्यन्ते । अथ भूपोऽ-  
न्निकापुत्राचार्योपान्ते गत्वाऽवगन्-कीदृशा नरका भवन्ति ? ततो गुरुभिः प्रोक्तमिति । “ इग तिन्नि सत्त दस सत्तर-ऽयर  
बावीस तिच्चीसा । सत्तसु पुढवीसु ठिई, जिहोवरिमाइ हिट्ठपुढवीए । होइ कमेण कणिट्ठा, दस वास सहस्स पढमाए ॥  
॥ १ ॥ सत्तसु खिच्चजविअणा, अन्नुन्नकयावि पहरणेहि विणा । पहरणकयावि पच्चसु, तिसु परमाहम्मियकयावि ॥ २ ॥  
राइयपि गुरुक्तं श्रुत्वा प्राह-भगवन् ! भवद्विरपि स्वप्नो दृष्टः ? सूरिराह जिनागमात् सर्वं नरकादिस्वरूपं ज्ञायते ।  
पुष्पचूलाचष्ट-भगवन् केन कर्मणा नरकाः प्राप्यन्ते ? गुरुराचष्ट-महारम्भपरिग्रहैर्गुरुप्रत्यनीकतया पञ्चेन्द्रियवधात्  
मांसाहाराच्च तेषु नरकेषु पतन्ति जीवाः । पुष्पवतीजीवसुरस्तस्यै स्वर्गानदर्शयत् स्वप्ने । राज्ञा तथैव स्वर्गस्वरूपं पृष्टाः पाख-  
ण्डिनः प्रोचुः । यद्वर्यपक्कान्नादि भक्ष्यते यत्पट्टकूलादि परिधीयते यद्वर्ययानासनादिषु उपविश्यते तदेव स्वर्गः कथ्यते । ततो  
गुरुभिर्भूपभूपपत्नीपृष्टैरुक्तम्-सम्यक्चाराधनगृहियतिधर्मसेवनेन द्वादशदेवलोकेषु सुखानि प्राप्यन्ते । बत्तीसद्वावी-

सा, बारस अडचउ विमाणलवखाइं । पन्नासचत्तछसहस कमेण सोहम्ममार्इसु ॥ १ ॥ वरमउड-  
 किरीडधरो, चिंचइओ चवलकुंडलाहरणो । सक्को हियउवएसा, ऐरावणवाहणो जाओ ॥ २ ॥ ततः सा  
 राज्ञी प्रतिबुद्धा प्राह—भो कान्त ! प्रव्रज्यायै मामनुजानीष्व । राजाऽवगू—त्वद्वियोगक्षणमपि न क्षमे । यदि  
 प्रव्रज्यां गृहीष्यसि, तदा मद्गृहस्था गृहीतव्रता एव शुद्धमाहारं गृहाण । तयोररीकृते नृपवचसि राजा तस्याः  
 प्रव्रज्यां दापयामास । पतिगृहे स्थिता राज्ञी पुष्पचूला द्विचत्वारिंशदोषविशुद्धमाहारं गृह्णातिस्म । अन्यदा भावि  
 दुर्भिक्षं श्रुतोपयोगात् ज्ञात्वा अन्निकापुत्रसूरिर्गच्छं देशान्तरे प्रैषीत् । प्रक्षीणजङ्घाबलाः सूरयस्तत्र तस्थुरन्निका-  
 पुत्राहाः । भक्तपानं च शुद्धं श्रीगुरुभ्यः पुष्पचूलाऽन्तःपुरादानीय दत्ते । क्रमाद्गुरुशुश्रूषाप्रकर्षात् क्षपकश्रेण्यारोहात्  
 केवलज्ञानमुत्पेदे महासत्याः । उत्पन्ने केवलज्ञानेऽपि गुरुरैवावृत्त्यान्न विराम सा । यावन्न ज्ञातं छद्मस्थेन केवलज्ञानो-  
 त्पत्तिस्वरूपं—तावत्केवल्यपि शुद्धाहारदानादिं विनयं करोतीति । केवल्युताऽपि सा साध्वी शुद्धमाहारमानीय गुरुभ्यो  
 ददौ । अन्यदा वर्षति जलदे पुष्पचूला साध्वी केवलज्ञानवत्यपि यावद्गुरुपार्श्वे आहारं आनीतवती तावद्गुरुभिरुक्तम्—  
 वत्से ! पुण्यवति ! श्रुतज्ञाऽसि, किमेवंविधे वर्षति जलदे त्वयाऽऽहार आनीतः । तयोक्तम् । यत्र यत्र प्रदेशेषु अध्कायो-

ऽधिचोऽस्ति, तेषु यत्नादहमत्रायामि । गुरुराह—कुतस्त्वयाऽचित्तप्रदेशो ज्ञायते । तथोक्तं त्वत्पदप्रसादादेव ज्ञायते । गुरुभिरुक्तम्—प्रतिपातिज्ञानं विद्यतेऽथवाऽप्रतिपाति ? तथोक्तमप्रतिपातिज्ञानमस्ति । ततो गुरव उत्थाय मिथ्यादुष्कृतं भवतु, मया हा खेदे केवल्यशातना कृता इति पुनः पुनः स्वं निन्दन्तः पप्रच्छुस्तां सार्धं प्रति । अहं किं सेत्स्यामि न वेति ? केवली प्राह—माकृध्वमधृतिं गङ्गां नदीमुत्तरतां युष्माकं केवलज्ञानं भविष्यति । ततो गङ्गामुत्तरीतुं भूरिलोकैः सह नावमारोह सूरिः । यत्र यत्र सूरिन्यर्पयिष्यति तत्र नौर्नमत्यधः । तदनु मध्यासीने मुनौ सर्वोपि नौर्मङ्क्तुं लभ्या । ततः सूरिलोकैर्जले क्षितः । दुर्भगीकरणविराधया प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽन्तर्जलं शूले निहितः । शूलप्रोतोऽपि हा मदीयरुधिरेणाष्कायविराधना भाविन्यस्तीति क्षपकश्रेण्यारूढः सर्वकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानः सद्यः समाप्तायुष्कोऽन्त-कृतकेवली सिद्धोऽन्निकापुत्र आचार्यशिरोमणिः । तदा तत्र समेत्यासन्नैः सूरैस्तस्यान्तकृतकेवलिनः केवलमहश्चक्रे । अतस्तत्तीर्थं जातं जगति विख्यातं प्रयाग इति लोके । शूलप्रोतत्वाद् गतानुगतिकतयाऽद्यापि परसमये माहेश्वराः स्वाङ्गे क्रकचं दापयन्ति । सूरैः करोटिर्यादोभिस्त्रोटयमानाऽपि जलोर्मिभिर्नदीतीरं प्राप्ता, इतस्ततो गच्छन्ती शुक्तिवन्नदीतटे कापि गुप्तविपमे प्रदेशे विलग्न्य तस्थौ । तस्य च करोटिकर्परस्यान्तः कदाचित् पाटलाया बीजं पपात । क्रमात्तं करोटिकर्परं

भित्त्वा दक्षिणह्नोः पाटलातरुद्वतो विशालश्च क्रमादजनि । तदत्र पाटलिद्रोः प्रभावोऽभूत् । तं तादृशं पाटलितरुं  
 प्रेक्ष्य नवीनपुरस्थापनाय राजा स्वसेवकानादिदेश । विचक्षणस्ते पाटलायाः स्थानाच्चतसृषु दिक्षु पूर्वादिषु शिवायाः  
 शब्दं जायमानं श्रुत्वा तावन्तमवधीकृत्य पुरस्य चतुरस्रं संनिवेशं चक्रुः । पाटलायाश्चतसृषु दिक्षु स्थापनत्वात्  
 पाटलातरोः समीपे पुरनिवेशनात् पाटलिपुत्रं पत्तनं बभूव । राजा तत्रागत्य तन्नगरं स्थापयामास । महादानं ददौ  
 च । तस्य पाटलातरोरसमुत्सुमबहुलतया च कुसुमपुरमित्यपि रूढं पुरम् । तस्य पुरस्य मध्ये कैलासशैलसोदरं  
 रफटिकरश्मिमयं श्रीजिनप्रासादं राजा कारयामास । तन्मध्ये अरिष्टरत्नमयीं नेमिप्रतिमां भूरिद्रव्यव्ययान्महोत्सवपूर्वं  
 स्थापयामास उदायी राजा । तत्र प्राकारानेकजिनप्रासादमहेभ्यालयवापीकूपतडागावाससन्नागरादिरम्यं पुरं स्वश्रिया  
 स्वर्गपुरीं जिगाय । तत्रोदायी राजा जिनधर्मवासितसप्तधातुश्चिरं राज्यं चकार । अन्येद्युरुदायी भूपः श्रीगुरु-  
 पार्श्वे धर्म्मं श्रोतुं गतः । तत्रेति धर्मः श्रीगुरुभिरुक्तः । प्राज्यानि राज्यानि सुभोजनानि, सौभाग्यनैरोग्यसुयोग्य-  
 वर्ग्याः । रामा रमा रम्ययशोविलासाः, स्वर्गापवर्गौ प्रभवन्ति धर्मात् ॥१॥ दारिद्र्यमुद्रा परकर्मकृच्च दुष्टस्वभावोऽसुखसङ्ग-  
 तानि । एकत्वरङ्कत्वकदम्बमोज्यकुरूपमुल्यानि भवन्त्यधर्मात् ॥२॥ यः शत्रुञ्जये गत्वा श्रीगुणादिजिनं प्रणमति स स्वर्गा-



पवर्गो लभते । “शत्रुञ्जये जिने दृष्टे, दुर्गतिद्वितयं क्षिपेत् । सागराणां सहस्रं तु, ध्यानाल्लक्षमभिग्रहात् ॥ १ ॥ नमस्कार-  
समो मन्त्रः, शत्रुञ्जयसमो गिरिः । गजेन्द्रपदजं नीरं, निर्द्वन्द्वं सुवनत्रये ॥ २ ॥ स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं, नत्वा  
रैवतकाचलम् । स्नात्वा गजपदे कुण्डे, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥ ” श्रुत्वेति शत्रुञ्जयमाहात्म्यं राजा भूरिदेशेभ्यः  
श्रीसङ्घमाकार्य शुभे मुहूर्ते श्रीशत्रुञ्जयं प्रति देवान्नन्तु चचाल । मार्गे स्थाने जिनप्रासादेषु पूजास्नात्रमहोत्सव-  
ध्वजावारिकादि कुर्वाणो राजा शत्रुञ्जये ययौ । तत्रापि श्रीयुगादिदेवस्य स्नात्रपूजाध्वजावारिकादिमहोत्सवं भूषश्चकार ।  
ततः श्रीगिरिनारगिरावपि गत्वा श्रीनेमिजिनं प्रपूज्य स्वं जन्म कृतार्थं चकार राजा । यतः “ शत्रुञ्जयादिरयमादि-  
युगे गरीयान्, आसीदसीमसुकृतोदयराशिरेव । आदीयमानसुकृतः किल भव्यलोकैः, काले कलौ भजति सम्प्रति  
दुर्वलत्वम् ॥ १ ॥ ” ततो ह्ययोरपि तीर्थयोर्यात्रां कृत्वा श्रीउदायी महीपतिः स्वपुरस्माजगाम । स्वपुरेऽपि जिनप्रासादे  
स्नात्रमहोत्सवं कारयामास । अनेके जिनप्रासादा राज्ञा कारिताः । श्रीदेवगुरुभक्तिं करोतिस्म, उभयकालं प्रतिक्रमणं  
करोति, त्रिसन्ध्यं जिनपूजां करोति राजा । एवं धर्मं कुर्वाणः क्रमाद्वृद्धभावं प्रासः सन् [स्वं पुत्रं राज्ये निवेश्य] स्वयं कृता-  
राधनापताकः स्वर्गं जगामोदायी राजा । ततश्च्युतो मुक्तिमपि यास्यति ॥ इति अन्निकापुत्राचार्योदायिभूपकथा समाप्ता ॥

कृतानेकतमस्कोऽपि, निजं निन्दन् सुभावतः । इर्यापथिकया सिद्धे-ऽतिमुक्त इव देहभाग् ॥ १ ॥

पेढालपुरे महानगरे श्रीविजयराजा राज्यं चकार । तस्य राज्ञी सञ्छीलशालिनी । द्वावपि  
जिनधर्मकुशलौ । दानशीलतपोभावनापूजाप्रभावनाऽमारिषोषणासप्तक्षेत्रीस्वधनवपनादि पुण्यं कुरुतः स्मः ।  
यतः—“ स्वल्पश्रीसंयुता येऽपि, दानं कुर्वन्त्यनेकधा । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य, ते धन्या दानिनां मताः ॥ १ ॥ रोगकुं-  
शमदोन्मादैः, सर्वदुःखपरीपहैः । स्वीकृतं ये न मुञ्चन्ति, व्रतं स्युस्ते बुधैः स्तुताः ॥ २ ॥ ” क्रमात्तयोर्धर्मं कुर्वा-  
णयोः सुतोऽभूत् । तस्य पुत्रस्य जन्मोत्सवं कृत्वा राजा अतिमुक्तक इति नाम ददौ । स च कुमारः षट् वार्षिको  
बालत्वे रममाणो गोचरचर्यामागतं श्रीगौतमस्वामिनं दृष्ट्वा हृष्टः सन् प्रणम्य प्राह—भगवन्नहं भवादृशो भविष्यामि ।  
गौतमेनोक्तं त्वं बालोऽसि दीक्षा दुःकराऽस्ति अत्र दुःशक्यं चारित्रमिति । तथाहि—“ तपःक्रियामनोगुप्ति—विनयादि-  
सुकर्मभिः । चारित्रं दुष्करं पुंसां, जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥ ” तेनोक्तं शिशुरप्यहं भवादृशो भविष्यामि । श्रीगौ-  
तमे विशुद्धान्नादि विहृत्य गते बालको मातापित्रोः पुरोऽभ्येत्यावग्—मम व्रतं ददतं । श्रीगौतमस्वामिसदृशो  
भविष्यामि । मातापितृभ्यां प्रोक्तं एवं कथमुच्यते, त्वमेवैकः पुत्र आवयोरासि । राज्यं कस्याधारे भविष्यति ? त्वम-

स्माकं वृद्धत्वे चाधारो भविष्यसि । दीक्षाग्रहणावसरोऽधुना आवयोर्विद्यते । पुत्रः प्राह—मातः किं ज्ञायते को वृद्धः को लघुरनित्यत्वात् ज्ञानाभावाच्च । कः कस्य पुत्रोऽस्ति । संसारे अमतां जीवानां बहवः सम्बन्धा जाताः सन्ति । यतः “माया पियरो भाया, भज्जा पुत्ता य भित्तधणनिवहो । न य सरणं संसारे, जीवाणं मुत्तु जिणवयणं ॥ १ ॥ यः पिता स पुत्रः स्यात्, यः पुत्रः स पिता भवेत् । यः पुत्रः स भवेन्माता, या माता सा सुतो भवेत् ॥ २ ॥ एवं भवे भवेऽनेके, सम्बन्धाः कर्मयोगतः । जायन्ते देहिनां तेन, कः पुत्रः कः पितोच्यते ॥ ३ ॥ ” एवं मातापितरावनुज्ञाप्यातिमुक्तकः कुमारो महामहोत्सवपूर्वकं श्रीगौतमस्वामिहस्ते प्रव्रज्यां जग्राह । श्रीगौतमस्वाम्यादिष्टां क्रियां कुर्वन् दृष्टचित्तः शुद्धं संयममतिमुक्तकर्षिः प्रपालयन् एकदा क्षुधातुरः प्रत्यूषकाले एव कस्यापि श्रेष्ठिनो गृहे भिक्षार्थं गतो, धर्मलाभमतिमुक्तकः क्षुल्लको यावज्जगौ तावच्छ्रेष्ठिपुत्रवध्वा हसन्त्योक्तम् क्षुल्लकमुने ! किं सकाल एव उत्सूरः ? तस्या अपूर्ववाण्यास्तीव चमत्कृतः क्षुल्लकः प्राह—यज्जानामि तन्न जानामि । ततः तयोक्तं क्षुल्लक ! किमुक्तं भवता ? क्षुल्लको निजोक्तस्यार्थं जगौ—सकाले बालानां क उत्सूरः को व्रतहेतुः । यज्जानामि मरणं तत् क्वपि वयसि भविष्यतीति तन्न जानामि । उत्सूरः सकालस्तदा ज्ञायते । यदा ज्ञानं भवति तदत्र मे

नास्ति । इति साभिप्रायमुत्तरं ददौ मुनिः । ततस्तथा चिन्तितं, अहो क्षुल्लकेन सत्यमुक्तम् । ततस्तथा श्राविकया शुद्धधर्मं सम्यत्तत्त्वमूलं द्वादशव्रतं गृहीतं । क्षुल्लकश्च शुद्धान्नपानं विहृत्य धर्मशालायां गतः । अथ क्षुल्लकः कदाचित् वर्षाकाले कल्पिततडागिकायां सवयोभिः शिशुभिः समं नौवत् निजजलपात्रं तारयन् श्रीगौतमस्वामिनं प्रेक्ष्य लज्जितः । ततः सापन्नपः क्षुल्लकः श्रीवीरसमवसरणे जगद्गुरोः पुरो वासनायाः प्रायश्चित्तरूपां ईर्यापथिकीं प्रतिक्रमन् ' दगमट्टी दगमट्टी ' इति शब्दमुच्चरन् पृथ्वीकायकानपक्वायकान् जीवान् क्षामयन् सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं प्राप । ततस्तत्राभ्येत्य देवाः केवलमहोत्सावं चक्रुः । यतः " प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत् । यन्न हन्यान्नरस्तीव्र-तपसा जन्मकोटिभिः ॥ १ ॥ मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गि, मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥ २ ॥ " ततोऽतिमुक्तकेवली भव्यजीवान् प्रतिबोधयन् प्रतिदेशं प्रतिनगरं प्रतिग्रामं सूर्यपुरीबहिरुद्याने समवासार्षीत् । तत्र जितशत्रुनृपतिरनेकजनयुतो वन्दितुं ययौ । त्रिःप्रदाक्षिणां दत्त्वा धर्मं श्रोतुमग्रत उपविष्टः । अति-मुक्तकेवली धर्मोपदेशनां ददाविति । तथाहि—आयुर्वायुचलं सुरेश्वरधनुर्लोलं बलं यौवनं, विद्युद्दण्डतुलं धनं गिरिनदीक-छोलवचस्त्रलम् । रत्नेहं कुञ्जरकर्णतालचपलं देहं च रोगाकुलं, ज्ञात्वा भव्यजनाः सदा कुरुत भो धर्मं महानिश्चलम् ॥ १ ॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा, यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः । आत्मश्रेयासि तान्न-  
देव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्, संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ २ ॥ जन्तूनामवनं जिनेश-  
नमनं शक्त्यागमाकर्णनं, साधूनां नमनं मदापनयनं सम्यग्गुरोर्माननम् । मायाया हननं क्रुधश्चरामनं लोभद्रुमो-  
न्मूलनं, चेतःशोधनमिन्द्रियाश्वदमनं यत्तच्छिवोपायनम् ॥ ३ ॥ ततस्तत्र भूपतिरनेकसुभ्राद्धसंयुतः सम्यक्त्व-  
मूलद्वादशव्रतयुतं धर्मं जग्राह । बहुदेशेषु भव्यजीवान् प्रतिबोध्यायुषः क्षयादतिमुत्तकः क्षुल्लको मुक्तिं जगाम ।

॥ इति अतिमुत्तककेवलिकथानकं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अदत्तं यो न गृह्णाति, परस्य दुःखितोऽपि सन् । नागदत्त इवाप्नोति, स मुक्तिकमलां क्रमात् ॥ १ ॥

वाणारस्यां जितशत्रुनृपो राज्यं करोति स्म । तत्र यज्ञदत्तः श्रेष्ठी, तस्य प्रिया धनश्रीः । तयोर्जिनोक्तं  
धर्मं कुर्वाणयोः क्रमात् पुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सवं कृत्वा तस्य सुनोर्नागदत्त इति नाम दत्तं मातापितृभ्याम् । लेख-  
शालायां पाठशालायां च कर्मधर्मशाले पपाठ नागदत्तः । पितरि मृते द्रव्यार्थं कस्यचिद्धानमाराह्य लक्ष्मीकृते पर-

दीपे गतो नागदत्तः । ततो बहुधनमर्जयित्वा पश्चाद्यानारुढो महेभ्येन समं चचाल जलधिमार्गेण । अकस्मा-  
द्यानपात्रं नीचस्थानस्थितजले पतितं न निर्गच्छति । तदा सर्वेपि लोका व्याकुला बभूवुः । शान्तिकपौष्टिकानि  
कुर्वन्ति लोकाः । तदा नागदत्तोऽवगू-यानस्वामिनं प्रति आसन्नश्चैले भारण्डाः पक्षिणो बहव उपविष्टा दृश्यन्ते ।  
यदि तत्र गत्वा कोऽपि साहसी पुमांस्तानुद्वापयति तदा तेषां पक्षेभ्यो बहुवीर्यरुतपत्स्यते, तेन यानं निस्स-  
रिष्यति । ततः प्रोक्तं यानस्वामिना कस्याप्यस्ति तत्र गन्तुं शक्तिः । कोऽपि नोत्सहते भयात् तदानीं  
यानेशेनोक्तं यो गच्छति तत्र तस्य दीनारशतं दास्यते । ततो नागदत्तस्तत्र गत्वा साहसी नमस्कारोच्चारपूर्वं  
यानपात्रकर्पणाय भारण्डानुद्वापयामास । तत्पक्षोत्पन्नवातेनाब्धिजलं मूर्च्छितम् । ततश्चोर्मिभिरुत्पाद्य यानं बहिः  
कर्षितम् । यानेशः स्वमन्दिरे गतः । नागदत्तः तत्र स्थितः क्षुधया पीडितो निर्गमनोपायं चिन्तयति । ततश्चिन्तितं  
क्षुधया पीडित आर्त्यो यदि मरिष्यामि तदा दुर्गतिर्भविष्यति मे, ततोऽधुनैव जले पतित्वा मरिष्ये । एवं विचिन्त्य  
शम्पा दत्ता । पतितो नागदत्तो मत्स्यमुखे । मत्स्यो गच्छंस्तटं प्राप्तः । यावन्मत्स्येन मुखं विकसितं तावन्नागदत्तो  
ब्रह्मिर्निस्सार । कस्मिंश्चिज्जलाशये गत्वा जलं पीत्वा स्वस्थीभूय फलास्वादं चकार । नागदत्तो भ्रमंश्च क्रमात्

रवपुरं प्राप । धनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे दीनारशतं याचतेस्म । ततो धनदतो नार्पयति लोभात् कथयति च । त्वं कः केन दृष्टः कूटं न जल्प्यते, नागदत्तोऽवग्—यदि मम दीनारशतं नार्पयिष्यसि तदा राजपार्श्वे त्वां दण्डयिष्यामि । धनदत्तोऽवग्—यदि तत्र शक्तिर्भवति तदा स्वचिन्तितं कुरु । नागदत्तः परधनपराङ्मुखो न कस्यापि पतितं धनं गृह्णाति । इतस्तत्र प्रियभिन्नसार्थपतेः सुता नागवसुरभूत् । अत्यन्तरूपवती वर्द्धमाना क्रमात् प्राप्तसर्वकलाकुशला नागदत्तं वरीतुकामाऽभूत् । इत आरक्षकवसुदेवेन याचिता नागवसुः । प्रियभिन्नसार्थपतिस्तां तस्मै न ददौ । ततो नागदत्तेन नागवसुः परिणीता । ततो वसुदेवो जातमत्सरो नागदत्तमनर्थे पातयितुं छलं विलोकयामास । एकदा राजवाहनिकाया व्यावर्तमानस्य नृपतेरनाभोगात् कुण्डलं भ्रमण्डले पतितम् । ततस्तत्रागतो नागदत्तोऽदत्तपरिहारव्रती तं कुण्डलं वीक्ष्य मार्गान्तरेण गत्वाष्टमीदिने कार्योत्सर्गे वने स्थितः । तदा स तलारक्षस्तं कुण्डलं दृष्ट्वा गृहीत्वा प्रतिमास्थस्य नागदत्तस्य पार्श्वे वस्त्रेणाच्छाद्य मुमोच विभ्रे पातयितुं तम् । राजा तद्रत्नमयं कुण्डलं विलोकयति यावत्तावद्वसुदेवोऽभ्येत्य जगौ । स्वाभिन् राजमार्गेऽहमुपविष्टोऽभूवं यदा तदा नागदत्तेन नीचिर्भूत्वा किं गृहीतं न ज्ञायते । ततो राज्ञ आदेशात् नागदत्तं विलोकयितुं सेवका गताः । भ्रमन्तस्ते प्रतिमास्थं नागदत्तं दृष्ट्वा तत्पार्श्वे गताः । वस्त्रेणाच्छादितं कुण्डलं

नागदत्तपार्श्वे दृष्ट्वा तैः राज्ञः कथितं नागदत्तस्वरूपम् । राजा जगौ । एवंविधो यो दंभं कुर्वन्नीदृशं कर्म करोति,  
 तस्य शूलरोप एव क्रियते । ततोऽवनीपतेरादेशाद्विडम्बनाकृते खरारूढं विधाय नागदत्तं राजसेवकाः शूलारोपकृते  
 वध्यभूमिं नीतवन्तः । तैः वध्यवादित्रेषु बाधमानेषु नागदत्तः शूलिकायां यावत् प्रक्षिप्तस्तावच्छूला सिंहासनमभूत् ।  
 प्रहारा आभरणानि । एवं द्वित्रिवारे कृते सति राजा तत्रागाद्यावत्तावच्छासनदेव्या तत्पुण्याकृष्टया तत्रागतया  
 व्योमरिथतया प्रोक्तम्—भाग्यवान् विद्यते नागदत्त एष नरोत्तमः । यतोऽसौ परकीयं स्वं न लाति प्राणाययेऽपि ।  
 अस्य पुरा धनदत्तेन दीनारशतं रक्षितम् । अधुना तु वसुदेवेनेदं छलं कृतम् । असौ परद्रव्यपराङ्मुखो विद्यते ।  
 एवमुक्त्वा गतायां शासनदेव्यां, राजा तं सन्मान्य पट्टकुञ्जरारूढं कृत्वा महोत्सवपुरस्सरं स्वगृहे आनीय बहुद्रव्य-  
 दानेन सन्मानयामास । यतः—“धम्मो मंगलमूलं, ओसहमूलं च सव्वदुरकाणं । धम्मो बलं च विउलं, धम्मो  
 ताणं च सरणं च ॥ १ ॥ धम्मो मंगलमुक्किडं, अहिंसा संजमो तवो । देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया  
 मणो ॥ २ ॥” ततो राज्ञा धनदत्तपार्श्वेदीनारशतं दापितं तस्मै । वसुदेवो देशत्यागं कारितो दुर्जनत्वात् । यतः  
 “अधर्माच्छिभते जन्तु—दुःखरोगादिसन्ततिम् । अल्पायुस्त्वमसन्मानं, दौर्भाग्यं निःस्वतां पुनः ॥ १ ॥” ततश्चिरं



जैनधर्ममाराध्य प्रान्ते प्रव्रज्यां गृहीत्वा सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं नागदत्तः प्राप । ततो महीमण्डले भूरिभव्यजन-  
कुमुदवनं वचनगोभिः प्रबोध्य नागदत्तकेवलचिन्द्रमा मुक्तिं जगाम ।

इति अदत्ताग्रहणे नागदत्तकथा समाप्ता ॥ ७ ॥

क्रोधमानादिदर्पणां, यो न याति वशं मनाग् । स एव लभते मुक्तिं, नागदत्तकुमारवत् ॥ १ ॥

तथाहि—पूर्वं द्वौ कुमारौ साधू भूत्वा तपः कुर्वाणौ स्वर्गं गतौ । तत्रस्थाभ्यां ताभ्यां मिथः एवं प्रोक्तम्—यः  
प्रथमं देवलोकान्मर्त्यलोकं प्राप्नोति स देवेन स्वर्गदागत्य प्रतिबोध्यः । लक्ष्मीपुरे पुरे धनदत्तः श्रेष्ठी वसतिस्म । देवदत्ता  
पत्नी । अन्येद्युः पुत्रार्थं नागदेवतामाराधय श्रेष्ठी । प्रसन्नीभूय देवोऽवग्—तव पुत्रो भविष्यति । इतः क्रमात् स्वर्गदेवः  
साधुजीवदेवो दत्तपुत्रोऽभूत् । जन्मोत्सवं कृत्वा पिता नागदत्तं नामादात्सूनोः । क्रमाद्वाससतिकलाकुशलोऽजनि ।  
गन्धर्वनागदत्तोऽसौ ख्यातो गन्धर्वकौशललात् । मुजङ्गमकेलिव्यसनी जातः । इतोऽवाधिज्ञानेन स्वमित्रं नागदत्तं व्यसनितं  
मत्वा देवः प्रबोध्यति । नागदत्तो मनागपि व्यसनं न मुञ्चति । सर्पान् खेलयति । अन्येद्युः सर्पैः करंडकं भूत्वा मित्रैः

सहोद्याने गन्धर्वनागदत्तः क्रीडां कर्तुं ययौ । तत्र यावत् सर्पान् खेलयति तावदेवस्तं तत्र ज्ञात्वा गारुडिकरूपधरः  
सर्पभृतकरण्डकं गृहीत्वा तत्रागात् । ततो भित्रैरुक्तं देवायं सर्पखेलको नरो विद्यते । ततस्तं गन्धर्वनागदत्तो जगौ—  
किमत्र करण्डकेऽस्ति ? स सुरो गारुडिकवेष्टभृत प्राह—सर्पः सन्त्यत्र । ततो नागदत्तो जगौ—रमस्व मम सर्पैस्त्वं,  
तत्र सर्पैरहमपि रेमे । ततो गारुडिकदेवो नागदत्तसर्पैः चिक्रीड । तदा तैः सर्पैर्देष्टोऽपि गारुडिको न  
म्रियतेस्म । गन्धर्वनागदत्तस्तदाऽऽमर्षाज्जगौ—अहं तव सर्पे रेमे । देवोऽवग्—भो महानुभाग ! मम सर्पैर्देष्टव्यं मरिष्यसि ।  
नागदत्तो जगौ—मुञ्च त्वं स्वसर्पान् । ततस्तत्र मण्डलमालिख्य सर्पकरण्डकान् मुक्त्वा चतुर्दिशं गारुडिकः सुर आकार्य  
लोकान् जगौ गंधर्वनागदत्तो—इच्छइ सर्पेहि खिष्टियं इहयं । सो जइ कहंवि खज्जइ, ममावि दोसो न दायव्वो ॥ १ ॥  
ममायमहिरीदृशोऽस्ति । तरुणदिवायरनयणो, विज्जुलयाचंचलगर्जाहालो । धोरमहाविसदाढो, उक्का इव पज्जलि-  
यरोसो ॥ २ ॥ एवंविधोऽहिर्विद्यते क्रूरः । डक्को जेण मणुस्सो, कयमकयं वा न याणइ बहंपि । अहिस्समाणमच्चू,  
कहमिच्छसि तं महानागं ॥ ३ ॥ मेरुगिरिगुंसिहरो, अट्टफणो जमलजुअलर्जाहालो । दाहिणपासंसि ठिओ, माणेण  
वियट्टई नागो ॥ ४ ॥ डक्को जेण मणुस्सो, थद्धो न गणेइ देवरायमवि । तं मेरुपव्वयनिहं, कहमिच्छसि तं महानागं

॥ ५ ॥ अस्मिन् करण्डके मायानागी समस्ति सा कीदृशी । सल्लियविच्छहलगई, सल्लियलंछणं कियपडागा । माया-  
मई या नागी, नियडिकवडवंचणाकुसला ॥ ६ ॥ तं च सि बालगहाही, अणोसहिबलो अ अपडिहत्थो अ । सा य  
चिर संचियविसा, गहणंभि वणे वसइ नागी ॥७॥ हुज्ज हु ते विणु वाऊ, तीसे दाढंतरं उवगयरस । अप्पोसहिमंत-  
बलो, नहु अप्पाणं विगिच्छिहिसि ॥ ८ ॥ इत उत्तरस्यामीद्वग् नागोऽस्ति । उत्तरमाणो सव्वं, महालओ पुन्नमेह-  
निग्घोसो । उत्तरभागंमि ठिओ, लोहेण वियट्ठई नागो ॥ ९ ॥ डक्को जेण मणूसो, होइ महासागरव्व डुप्पूरो । तं  
सव्वविससमुदयं, कहंभिच्छसि तं महानागं ॥ १० ॥ ए एते पात्राही, चत्तारिवि कोहमाणमायलोहा । जेहिं मया संततं,  
जरियमिव जगं कलकलइ ॥ ११ ॥ एयेहि जो अ खज्जइ, चउहिवि आसीविसेहि पावेहिं । अवसरस नरयपडणं, नत्थि  
सिआलंबणं किंचि ॥ १२ ॥ एवं प्रोच्य तेन सुरेण गारुडिकेन ते सर्पा मुक्ताः । स गन्धर्वनागदत्तस्तैः सर्पैर्दृष्टो मृतस्तदा-  
नीम् । गन्धर्वनागदत्तसेवका जगुरहो किं कृतं भवद्भिः सुरो जगौ मयाऽसौ वारितोऽपि न तिष्ठति तदा किं क्रियते । तस्य  
सुहृद्भिर्भेषजादि कृतं बहु परं गुणो नाभूत् तस्य । ततस्तद्भृत्याः पादयोः पतित्वा जगुरभुं जीवय प्रसध । देवोऽवोचत् दृष्टोऽ-  
हमभूवं पुरा पुनः ईदृक्षया क्रियया जीवितः । मदुक्तां क्रियां करोत्येष यदि तदासौ जीवति । यदि तां क्रियामङ्गीकृत्य

अग्रतोऽसौ न पालयिष्यति तदा पुनर्मृत एव । एतच्चरित्रं शास्त्रकृद् गाथाभिराह—“एरेहि अहं खड्गो, चउहि वि  
 आभीविसेहि पावेहि । विसनिग्वायणहेतुं, चरामि विविहं तवो कम्मं ॥१॥ सेवामि सेलकाणण-सुसाणसुन्नघररुक्खमूलाइं ।  
 पावाहीणं तेसिं, खणमवि न उवेमि विसंभं ॥ २ ॥ अच्चाहारो न सहइ, अइनिद्धेणवि सया उइज्जंति । जायामायाहारो,  
 तं पि य गामं न भुंजामि ॥ ३ ॥ ओसन्नकयाहारो, अहवा विगइविवज्जिआहारो । जं किंचि कयाहारो, अवउज्झिय  
 थोवआहारो ॥ ४ ॥ अह जो थोवाहारो, थोवयभणिओ अ थोवनिदो अ । थोवोवहिउवगरणो, तस्स हु देवा वि पण-  
 मंति ॥ ५ ॥ सिद्धे नमंसिऊणं, संसारत्था य जे महाविज्जा । वुच्छामि दंडकिरियं, सब्विसनिवारणं विज्जं ॥ ६ ॥  
 सा चेयं विद्या । सर्वं पाणाइवायं, पच्चक्खाइत्ति अलियवयणं वा सर्वं अदत्तदाणं, अबंभं च परिगहं स्वाहा ॥७॥ एतच्छुत्वो-  
 त्तरथौ स मातापितृभिरुक्तं । अयमस्सत्पुत्रः स्वयमुत्थितः । ततस्तथैव पतितः । मातापितृभिरुक्तम् अमुं—जीवय  
 यत्करोतु तत्करोतु । ततः पुनरपि उत्थापितः । ततो देवः प्राग्भवं तस्याचख्यौ । ततो जातिस्मृतिं प्राप्य दीक्षां  
 ललौ । जगौ लोकत्रे—चतुःसर्पतुल्याः क्रोधमानमायालोभाः, एतैः क्रोधाद्यहिभिर्यो न दष्टः स परमं पदं याति ।  
 अहं तु पूर्वमेतैः क्रोधाद्यहिभिर्ग्रस्तोऽभवम् । अधुना त्वनेन देवेन प्राग्भवमित्रैर्णेतैभ्यः क्रोधाद्यहिभ्यो मोचितोऽहम् ।

तत एतेषां क्रोधाद्यहीनां वशे न गन्तव्यम् । ततो देवः स्वस्थाने गतः । मातापितरावपि स्वस्थाने गतौ । नागदत्तश्च क्रोधाद्यहीन् चतुरो निर्जित्य सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिं ययौ ॥ इति नागदत्तकथा समाप्ता ॥ ८ ॥

मेअज्ज थूलिभद्दो, वयरिस्सिं नंदिसेण सीहगिरी ।

कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंझ ॥ २ ॥

वाग्मी स्वाङ्गैः समं प्राणि-रक्षां कुर्वन् भवेत् भुवि । मेतार्यैरिवाप्नोति, कल्याणकमलां हुतम् ॥ १ ॥

तथाहि । निजर्द्धिपराभूतपुरुहूतपुरे साकेतपत्तने चन्द्रावतंसभूपो न्यायेन राज्यं करोतिस्म । तस्य प्रिया सुदर्शना । सागरचन्द्रमुनिचन्द्रौ सुतौ । सागरचन्द्रस्य युवराजपदवी राज्ञा दत्ता । मुनिचन्द्रा योज्जयिनीराज्यं दत्तम् । क्रमात् तस्य चन्द्रावतंसस्य प्रियदर्शना पत्न्यभूत् । सा गुणचन्द्रबालचन्द्रौ सुतौ सूतेस्म । चन्द्रावतंस इह लोके परत्र हितं धर्मं करोति । अन्येच्च राज्यकार्यं सर्वं समाप्य सन्ध्यायां प्रतिक्रमणाद्दि कार्यं कृत्वा कायोत्सर्गं ललौ राजा । यावदयं दीपको ज्वलिष्यति तावन्मया कायोत्सर्गः कर्तव्यः इति । तदा दास्या ध्यातमयं दीपो यदि विधास्यति तदा राज्ञो दुःशकः कायोत्सर्गो भविष्यति । ततस्तदा तथा तैलं पुनः पुनस्तावत् प्रक्षितं यावत् प्रातरभूत् । प्रातर्द्विपे क्षयं गते

राजा कायोत्सर्गः पारितः । ततोऽकस्मादायुषः क्षये राजा स्वर्गं गतः । तत्पट्टे सागरचन्द्रो राजा न्यायात् राज्यं  
 चकार । स राजाऽन्यदा मातुः सपत्नीं प्रियदर्शनां प्रति प्राह—राज्यश्रीरियं लोकोऽपि तातं विना मां प्रीणाति नो तेन  
 गुणचन्द्रायानुजन्मने राज्यश्रियं वित्तीर्याहं दीक्षां जिघृक्षामि यदि तवानुमतिर्भवेत् । तयोचे—वत्स धन्यस्त्वं यस्या-  
 मारं संसारे मनो न रज्यते । राज्यभारो महान् अस्य त्वदनुजस्य लघोर्दुःशकः तेनाधुना त्वया राज्यत्यजने न वक्त-  
 व्यम् । तथा प्रियदर्शनया प्रबोधितो निर्विकल्पमना राजा प्रजाः पालयामास । क्रमात् प्रवर्द्धमानमहर्द्धिराजान-  
 मनलोक्य सीरस्वभानसुलभासीर्ष्यामुद्वहत् प्रियदर्शना । यतः “अन्यस्यापि कलेर्भूलान्, पोषिका एव योषितः ।  
 सापत्नकस्य किं वाच्यं, यस्य ता जन्मभूमयः ॥ १ ॥ यो ब्रह्मा विष्टपस्यास्य, स्रष्टेति श्रूयते जनैः ।  
 सोऽपि जानाति न स्त्रीणां, चित्तानि चरितानि च ॥ २ ॥” तस्मिन् निर्दोषेऽपि भूपतौ सा द्वेषं दधाति ।  
 बायालीलीत्याऽन्येद्युर्वने राजा गतः । तत्रस्थस्य राज्ञो मोदकान् दास्या हस्तेन प्रातराशार्थं सुदर्शना प्रैषीत् ।  
 वर्तमाने प्रियदर्शना सपत्नीजितत्वात् भूपं हन्तुकामा तान् मोदकान् हस्ते गृहीत्वा विषमिश्रितान् कृत्वा प्रीतिपुस्सरं  
 दास्यै ददौ । वने क्रीडां कृत्वा राजा यावद् बन्धुद्वययुक्तः सिंहासनेऽस्थाय तावदासी मोदकानानीय ददौ । राजा तु

करुणापरत्वात् क्षुधार्तयोर्बान्धवयोर्द्विधा कृत्वा ददौ । एतौ बान्धवौ लघू अहं तु वृद्धः । वृद्धस्य यथातथा खादनं न वरम् । ततो यावत्तौ मोदकं खादतः स्म तावदचेतनीभूतौ तौ बान्धवौ द्वेष्टा दृष्टौ राजा । न माता तु विषं ददाति पुत्राय तेनात्र केन कारणेन भाव्यं । ततस्तत्क्षणात् कुमारौ स्वर्णमानीय तत्पानीयं पाथितौ राज्ञा । ततस्तौ प्रगुणौ कृतौ । दासीं पृष्ट्वा विषप्रक्षेपस्वरूपं ज्ञात्वा राजांतःपुरमध्येऽभ्येत्य विमातरं प्रति जगौ-धिगू त्वां या त्वमेवंविधं कूटं मम मृत्यवेऽकार्षीः । मयि कूटं रचितं त्वया तत् तव पुत्रयोरुपरि पतितमभूत् । मया तु प्रगुणीकृतौ । मम तु पुराऽपि राज्येच्छा नास्ति । त्वदुपरोधात् राज्यं कूटं-राज्येन किं क्रियते । येनानैवंविधा पापनिबन्धिनी श्रमदा-धिनी बुद्धिर्जायते । ततो वात्सल्यात् प्रियदर्शनापुत्राय गुणचन्द्राय वृद्धायावनीराज्यं दत्त्वा स्वयं संयमं सागरचन्द्रो जग्राह । क्रमादेकादशाऽपारीणः सागरचन्द्रर्विरभूत् । अन्येद्युः साधुसंघाटकोऽवन्तीतः रामागतः सागरचन्द्रर्वि-णाऽवन्तीस्वरूपं पृष्टो जगौ-तत्र मुनिचन्द्रराजपुत्रः सौवस्तिकनामपुरोहितपुत्रयुक्तः पाखण्डिनः साधूंश्च बाधते । तन्निशम्य गुरुमापृच्छय सागरचन्द्रर्विः स्वयमवन्त्यामगात् । साधूनामुपाश्रये विश्रान्तो मुनिः । प्रातः स्वागमन-स्वरूपं आतृप्तुतप्रबोधनादियुतं प्रकाश्य मध्याह्ने निर्ययौ मुनिः । सागरचन्द्रराजर्वि राजगृहमध्ये गच्छन्तं द्वेष्टा

ल्लोका जगुः । महानुभाग ! माऽत्रराजगृहे गच्छ राजपुत्रो दुष्टोऽस्ति । पुरोहितपुत्रश्च मुर्नानुपद्रवति तेनान्यगृहे  
गच्छ । मुनिं राजभुवने प्रविशन्तं दृष्ट्वा तावागत्य जल्पतःस्म । भो मुने आवाभ्यां समं त्वया रम्यते ?  
मुनिर्जगौ रम्यते मया । ततो रहसि गत्वा चतुःशालायां कुमारौ मुनिना समं क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तौ । यथातथा जल्पन्तौ  
धर्मावहीलनं कुर्वाणौ युद्धप्रपञ्चेन समभिधातेन मुखोद्धान्तफेनौ कृत्वा तद्देहात् सन्धीरुत्तार्य ततो निःसृत्य शनैर्ब-  
हिरुधाने प्रतिमया तस्थौ मुनिः । इतो राजा तौ तथा क्रन्दन्तौ ज्ञात्वा मुनिवृत्तं पराभवं च रुष्टो जगौ—भो भटा  
येन मुनिना एतौ कुमारौदृशीं दशां प्रापितौ तं विलोकयत । ततो राजपुरुषैर्मुनिं प्रतिमास्थं वीक्ष्य राजात्रे निवे-  
दितम् । आगत्य वने राजा महामुनिं वीक्ष्य प्राह भो यते ! किमीदृक् पापं कृतम् ? यतिराह—राजन् महाकुले  
जातात्रावां किं यतीनां मारणाद्यन्यायः क्रियते । इति श्रुत्वा राजा लज्जया नत्वाऽत्रोमुखोऽभवत् । धर्मलाभाशिषं  
दत्त्वा राजर्षिराचष्ट । भो चन्द्रावतंसपुत्र ! तव यत्यवगणनावहीलनादि न युज्यते ॥ यतः—“हीलिताः साधवोऽत्यन्तं,  
ददते नरके गतिम् । आराधिताः शिवं पुंसां, विश्राणयन्ति सन्ततम् ॥ १ ॥ ” तव पुत्रो वाचंयमादीनामवहीलनां  
करोति । त्वं तु सहसे स्वं आतरं यतिं ज्ञात्वा राजा जगौ—एतौ कुमारौ मुग्धौ । अतः परं केषाञ्चित् साधूनामवहीलनां



न करिष्यतः । मुनिर्जगौ यद्येतौ संयममङ्गीकुरुतः तदाऽहं मुञ्चाभि नो चेत् स्वकृतपापफलमनुभवताम् । ततो राजा तं  
आतरं भक्त्या प्रणम्य स्वपुत्रपार्श्वे आनिनाय । राज्ञोक्तं भो पुत्र ! अयं यतिस्तव पितृव्यः त्वं तु यतीनामपराधं कुरुष्व ।  
यदि युवां दीक्षां गृहीष्यथ; तदाऽसौ युवयोः शरीरं स्वस्थं करोति नो चेदनया पीडया स्वयमेव मरिष्यथः ।  
ततोऽतीव जातवेदनौ तौ जगदतुः—ऋषिप्रोक्तभावां करिष्यावः । ततो मुनिना बन्धनात् मुक्तौ दीक्षां ललतुः ।  
राजाऽपि सागरचन्द्रर्षिमुखात् धर्मं श्रुत्वा सविशेषं पुण्यं कुर्वन् सप्तक्षेत्र्यां स्वां श्रियं व्ययति । द्वावपि राजपु-  
रोहितपुत्रौ शुद्धं चारित्र्यं पालयतः स्म । द्विजजातित्वात् पुरोहितपुत्रोऽथ किमपि मलादि वीक्ष्यावग्—साधुधर्मे न  
शुद्धतेति जुगुप्सां करोति । द्वावपि पालितसंयमौ क्रमान्मृत्वा सुरावभताम् । स्वर्गसुखमनुभवन्तौ द्वावपि  
पूर्वभद्रस्नेहान्मिथः प्रोचतुः यः पूर्वं स्वर्गाच्च्युत्वा नरो भवेत् स नरः स्वर्गस्थेन देवेन समेत्य धर्मे  
बोधनीयः । पूर्वं विप्रर्जीवः स्वर्गाच्च्युतो राजगृहे पुरे चाण्डालकस्य कुटुम्बिन्याः कुक्षावततार । सा चाण्डाल-  
प्रिया कस्यापि श्रेष्ठिनो गृहे कर्म कुर्वती श्रेष्ठिपत्न्या मांसभक्षणदोहदूपरणार्थं मांसादि ददाना श्रेष्ठिप्रियायाः  
प्रीतिभाजनं जाता । अन्यदा कृष्णास्या श्रेष्ठिपत्नी चाण्डालप्रियया जल्पतेति । सखि स्वाभिनि किं तव मनो दूयते किं

तत्र भर्त्राऽपराधश्चक्रे अथवाऽन्येन केनचित् ? । श्रेष्ठिपत्नी जगौ—किं कस्याग्रे मनोदुःखं कथ्यते । यदपत्यं मम भवति  
तन्न जीवति कर्मवशात् किं करोमि । चाण्डालिकाऽवगृह्णन्ती मम तत्र च गर्भोऽधुना समस्ति । मम पुत्रा एव जायन्ते ।  
ततः प्रच्छन्नवृत्त्या आत्मनोर्गर्भयोर्व्यत्ययः क्रियते । ततस्ताभ्यां स्त्रीभ्यामप्रत्ययोर्योर्जातयोर्व्यत्ययः कृतः । यदा  
मेतपत्नी श्रेष्ठिन्याः पार्श्वे समेति तदा श्रेष्ठिन्या प्रोच्यते—त्वदीयोऽयं पुत्रो वर्धते । ततो मेतार्य इति नाम पुत्रस्य  
जन्ममहपूर्वं श्रेष्ठिना दत्तम् । श्रेष्ठिन्या लाल्यमानः क्रमान्मेतार्यो नन्दनः पाठ्यमानः शास्त्राणि षोडशाब्दोऽभूत् ।  
इतः स्वर्गस्थेन पूर्वन्ववित्रेण सुरेणाभ्येत्य मेतार्याग्रे प्रोक्तं स्वं स्वरूपम् । आवाभ्यां स्वर्गस्थाभ्यां या प्रतिज्ञा कृताऽभूत् सा  
स्मरति न वा । संसारोऽयमसारो विद्यते दीक्षां गृहाण । अत्रोपदेशः—“पुरन्दरसहस्राणि, चक्रवर्तिशतान्यपि । कवलीकृतानि  
कालेन, प्रदीपा इव वायुना ॥ १ ॥ कायः संनिहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः स्वप्नसमाः, सर्वमुत्पादितं चलम्  
॥ २ ॥” तेन देवेन सदा मेतार्यो बोध्यमानोऽपि वैराग्यं न गतः । इतो महेभ्यानामष्टभिः पुत्रीभिः समं मेतार्यस्य पित्रा  
विवाहो भेलितः । ततः शुभेऽहनि पिता महेभ्यानामष्टौ पुत्रिका मेतार्यं पर्यणाययत् । ततः स्वर्गेहं प्रति शिबिका-  
रूढो नवोडधियासहितो मेतार्यः सदुत्सवपुरस्सरं राजमार्गे चचाल । इतः स मेतो मेतार्यप्राग्भवमित्रसुराधिष्ठितदेहो मेतां

प्रियां प्रति जगौ । यद्यात्मनः सा पुत्री मृता नाभविष्यत् तदा तस्या अधुना विवाहमहोत्सवमीदृशमहमपि व्यधा-  
स्थम् । तस्याः पुत्र्या विवाहेन मनोरथं सफलमकरिष्ये । मेता स्वपुत्रस्वरूपं जगौ-ततः स मेतो रुष्टः सन् राज-  
मार्गे रामेत्य तं मेतार्यं शिबिकाया उत्तार्य लोकसाक्षिकं जगौ-रे पुत्र त्वं कथमसदृशकुलोत्पन्नाः कन्या एताः पर्य-  
पैषीः । आत्मनः कुलस्य सदृशा एव कन्या परिणीयते । ततः एताः कन्या विहायात्मनो गृहमलङ्कुरु । आत्मनः  
कुलस्य सदृशां कन्यामङ्गीकुरु । पश्यतां रत्नलोकानां स मेतः तं मेतार्यं स्वगृहं नीतवान् । ताः सर्वाः कन्या माता-  
पितृभिः स्वस्वगृहे नीताः । ततः प्रत्यक्षीभूय देवो रहसि जगौ । त्वया पूर्वं स्वर्गे मया सहोक्तमभूत् । यः पूर्वं स्वर्गो-  
च्युत्वा नरो भवेत् स सुरेण प्रतिबोध्यः । त्वं तु प्रथमं व्युतः स्वर्गात् । मनुष्यत्वं च प्राप्तं त्वया । मया प्रतिबो-  
धितोऽपि न प्रबुद्धः तेनेदं कृतम् । मनुष्यजन्म दीक्षाग्रहणेन सफलीकुरु । सोऽपि मेतार्यः प्राह । त्वयाऽहं विषयासक्तो  
यः प्रतिबोधितस्तद्वरं कृतम् । यत्तु लोकमध्येऽहं विगोपितस्तन्मेऽतीव दुनोति । देवोऽवगू-संसारस्तु विरसोऽस्ति । यतः-  
“प्राणेभ्योऽपीह येऽभीष्टा, यैर्विना न क्षणं रतिः । वियोगः सद्यते तेषा-महो कष्टा भवस्थितिः ॥१॥ नान्तकस्य प्रियः कश्चिन्न-  
लक्ष्म्याः कोऽपि वल्लभः । नासौ जरायाः कोऽप्यस्ति, यूयं तदपि मुस्थिताः ॥२॥” मेतार्यः प्राह-त्वत्कथितं करिष्ये । यदि

स नलङ्क उत्तरानि मम । तदा द्वादशाब्दीं भोगान् मुक्त्वा त्वदुक्तं निश्चयात् करिष्ये । त्वं तु कुपापरोऽसि । ततः प्राग्भवदेवः  
 प्रीतः सन् रत्नौघोत्सर्गिणं छागं दत्त्वा काञ्चिद्विद्यां चोक्तवा स स्वर्गोऽगमत् । ततो यानि रत्नानि स छाग उत्ससर्ज ।  
 ते रत्नैः स्थालं भृत्वा मेतः पुत्रवचसा भूपपार्श्वं तं प्राभृतीकृत्य स्वसुतार्थं कन्यां याचते । ततो मन्त्रिभिर्हकितो  
 मेतः प्रतिदिनं तथा करोति । तानि रत्नानि सर्वदिक्प्रसरतेजांसि वीक्ष्य राजा हृष्टोऽपि निजाङ्गजां न दत्तं ।  
 अन्यदाऽभयेनाभयं दत्त्वा रत्नप्राप्तिवृत्तान्तं पृष्टो मेतस्तं च्छागस्वरूपं प्राह । ततोऽभयेन तं छागं रत्नौघोत्सर्गिणं  
 दृष्ट्वा राज्ञोऽग्रे प्रोक्तम् । ततः स्वगृहे आनीतोऽभयेन छागो दुर्गन्धोत्सर्गी ( जातः ) । पश्चान्मेतायार्पितः । उच्ये चाभयः  
 त्वामिन् मेतस्य गृहे छागो रत्नौघं देदीप्यमानं यद् व्युत्सृजति । तत्कस्यापि देवस्य चेष्टितं तेनायं न मेतश्चाण्डालः  
 किन्तु कोऽपि सत्तमः पुमान् । तेन परीक्षा क्रियते । ततोऽभयकुमारस्तं मेतमाकार्यं तातवचोद्वारेण प्राह—श्रीमहा-  
 धीरो वैभारगिरौ समायातोऽस्ति । तत्रान्तरा यो विषमो मार्गोऽस्ति । स च त्वया विशिष्टपद्यानिष्पादनात् सुगमः  
 कर्तव्यः । ततस्तेन मेतेन देवतासानिध्यतः क्षणादभयोक्तं कृतम् । तथाऽद्यापि राजगृहे दृश्यते । भूपतिनिर्देशात्  
 प्राकारो हिरण्यमय उत्तुङ्गश्च शृङ्गारोऽभयकुमारेण मेतपार्श्वेत् कारितः । अभयोऽवगुं भो मेत यदि ते सुतं समुद्र-

प्रवाहे रनपयसि तदाऽहं तव पुत्राय भूपसुतां दास्यामि । ततो मेतेन देवपार्श्वीत् समुद्रप्रवाहमानीय सर्वलोकसाक्षिकं  
मेतार्थः स्नापितः । तथाऽपि राजा न दिस्सति तदाभयोऽवग् पूर्वं किमुत्तममध्यमविवाहो नाभूत् । यतः—“एकवर्णभिदं  
सर्वं पूर्वं० आसीत् ॥१॥” इति अभयोक्तं श्रुत्वा श्रेणिकः पुत्रो ददौ । अन्या अपि अष्टौ पूर्वं वरिताः कन्या मेतार्य-  
मङ्गीचक्र । राज्ञा धवलगृहमर्पितम् । नवभिः प्रियाभिः सुखगनुभवन् मेतार्यो द्वादशाब्दीमतिचक्राम । ततः पुनरपि  
देवेन बोधितः । ततः प्रातश्चैराग्यो गेतार्थः स्वपुत्रेभ्यः स्वां श्रियं त्रितिर्यं सदारो गुरुपाश्वे व्रतं जग्राह । क्रमेण मेतार्यो  
जिनकल्पविहारं प्रपेदे । अन्यदा पुरमध्ये गोचर्यायां भ्रमन् मेतार्यः स्वर्णकारगृहे जगाम । तदा श्रेणिको जिनपूजां  
कुर्वन् त्रिसन्ध्यं अष्टोत्तरशतेन स्वर्णभगवत्समूहेन स्वस्तिकं करोति देवाग्रे नित्यम् । तदानीं स्वर्णकारस्तान् यवांस्तत्र  
हृष्टे मुचन्वा कार्यार्थं गृहमध्ये गतः ततोऽकस्मात्तत्रागतः क्रौञ्चो यवभ्रान्त्या तान् स्वर्णयनान् मुनेः पश्यतो जगाल ।  
ततो बहिरागतो हेमकारो यवानपश्यन् मुनिं पृष्ठवान् । क गता मे यवाः ? । त्वया गृहीता अथवा अन्येन  
केनचिद्गृहीताः । स मेतार्थः पापभीरुर्ध्वौ । यदि यवगमनस्वरूपं कथ्यते तदाऽसौ क्रौञ्चं हन्ति । ततो मौनमाश्रितो  
मुनिः । कृतमौनं मुनिं चोरस्त्वमिति जल्पन् स्वर्णकुदार्द्रवधेण तस्य मस्तकं वेष्टयामास दृढम् । ततस्तस्य जीवदयां

ध्यायतो निर्गतचक्षुषस्तदोत्पन्नकेवलज्ञानस्य मुनेरायुषः समाप्तं तत्क्षणमेव मुक्तिगमनमभूत् । स कौञ्चः कुञ्चितग्रीवो  
 विचिन्त्यन्नद्वारेण गतो दास्या भाषितोऽक्रस्माद्यत्राच्छृङ्खलद्वारेण मुमोच । ततस्तं यतिं मृतं यवान् कौञ्चगलितमुक्तान्  
 वीक्ष्य लोकाः प्रोचुः । अयं यतिर्भपतिजामाताऽनेन स्वर्णक्षरेण मुधा हतः । तेन राजा एनं सकुटुम्बं हनिष्यति  
 शूलाप्रक्षेपदिना । ततो राजा हतं यतिं ज्ञात्वा तं सकुटुम्बं हन्तुं स्वसेवकान् प्रेषयामास । यावत्ते राजप्रेषितास्तत्र  
 सौवर्णिकगृहे समायातास्तावत् स्वर्णकृत् समुत्पन्नोत्पातिकबुद्धिर्भीतश्च यतिवेषं गृहीत्वाऽस्थात् । यतः—“ लज्जातो  
 भयतो धितर्कविधितो मात्सर्यतः खेहतो, लोभादेव हठाभिमानविनयशृङ्गारकीर्त्यादितः । दुःखात् कैतुकत्रिरमय-  
 द्यवहेतुर्भावात् कुलाचारतो, वैराग्याच्च भजन्ति धर्मममलं तेषाममेयं फलम् ॥ १ ॥ ” ततस्तैः सुभटैः राज्ञः पार्श्वे  
 गत्वोक्तम् । स्वामिन् स्वर्णकृत् सकुटुम्बो व्रतं गृहीत्वा भीतोऽस्थात् । ततो राजा तत्रैत्यावग्—भो स्वर्णकृत् त्वया  
 यतिर्हतो महत्यापं लभं चारित्र्यग्रहणात् मया मुक्तोऽसि । सांप्रतं यदि त्वयाऽन्येन केनचित् कुटुम्बमध्येन संयमो  
 मोक्ष्यते तदा सकुटुम्बं त्वां हनिष्यामि । ततः स सौवर्णिकः श्रीवीरपादान्ते गत्वा दीक्षां लात्वा क्रमात् स्वर्गसौ-  
 ख्यमागमत् ।

॥ इति श्रीमेतार्थवाचंयमकथानकं समाप्तम् ॥ ९ ॥

सन्तोषैश्वर्यालिप्सूनां, न राज्ये रमते क्षतिः । त्यक्त्वा मन्त्रिपदं स्थूल-भद्रो भेजे यथा व्रतम् ॥ १ ॥

तत्कथाचेयं । पाटलीपुरे नवमनन्दराज्ञः कल्पवंशावतंसः शकडालमन्त्री बभूव । तस्य लक्ष्मीवती पत्नी । तयोः पुत्रौ स्थूलभद्रश्रीयकाभिधौ जातौ । सप्त पुत्र्यश्च ता इमाः इत्यादिसम्बन्धः श्रीयककथाया ज्ञातव्यः । शकडालाभिधे मन्त्रि-नायके त्रिदिवं गते । नन्दभूपो जगादिति, श्रीयकं तत्सुतं प्रति ॥ १ ॥ मन्त्रिपदं क्रमागतं त्वं गृहाण । श्रीयको जगौ-मम आता वृद्धः स्थूलभद्रः कोशावेश्यागृहे समस्ति । तस्य तत्र तिष्ठतो द्वादशाब्दी जाता । ततो राज्ञा स्थूलभद्रो वेश्यागृहादाकारितः क्षितिपसर्भीपे गतः । राजानं नत्वा यावत्स्थूलभद्रोऽग्रे ऊर्ध्वं स्थितः तावद्राज्ञा सबहुमानं प्रोक्तम्-तव पिता दिवं गतः तेन क्रमादागतमपि पदं त्वं गृहाण । स्थूलभद्रोऽवक्-स्वामिन्नादेशः प्रमाणं परं विमृश्यैव गृह्यते मन्त्रिपदं मया । राज्ञोक्तं विचारय, ततोऽशोकवनमध्ये गत्वा स्थूलभद्रो विमृशति । हस्ते व्यापारे गृहीते पारवश्यं भवति । यदि राज्ञश्चित्तानुवर्तने न चलयते । तदा क्षणमध्ये राजा रुष्टः प्राणान्नयति । यतः “जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च, श्रूयन्ते किल भारते । दरिद्रो व्याधितो मूर्खः, प्रवासी नित्यसेवकः ॥ १ ॥ ते धन्याः सुधियस्ते च, ये तद्भोगसुखं तदा । विमुच्य संयमं मुक्ति-सुखदं लान्ति हेलया ॥ २ ॥” एवं विमृश्य लोचं

द्रुत्वा रजोहरणमुखवस्त्रिके गृहीत्वा राजपार्श्वे गत्वा धर्मलभं ददौ । राज्ञोक्तं किमालोचितं स्थूलभद्रोऽवगु—आस-  
 मन्ताञ्जोचितं लोचकृतो मया व्यापारेण सृतं ममेत्युक्त्वाऽवगु—“हस्ते मुद्रा मुखे मुद्रा, मुद्रा स्यात् पादयोर्द्वयोः ।  
 ततः पश्चाद्गृहे मुद्रा, व्यापारः पञ्चमौद्रिकः ॥ १ ॥ ” इत्युक्त्वा श्रीधर्मलाभाशिषं दत्त्वा श्रीसम्भूतिविजयाचार्यपार्श्वे  
 गत्वा सर्वसामायिकोच्चारपूर्वकं व्रतमादित श्रीस्थूलभद्रः । इतो राज्ञा नन्देन श्रीयकस्य मन्त्रिपदं दत्तम् । स्थूलभद्र-  
 त्रियोगार्तो चेश्यां श्रीयकः प्रबोधयामास शोकमुत्तारयामास तस्याः । स्थूलभद्रस्तु सम्भूतिविजयाचार्योऽभिसेवया तपः  
 कुर्वन् सूत्रसूत्रार्थं पपाठ ! अन्यदा तपात्यये शिष्यत्रयं सम्भूतिविजयपार्श्वे एवमभिग्रहं ललौ । एकेनोक्तं सिंहगुहायां  
 मया कायोत्तर्गेण चतुर्मासी स्थातव्या १ द्वितीयेनोक्तं मया दृग्विषाहिविलद्वारे चतुर्मासी कायोत्तर्गेण स्थातव्या  
 २ तृतीयेनोक्तं मया कायोत्तर्गेण कूपभारपट्टे चतुर्मासी स्थातव्या ३ स्थूलभद्रश्चतुर्थोऽवगु—भगवन् कोशावेश्यागृहे  
 त्रिन्नशालायां मया पटुरसान्नपरेण स्थातव्या चतुर्मासी ४ सम्भूतिविजयेनोक्तं, गच्छत ययं स्वेहितस्थानेषु ।  
 यत्नतः स्थेयं भवद्भिः धर्मपरैः । आद्या ऋषयस्त्रयोऽपि सिंहगुहाद्वारदृग्विषाहिविलद्वारकूपभारपट्टेषु ययुः ।  
 स्थूलभद्रस्तु गुरुं नत्वा कोशावेश्याशालायां गतो यावत्तावत् कोशावेश्या हृष्टा कृताञ्जलिरभ्युत्थाय



तं ऋषिं प्रति स्वागतं प्राह—आगच्छात्र तिष्ठ त्वं स्वामिन्नादेशं देहि यत्तव रोचते तदहं करोमि । स्थूलभद्रोऽभ्यधाद्भदे ! धर्मलाभोऽस्तु ते । चित्रशालां चतुर्मासस्थित्यै त्वं ममार्पय । तथा वेश्यया सज्जितायां चित्रशालायां तयाऽनुज्ञातो जितेन्द्रियः स्थूलभद्रः स्थितः । ततो वेश्यया ध्यातं सुकुमारदेहोऽयं व्रतभाराक्षम इहा-यातो लज्जया न किञ्चिद्वृत्तिं स्थितः । क्रमाद्वक्ष्यति श्रियं दास्यति च मह्यम् । अस्य कलां शृङ्गाररससागरे मज्ज-यिष्याम्यहं क्षणात् । ततः षड्रसाहारैर्वेक्ष्या तमभोजयत । अशनकाले च तदुद्धरितानि स्वयं सा मुनक्ति, संस्कृतानि शम्बाकणशवानेया धान्यभेदास्त्रयो, दुग्धघृतदधिआरनालतक्रमद्यानि इति षट् रसा—मूलकन्दइक्षुलतापत्रपुष्प-फलानि इति षट् व्यञ्जनानि भोज्यानि मुनये वेश्या ददौ । मनोरथाढ्या भूचाप—दुःसहा चलद्गृह्या । मुनिं गज-गतिः साऽऽप, धर्मं कामचमूरिव ॥ १ ॥ बाहिर्दृशा बहिश्चारु-तां वीक्ष्य न स रक्तवान् । अन्तर्दृशाऽन्तर्भेलिनां, दृष्ट्वा तां च विरक्तवान् ॥ २ ॥ वेश्या यद्यत्तं मोहयितुमुपक्रमं चक्रे तत्तन्निष्फलमभूत्तस्मिन् । यतः—“व्योम्नीव चित्र-रचनं, पयसा वाऽग्निदीपनम् । तस्या विलासितं सर्वं, तत्र तस्मिन् मुधाऽभवत् ॥ १ ॥ नित्यं नित्योदयच्छोभा, तत्क्षो-भाय दिने दिने । एवं चकार सा ध्यान—रसान्न च चचाल सः ॥ २ ॥ तस्मिन् तदुपसर्गाच्चैर्ध्यानं प्रत्युत दिद्युते ।

सत्त्वं वीरवरैरि-प्रहारनिवहैरिव ॥ ३ ॥ ” अथ प्रागिव मोहं दिदर्शयिषती वेद्या तस्यर्षेः पादयोः पपात मानयितुं भोगेच्छया । तदा स्थूलभद्रो जगौ-भो महाभाग्ये भोगा जीवैर्बहुशो मुक्ताः परं न तृप्तः यतः-“ सल्लु कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा । कामे य पथ्ययमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १ ॥ रागोऽयं दोषपोषाय, चेतनारहितेष्वपि । मल्लिष्टाकुट्टनस्थानं, भृशं तापसहा(हम)निशम् ॥ २ ॥ मुखे पुरीषप्रक्षेपं, तथा पाषाणप्रेषणम् । एकेन्द्रियाऽपि सहन्ते, मृत्तिका रागदोषतः ॥ ३ ॥ विषयगणः कापुरुषं, करोति वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषम् । बध्नाति मशकमेव हि, लुतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ ४ ॥ ( इत्थीण जोणिमज्जे गम्भगया चैव हुंति नव लक्खा । इक्को व दो व तित्ति व, लक्खपुहुत्तं च नुक्कोसं ॥ १ ॥ इत्थिण जोणिमज्जे, हवन्ति बेइंदिया असंखा, य । नुप्पज्जंति चयंति य, समुच्छिमा तह असंखा ॥ २ ॥ ) मेहुणसन्नारूढो, नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं । इय आगमवयणाओ, हिंसा जीवाणमिह पढमा ॥ ५ ॥ ” इत्यादि धर्मोपदेशेन स्थूलभद्रोक्तेन वेद्या स्वं कुलक्रमागतं धर्मं त्यक्त्वा श्रावकधर्मं जग्राह । न भाग्यं विना कुमार्गत्यजनं भवति । यतः “ ये भवन्ति नरा नार्यः, सन्मार्गगमिनः स्फुटम् । ते च योग्याः प्रजायन्ते, मुक्तिश्रीपतयः क्रमात् ॥ १ ॥ ” तस्य स्थूलभद्र-

स्यर्षेरिन्द्रियजयादिजयोत्कर्षदर्शनादेवमभिग्रहं वेद्या ललौ । राजा प्रसन्नः सन् यं भोगाय मत्पार्श्वे प्रेषयति तं विना ममान्ये पुरुषाः सहोदरा भवन्ति अद्यप्रभृति । इतश्चतुर्मासान्ते व्यूढाभिग्रहास्त्रयो यतयो गुरुपार्श्वे प्रतिचेलुः । त्रयोऽप्यागत्य गुरुपादान् नेमुः । ततः श्रीसम्भूतिविजयसूर्यो जगुर्ययं अहो दुष्करकारकाः । ततः स्थूलभद्रमायातं वीक्ष्य स्वयमुत्थाय दुष्करकारक दुष्करकारकेति श्रीगुरुर्जगौ । त्रयोऽपि यतयः पूर्वायाता दध्युरिति । वयं सामान्यकुलोद्भवाः । अयं तु स्थूलभद्रः शकडालमन्त्रिपुत्रः । तेन गुरुभिरस्मास्वेवं प्रोक्तम् । स्थूलभद्रे षड्रसाहारादिभोक्तरि । यतः—“कोशावर्ष्मणि सज्जितेऽङ्गखलके नेपथ्यवृत्त्यावृते, द्वात्रिंशन्मितलक्षणैर्वलयिते तच्छुक्लशङ्कासुरैः । बोधास्त्रेण निहत्य विश्वजयिनं श्रीस्थूलभद्रः स्मरं, लेभे दुष्करकारकेति मुदिताद्विप्साप्रसादं गुरोः ॥ १ ॥” दुष्करकारक दुष्करकारक इति जगदे । गुरुणामपि एकेऽधिकाः एके स्वल्पा न्यूनाः । अग्रेतनचतुर्मास्यां वयं दुष्करदुष्करकारका भविष्याम इति निश्चित्य कष्टेनाष्टौ मासान् नीत्वा सिंहगुहास्थो मुनिः श्रीस्थूलभद्रव्यढमभिग्रहं ययाचे । गुरुभिरुत्तं-स्थूलभद्रस्य स्पृष्ट्वा का तवेयं महानुभाग स्थूलभद्रेण यत् कृतं तदन्यो न कोऽपि कर्तुं शक्नोति । अर्कोदन्यो दिनं कः करोति, चन्द्रादन्यः कः सुधां क्षरति, जलदादन्यः कः शस्यं निष्पादयति, चक्रवर्तिनोऽन्यः कः षट्खंडं साध-

यति । अयमभिग्रहो गृहीतस्त्वया तव प्राक्कृततपसो नाशाय भविष्यति । भारसहस्रमितस्य गुडस्य नाशाय तुम्बिका-  
 कलिकेव । एवं श्रीगुरुभिर्निषिद्धोऽपि गृहीतस्थूलभद्रव्यूढाभिग्रहः सिंहगुहामुनिः कोशागृहं प्राप स्थूलभद्र इव चित्र-  
 शालायां स्थितश्च । स्थूलभद्रस्पृह्ययाऽनैष समागादिति ध्यात्वा वेद्यया षड्रसाहारैरभोजि सः । ततः कृताहुतशृङ्गारा  
 भृङ्गाराभ्युन्नतस्तनी हावभावादिविलासपरा कोशा मुनिपार्श्वेऽभ्येत्यास्थात् । तां तादृशीं वीक्ष्य स मुनिश्चुक्षोभ चेतसि ।  
 यतः—“चार्वाङ्ग्या को न पात्येत, कीलया को न दह्यते । को न मुह्येत लक्ष्मीभिः, को न याति विधेर्वशम् ॥ १ ॥”  
 स्मरातुरं भोगं याचमानं तं मुनिं वीक्ष्य वेद्याऽऽचष्ट । अर्थो विलोक्यते अर्थं विना कोऽपि ईदृग्भोगं भोक्तुं न शक्नोति ।  
 स्मरातुरः साधुः प्राह—अधुना मम पार्श्वे नास्ति धनं सुन्दरि ? मया तुभ्यं दास्यते । ततो वेद्या तं प्रतिबोधयितुं  
 प्राह—यदि भोगेच्छाऽस्ति तदा नेपालदेशे व्रज । तत्रापर्वस्य साधो रत्नकम्बलं लक्षमूल्यं राजा दत्ते । तत्र गत्वा तम-  
 त्रानय ततश्चेहितं कुरु । ततः कामातुरो मुनिश्चतुर्मासमध्येऽपि नेपालदेशे गतः । नृपाद्रत्नकम्बलं लब्ध्वा  
 चलितः । वर्त्मानि तस्य गच्छतः पल्ल्यां कीरोऽवगृह्ण । लक्षं याति याति । चौरैस्तत्रागत्य रत्नकम्बलं गृहीतम् । ततः  
 पश्चाद् गत्वा रूपपरावृत्तिं कृत्वा पुना रत्नकम्बलं भूपात् प्राप मुनिः । वंशयष्टिमध्ये क्षिप्त्वा पुनश्चलितो मुनिस्तस्मिन्

पूर्ववच्चौरैर्विलोकितो द्वित्रिवारं कीरवचनात् । न लब्धं रत्नकम्बलं, कष्टनानीय कोशावेक्ष्याथै ददौ मुनिः । वेक्ष्या तं रत्नकम्बलं गृहप्रणालिकापङ्के निःशङ्कं न्यधात् । ततो मुनिःप्राह—भो वेक्ष्ये महामूल्यमिदं रत्नकम्बलं मुधा त्वया कथं खाले क्षिप्तम् । वेक्ष्योक्तं किमिदं शोचसि मूढ बहुकष्टेपार्जितं मानुषं जन्म शुद्धचारित्र्ययुतं स्वं—मद्देहाशुचिमलपङ्के क्षिपन् किं न शोचसि । ततस्तस्य स्मरतुरस्य कामरागो विषोपमोऽभूत् । वेक्ष्यासमुत्पादितसंवेगः स मुनिर्जगौ—“पतितोऽहं महामोह—जालेऽनन्तासुखप्रदे । उद्धरितस्त्वया वेक्ष्ये, सत्प्रपञ्चविधानतः ॥ १ ॥ अघानि निरघे ! हन्तु, मे तिचारभवान्यहम् । गुरुप्राये गुरुं यामि, धर्मलाभोऽस्तु तेऽन्वहम् ॥२॥ कोशाप्युवाच गुणमाकं, मया ब्रह्मव्रतस्थया । आशातना कृता बोध—कृते सा क्षम्यतां प्रभो ॥ ३ ॥ गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे, वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः । हर्म्येऽतिरम्ये युवतीजनान्तिके, वशी स एकः शकडालनन्दनः ॥ ४ ॥ योऽसौ प्रविष्टोऽपि हि नैव दग्धः, छिन्नो न खड्गाग्रगतः प्रवीरः । कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो, नाक्तोऽञ्जनागारनिवास्यहो यः ॥ ५ ॥ वेक्ष्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं, शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो नव्यं वयः सङ्गमः । कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः कामं जिगाथादरात्, तं वन्दे युवतिप्रबोधकुशलं श्री स्थूलभद्रं मुनिम् ॥ ६ ॥ ” वेक्ष्यामेवं वदन्तीममोघधर्माशिषा

प्रमोद्य सिंहगुहामुनिर्गुरुपार्श्वे जगाम । गुरुभिरुक्तं महानुभाग ! मया त्वं निषिद्धस्तत्र गच्छन् । तत्र यत् स्थूलभ-  
 द्रेण कृतं तत् कोऽपि कर्तुं न शक्नोति । स्थूलभद्रसमः कोऽपि नास्ति । यतः एवं स्तुतिं कुर्वन्ति कवयः । “रे काम वामनयन्त्रा  
 तव मुख्यमर्त्तं, वीरा वसन्तपिकपञ्चमचन्द्रमुरव्याः । त्वत्सेवका हरिविरंचिमहेश्वराद्या, हाहा हताश मुनिनाऽपि कथं हतोऽसि  
 ॥ १ ॥ श्रीनन्दिषेणरथनेमिमुनीश्वरार्द्र-बुद्ध्या त्वया मदन रे मुनिरेष दृष्टः । ज्ञातं न नेमिजिनजम्बुसुदर्शनानां, तुर्यो  
 भाविष्यति निहत्य रणाङ्गणे माम् ॥ २ ॥ श्रीनेमितोऽपि शकडालसुतं विचार्य, मन्यामहे वयसमुं भटभेकमेव । देवोऽद्रि-  
 दुर्गमाधिरुह्य जिगाय मोहं, यन्मोहनालयमयन्तु वशी प्रविश्य ॥ ३ ॥ स्त्रीविभ्रमैश्चलति लोलमना न धीरः,  
 श्रीस्थूलभद्र इव तादृशसङ्कटेऽपि । चूर्णीयते दृषदयोऽपि जलायते वा, वैडूर्यमेति विकृतिं ज्वलनात् पुनर्न ॥ ४ ॥”  
 अन्यद्वा राज्ञा वेश्यायाश्चरित्रस्वरूपं ज्ञातम् । ततो भूपेन कोऽपि रथकारः कुशलो वेश्यायै दत्तः । ततो रथकृद्दे-  
 श्यायाः पार्श्वे गतः । अकामा वेश्या तं बोधयितुं जगौ । स्थूलभद्रमृतं पुमानन्यो धर्मवान् कुशलः कोऽपि न दृश्यते ।  
 स्थूलभद्रवर्णनं क्रियमाणं वेश्यया तदानीमसहमानो रथकृत् स्वां कलां दर्शयितुं, शयनस्थ एवासन्नाम्रवनाम्रलुम्बीः  
 पुङ्खमुखपुङ्खात्रैर्वेधं वेधं ततोऽर्धचन्द्रबाणेन वृत्तं छित्त्वाम्रलुम्बीं करे गृहीत्वा वेश्यायै ददौ जगौ च । पश्य मम

विज्ञानमिति । ततो वेद्यया सर्षपराशेरुपरि शूचिकां न्यस्य, तदुपरि पुष्पं स्थापयित्वा तदुपरि च नृत्यं कृतम् । तदा मनाक् सर्षपैककणं शूचिका पुष्पाणि (च) न चालितानि । वेद्याकलातुष्टो रथी सादरं जगाद । किन्तु वद तुभ्यं दास्याम्यहम् । वेद्ययोक्तम्—मया कापि कला न दर्शिता । जातिभिद्भिमिदं जीवानां पूर्वभवाभ्यासात् । यतः—“तरन्ति तिमयोऽम्भोधिं, व्योम्नि चलन्ति पक्षिणः । देवा जगत्सु यान्तीति, जातिसिद्धं न चित्रकृत् ॥ १ ॥ अभ्याससिद्धं ते लुम्बि—कर्तनं मम नर्तनम् । न किञ्चिदुष्करं ह्येतत्, कृतं तुष्टया तदावयोः ॥ २ ॥ भोगोज्वलवपुः स्थूल-भद्रो भोगैककलालितः । अजात्युत्थमनभ्यस्तं, यच्चक्रे दुष्करं हि तत् ॥ ३ ॥” भोगा मया समं येन द्वादशसंवत्सरीं भुक्ताः । येन च मम चित्रशालायां तिष्ठता पङ्कुरसाहारभोजिता स्थूलभद्रेण यन्न मनाग् व्रतं खण्डितं तच्चित्रकृत् । उक्तं च तया—“न दुष्करं अंबयलुंबतोडनं, न दुष्करं सरिरावनधियाए । तं दुष्करं तं च महाणुभावो, जं सो मुणी पमयवर्णंभि बुद्धो ॥ १ ॥ रथी तां प्रति जगौ—भद्रे कः स्थूलभद्रः यस्त्वैवं वर्ण्यते ? तयोचे शकडालमन्त्रिपुत्रः स्थूलभद्रः । रथी जगौ—य एवंविधोऽस्ति तस्य दासानुदासोऽस्मि । तस्याः पार्श्वे स्थूलभद्र-स्वरूपं श्रुत्वा धर्ममाकर्ण्य प्राप्तैराग्यो रथी स्थूलभद्रं च दीक्ष्य राजानमुत्कलाप्य गुरोः पार्श्वे दीक्षां ललौ । क्रमा-

हुष्काले पतिते द्वादशाब्दीमिते साधुसङ्घस्तोयधितीरस्थः श्रीगुरुपार्श्वे समाजगाम । तस्मिन् विषमसमये जायमाने  
 क्रमादगुण्यमानत्वाद् बुभुक्षया पीडितत्वाच्च मुनीनां सिद्धान्तो बहुविस्मृतः, ततः साधूनां पाटीलपुरपत्तने श्रीसङ्घो  
 मिलितः । यो यस्याध्ययनस्योद्देश आयातोऽभूत् स स एकत्र कृत्वा एकादशाङ्गी पूर्णीकृता श्रीसङ्घेन । ततो दृष्टि-  
 वादकृते श्रीसङ्घो मुनिद्वयं श्रीभद्रबाहुपार्श्वे प्रैषीत । ताभ्यां प्रणम्योक्तम् पाटीलीपुरे गुरुवस्त्वामाकारयन्ति । भद्रबाहु-  
 गुरुराह—मया महाप्राणाभिधं ध्यानमारब्धमस्ति । तेनाधुना मम तत्रागमनं न भविष्यति । तन्मुनिद्वन्द्वं पश्चादेत्य  
 श्रीभद्रबाहुना प्रोक्तं जगौ—ततो गुरुणा सङ्घेन चालुशिष्य मुनी द्वौ प्रेषितौ तत्र गत्वोचतुर्भद्रबाहुगुरुपार्श्वे । सङ्घादेशं  
 न यः कुर्या—दण्डः कार्योऽस्य कीदृशः । अथाचार्यो जगद्वैवं, सङ्घबाह्यः क्रियते सः ॥१॥ तौ यती प्रोचतुः, भगवन्ननेन  
 वचनेन भवन्त एव सङ्घबाह्याः । ततः श्रीभद्रबाहुर्जगौ । सङ्घादेशः प्रमाणं ममाधुना महाप्राणध्यानक-  
 रणात् वेला नास्ति । तथापि श्रीसङ्घाग्रहात्तेभ्यो यतिभ्यः सप्त वाचना मया दास्यन्ते । यतः—“ एकां भिक्षात्  
 आयाते, तत्र दाताऽस्मि वाचनाम् । द्वितीयां कालवेलायां, तृतीयां च बहिर्मुनि ॥ १ ॥ तुर्यां विकालवेलायां, तिस्र-  
 श्चावश्यकक्षणे । एवं सङ्घस्य कार्यं च, मम कार्यं भविष्यति ॥ २ ॥ ” इत्याकर्ण्य श्रीगुरुं नत्वा तौ यती पश्चादेत्य



तव सङ्घाग्रे जगदुतुः । ततः सङ्घो हृष्टो दृष्टिर्वा भणनाय स्थूलभद्रादिमुनीन्द्रशतपञ्चकं न्ययुक्त्वा । ते यतयो दृष्टि-  
वादं भणन्तोऽल्पवाचनतयोद्विग्नाः स्थूलभद्रं विना निजं निजं स्थानं ययुः । उद्भज्यमानं स्थूलभद्रं प्रति गुरुर्जगौ  
किं त्वमुद्भज्यसे । स्थूलभद्रोऽवक्त्वा किन्तु वाचनाल्पत्वं मम तृष्णां न हन्ति । ततो—गुरुणोक्तं भद्र ! त्वया खेदो न  
कार्यः ध्यानं मम पूर्णमिवास्ति । ततो ध्यानसमाप्तेरनु मया तृप्तिपर्यन्तं तव वाचना दास्यन्ते । ततो ध्यानसमाप्तौ  
तथा श्रीसूरिणा स्थूलभद्रः पाठितः प्रज्ञाप्रपन्नत्वात् । यथा द्विवस्तूनानि दशपूर्वाणि स जज्ञौ । इतः श्रीयकः श्रीसम्भूति-  
विजयसूरिधर्मोपदेशं श्रुत्वा प्राप्तवैराग्यो दीक्षां जिघृक्षुरभूद्यावत् सप्तपि भगिन्यो यक्षाद्या जगुः यदि त्वया दीक्षा  
ग्रहीष्यते तदाऽस्माभिरपि संयमश्रीर्ग्रीहीष्यते । संयमश्रियं विना संसारान्निस्तारो न भवति । यतोऽत्र दीक्षासूक्तानि ।  
ततः श्रीयकः स्वं पुत्रं श्रीधरं मन्त्रिपदे स्थापयित्वा राजानमनुज्ञाप्य ताभिर्भगिनीभिः समं संयमं ललौ । श्रीसम्भूति-  
विजयपार्श्वे यक्षाद्याः साध्व्यः पठनगणनतपस्करणपरा गुरुभिः समं विहारं कुर्वन्ति स्म । अन्येद्युः पर्युषणापर्वणि  
समायाते यक्षा श्रीयकं आतरं प्रति जगौ—भो सहोदर ! अद्य वार्षिकपर्वदिनं विद्यते तेन . प्रत्याख्यानं कुरु । अत्र  
पर्वणि दानतपस्करणादिपुण्यं अनन्तफलं प्रोक्तम् । यतः—“ एगगगचिच्चा जिणसासणंभि, पभावणापूअपरायणा जे ।

तिसत्तखुत्तो निसुणंति कप्पं, भवण्वं ते लहु संतरंति ॥ १ ॥ ” इत्यादि । गुरुपार्श्वस्थेन श्रीयकेन अग्निनीवचनांत  
 पौरुषी कृता । ततः सार्द्धपौरुषी ततः पुरिमार्द्धः, ततोऽपार्द्धपौरुषी । तत उपवासः कृतः । दिनं महोत्सवेन जाय-  
 मानं व्युत्क्रांतं श्रीयकेन समाधिना रात्रिस्तु दुःशक्त्या जाता । मध्यरात्रौ आकुलव्याकुलः श्रीयकः स्मारितपञ्चनम-  
 स्कारः परलोकं ययौ । मृते सहोदरेऽमिसंस्कारे कृते यक्षा दुःखिता श्रीसङ्घात्रे जगौ—मयाऽतीवाविमृष्टं कृतं यतो  
 आता एव मारितः । ततः प्रायश्चित्तात् कथं छुटिष्यामि । ऋषिघातो मया विदधे । तेन मम श्वभ्रपातो भविष्यति ।  
 अहमात्मघातेन मरिष्ये । श्रीसङ्घः प्राह—तव दूषणं न, त्वया तु हितबुद्ध्या आतोपवासं कारितः । तव पुण्यमेव  
 भविष्यति । स तव आता स्वर्गभागभूत् । तयोचे—जिनवन्नो विना न मन्येऽहम् । यदि जिनेन्द्रः साक्षादाख्याति,  
 तदा मम सन्देहो याति क्षयम् । ततः श्रीसङ्घे कायोत्सर्गे स्थिते शासनदेव्या यक्षा शनैरुत्पाठ्य व्योमभागेण श्रीसी-  
 मन्धरपार्श्वे मुक्ता । ततस्तया श्रीजिनो नतः । स्वसन्देहे पृष्टे तथा श्रीसीमन्धरो जगौ । तव दोषो न । श्रीयकस्तु  
 तेनोपवासेन बहु कर्म क्षित्वा प्रथमदिवि गतः । मुक्तिं यास्यति च । ततः श्रीसीमन्धरस्वामी धर्मोपदेशद्वारा चूलिकाचतुष्टयं  
 ददौ । तथा यक्षैकचित्त्वेन चूलिकाचतुष्टयमङ्गीकृतम् । ततो भग्नसन्देहा यक्षा श्रीसीमन्धरस्वामिनं नत्वा शासनदेवी-

सांनिध्यात् स्वस्थानमाययौ । चूलिकाः श्रीसङ्घाय ददौ यक्षा । ‘चूलियं तु पवक्खामीति ॥’ ततो यक्षा श्रीसङ्घयुता धर्मे चकार । अन्येद्युः सप्तापि यक्षाद्या भगिन्यः स्वं भ्रातरं वन्दितुं ययुः । वनमध्ये श्रीगुरुपादान् प्रणम्य प्रोचुः । भगवन् ! कास्ति अस्माकं भ्राता । गुरुणोक्तम्—अग्रतो गच्छत यूयं अशोकवृक्षाधः स्थितः स्थूलभद्र एकान्ते स्वाध्यायं कुर्वन्नस्ति । ततस्ताः स्थूलभद्रं नन्तु यावदग्रतो गच्छन्ति तावत् स्वभ्रातृस्थाने सिंहं वीक्ष्य भीताः पश्चाद्गुरुपाश्वरेभ्येत्य खिन्ना जगुः—अस्माकं भ्राता स्थूलभद्रः सिंहेन भक्षितः । तत्र सिंह एव दृष्टो न भ्राताऽस्माभिः । गुरुभिरुक्तं खेदं साकुरुत यूयम् । भवतीनां भ्राता कुशली समस्ति । गच्छत यूयं पुनर्वन्दिष्यते भ्राता भवतीभिः । ततः पुनस्तत्र गता यक्षाद्या भगिन्यः वन्दितो गुरुः स्थूलभद्रस्ताभिः चमत्कृता भगिन्यः, स्थूलभद्रेण पृष्टेन सिंहविकुर्वाणादिस्वरूपं प्रोक्तम् । स्थूलभद्रं नत्वा गुरुपाश्वरे सिंहवृत्तान्तं कथयित्वा गुरुं नत्वा स्वस्थाने गताः । ततः स्थूलभद्रस्तत्र स्वाध्यायं कृत्वा गुरुपाश्वरेभ्येत्य वाचनो ययाचे । गुरुराचष्ट अतः परं वाचना न दातव्या अयोग्योऽसि त्वम् । त्वया यदि सिंहरूपं कृतं तर्हि अन्येषां का कथा । कालस्वभावादग्रतो विद्या न जरिष्यति । विद्या सत्यान्ने दातव्या न कुपात्रे । यतः “आमे घडे निहितं, जहा जलं तं घडं विणासेइ । इय सिद्धंत रहसं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ १ ॥” ततः स्थूल-

भद्रो गुरुणां पादयोः पतित्वा स्वापराधं क्षमयन् जगौ-अहमतः परमीदृगपराधं न करिष्यामि । ततो यदा गुरुर्वो-  
चनां न दत्ते । तदा श्रीसङ्खेन प्रोक्तम् । वाचनामग्रतः पूर्वाणां दत्तं यूयं गुरुभिरुक्तम्-यदस्य विकार एवविधो जातोऽ-  
न्येषां कथं जरिष्यति । कालो दुषमारूपः समायातः । श्रीसङ्खेनोक्तम्-एवं सर्वेषां पूर्वाणां छेदो भविष्यति । पूर्वछेदपातकं  
तव लगिष्यति । ततो गुरुभिः प्रोक्तम् । यदि स्थूलभद्रोऽतः परमन्येषां साधूनामग्रेतनीं चतुःपूर्वां न ददाति तदास्माभिरस्मै  
वाचना दीयते । श्रीसङ्खः प्राह-श्रीपूज्यपादप्रोक्तं भवतु । ततः स्थूलभद्रायाग्रेतनीं चतुःपूर्वां सूत्रतो दत्ता न त्वर्थतः स्थूल-  
भद्रोऽखिलपूर्वधरो विजहार धरित्र्याम् । ततश्चिरं तपस्तत्त्वाऽनेकभव्यजीवान् प्रतिबोध्य स्थूलभद्रः प्रथमस्वर्गं जगाम ।

॥ इति श्रीस्थूलभद्रकथा समाप्ता ॥ १० ॥

बालत्वेऽपि विधातव्यो, धर्मो जैनः शिवप्रदः । भव्यजीवेन श्रीवज्र-कुमारेणैव सन्ततम् ॥ १ ॥  
एकां प्रभावनां कुर्यात्, पर्याप्तमपरैरुणैः । वज्रस्वामी व्यधादेतां, लब्धिमानमितां यथा ॥ २ ॥  
सुहस्तिनोऽन्वये वज्र-स्वामी च क्रमयोगतः । अभूत् प्रवचनोद्भृता, तत्कथा प्रोच्यते मया ॥ ३ ॥

तथाहि—जम्बूद्वीपविभूषणोऽवन्तिदेशोऽस्ति, तत्र तुम्बवनाभिधसन्निवेशो विद्यते । तत्रैव धनगिरिनामा व्यवहारी धर्मो धनेन धनदोषमो वसतिस्म । लघुत्वेऽपि धनगिरिः शमरसं वहन् बभूव । तस्य च पितरौ विवाहं कर्तुंकामौ कन्यां विलोकयामासतुः । यदा धनगिरेर्दातुं सुतां महेभ्या आयान्ति तदा धनगिरिर्जगौ । मह्यं स्वां कन्यां दातुं वाञ्छत यूयम् । परमहं दीक्षां गृहीष्यामि परिणीतां कन्यां त्यजतो मम दूषणं न देयम् । तदा धनपालमहेभ्यपुत्री सुनन्दा जगौ । अस्मिन् भवे धनगिरिं मुक्त्वा नान्यं नरं परिणेष्यामि । धनगिरिस्तां कन्यामनिच्छन्नऽपि दीक्षां जिघृक्षन्नऽपि बलात् सा कन्या सुनन्दा तं धनगिरिमङ्गीचकार विवाहमहोत्सवपुरस्सरम् । अन्यदा विरागवानपि कर्मयोगतः ऋतुस्नातां तां कन्यां धनगिरिर्बुभुजे । इतः पूर्वं श्रीअष्टापदतीर्थे यो देवो जृम्भकः श्रीगौतमपार्श्वे पुण्डरीकाध्ययनं शुश्राव श्रद्धे च स देवः स्वर्गाच्च्युत्वा सुनन्दाया ऋतुस्नातायाः गर्भेऽवततार । ततो धीमान् धनगिरिपद्मसत्त्वां प्रियां मत्वा जगौ—भद्रे ! तवायं गर्भो भद्राय भवतु, यत्र तव आताऽऽर्थशमिताभिधः संयमं ललौ तत्राहं सिंहगिरेर्गुरोः पुरः प्रव्रजिष्यामि । ततः पत्नी तादृशीं मुक्त्वा संयमं गृहीत्वा धनगिरिस्तपांसि तप्यमानो गुरोर्मुखात् सिद्धान्तामृतसं पीतवान् । इतः शुभेऽहनि उच्चेषु ग्रहेषु सुनन्दा नन्दनं प्रासूत वज्रं, वज्राकरोर्वीव वज्रं पूर्वेव रविं, सख्यस्तदा सभागतास्तं बालमित्थमालपन्,

यतः—“अथि तात ! न ते तातः, प्राव्रजिष्यत् पुरा यदि । अभविष्यत्तदोद्दामो, जातकर्मोत्सवस्तव ॥ १ ॥ विना  
 पुमांसं न स्त्रीभिः, स्याद्विश्वानन्दकृन्महः । अस्मति द्युमणौ दीप्र-दीपिकाभिरिवाभितः ॥ २ ॥ ” इत्याद्यालापान् सखि-  
 प्रोक्तान् श्रुत्वा दत्तावधानः कुमार ऊहापोहपरो जातिस्मृतिं प्राप्य पूर्वभवं स्मृत्वा प्रव्रज्यां जिघृक्षुर्भृशं रोदनमेव  
 करोति यतो रोदनं विना मां माता न त्यक्ष्यति । ततो मात्रा सखीजनैश्च सुधामधुरैर्वचोभिश्चारुक्तिभिश्च चूलाचुम्ब-  
 नैश्चान्दोलनादिभिश्च क्रियमाणैर्न रोदनान्निवृत्तः कुमारः । एवं तस्य सुनो रुदतोऽर्द्धसंवत्सरं जातम् । ततः सुनन्दाऽपि  
 रुदन्ती भृशं जगौ—किमस्माच्छिशोश्छुटिष्यते ? देहजातत्वाद्धन्तुं न शक्यते, यद्यस्य पिताऽऽयाति तदा तस्मै दत्त्वाऽहं  
 सुखिनी भवामि, तेन पुत्रेण किं क्रियते येन क्षणमपि सुखं न भवति । अधुना एवं करोति पुत्रः वृद्धः  
 सन् न ज्ञायते किं करिष्यति । एवं विलपन्ती सुनन्दा विलक्षाऽभूत् । इतो धनगिर्यार्थशमितादिसाधुयुतः  
 श्रीसिंहगिरिसूरिन्यतो विहृत्य तत्रागात् । श्राद्धैः पुरप्रवेशमहोत्सवः कृतः । गुरुभिरुपदेशो दत्तः । मध्यान्हे आर्य-  
 शमितान्वितो धनगिरिगुरुं प्रति प्राह—भगवन्नादेशं देहि । आवां विहृत्यर्थं पुरमध्ये गच्छावः । गुरुभिरतिशयज्ञा-  
 नवद्भिः प्रोक्तं भवतोऽद्य महान् लाभो भविष्यति । तत्र सचिच्चाचित्तिविमर्शो न कार्यः । गुरुप्रोक्तं श्रुत्वा तथेत्युत्तत्रा

धनगिरिः शमितसाधुयुतो विहरन् श्राद्धगृहे कमात् सुनन्दाया गृहेऽगमत् । तं मुनिं तत्रागतं दृष्ट्वा सुनन्दा दुःखिता  
पतिं प्रति जगाद । अहमेनेन सूनुना विलक्षीकृतास्तीव दुःखिनीकृता । त्वदीयोऽयं सूनुः त्वमेव गृहाण ममानेन न  
किमपि कार्यं । मयि कालसमो विद्यतेऽयम् । तेनानुग्रहं कृत्वा त्वं लाहि । धुर्योपि निस्पृहाणां त्वं, गृहाणाङ्गज-  
मात्मनः । ममोपरि कृपामत्र, कुरु कारुण्यसागर ॥ १ ॥ स्मृत्वा गुरुक्तं धनगिरिः प्राह—यथा तव रोचते चित्ते तथा  
कुरु । उक्तं च यतिना । पश्चात्तापव्रती पश्चात्, पुनर्भद्रे भविष्यसि । अमुं विश्राणितं पुत्रं, लभसे न कथञ्चन ॥ २ ॥  
ततः सुनन्दयोक्तं एताः सख्यस्तेऽत्र साक्षिण्यः । अहं पश्चान्न मार्गशिष्याभि । इत्युक्त्वा तं बालं पात्रबन्धे विस्तारिते  
सुसाधुना सुनन्दा मुमोच । तं बालं गृहीत्वा धनगिरिर्धर्मलाभं पूर्वं दत्त्वा च क्रमाद् गुरुपाश्वे जगाम । बालभारेण  
नमद्भुजं धनगिरिमागच्छन्तमालोक्य श्रीगुरुराचष्ट ‘अयं बालो वज्र इव भारकृद्विद्यते’ इति वज्रकुमारनामास्य  
भवतु । ततो गुरुभिः सच्चित्तमपि तं बालमुत्सङ्गे लात्वा यावत्संमुखं विलोकितं तावद् बालेन तेन हर्षितम् ।  
ततः सूरिभिः पालनार्थं साध्वीनामर्पितम् । साध्वीभिश्च शय्यातरीणां पालनाय विश्राणितः । ततो रोदनान्निवृत्तो,  
बालः । शालामध्ये पालनस्थः स्तन्यपानादिभिः पाल्यमानः शिशुः साध्वीभिर्गण्यमानामेकादशाङ्गं पपाठ ।

वर्षत्रयमात्रवयस्को वज्रकुमारः समानवयोभिः शिशुभिः समं धर्मोपकरणै रेमे । उक्तं च । “शय्यातरपुरन्धीणां,  
 स सौभाग्यनिधानभूः । अङ्गादङ्गं जगामैव, पद्मात् पद्मं मरालवत् ॥ १ ॥ उच्छापयन्त्यस्तं बालं, मन्मयोच्छापपूर्व-  
 कम् । स्त्रियो गीतानि गायन्ति, कर्णामृतकिरागिरा ॥ २ ॥ वज्रेण तासां यद्वज्रो-पमानि हृदयान्यपि । गुणै-  
 र्विद्धानि तद्युक्तं, वज्रं वज्रेण विध्यते ॥ ३ ॥ सुनन्दा वन्दनछलात्तत्रैत्य सुनं स्तन्यपानदानात्पुपोष । इतश्च कन्या-  
 पूर्णाख्यं विख्यातं तटिनीद्वयम् । अचलपटोपेतं महीमण्डनं विद्यते । एतयोर्नद्योरन्तरे सुवि भूतिधवलारस्तापसा आहा-  
 रलीलां ललुः । तेषु तापसेष्वेकस्तापसः पादुके परिधाय लेपवित् सलिलेऽप्यतलस्पर्शां नदीमुत्तार । कौतुकं,  
 पश्यन्तो लोकारस्तस्य तापसस्यान्येषां तापसानां कीर्तनं कुर्वन्ति वदन्ति चैवं भो जैना वो मते ईदृशाः केऽपि विद्यन्ते ?  
 यतः प्रभावोऽस्ति कस्य मध्ये इति वदन्ति । ततस्तापसभक्ता जना हसन्ति जैनान् प्रति । अस्मिन्नवसरे श्रीआर्य-  
 शमिताचार्यो वज्रमातुलो विहारक्रमयोगेन योगसिद्धस्तपोनिधिस्तत्राजगाम । ततस्तं गुरुं नत्वा वृद्धाः श्राद्धा जगुः-  
 भगवन् ! एते तापसा जिनमतावहीलनं कुर्वन्तः सन्ति, आत्मीयं चमत्कारं दर्शयन्ति च ततोऽत्रधिज्ञानयुक् श्रीआ-  
 र्यशमिताचार्योऽवगु श्राद्धान् प्रति । तस्य तापसस्य तपःशक्तिर्न किन्तु केनापि लेपेन पादौ लिह्वा नद्युपरि गच्छति



रम् । तत एकस्य महर्द्धिकस्य श्राद्धरयाग्रे रहः प्रोक्तं त्वमेवं कुरु । तस्य तापसस्य पार्श्वे गच्छ । तत्र त्वया तत् करणी-  
यम् । ततः श्राद्धरतस्य तापसस्य पार्श्वे गतोऽवगम् । त्वत्तुल्यः कोपि तपस्वी न दृष्टः । यस्येदृशी जलोपरि चलनशक्तिः ।  
मया जैनं मतं विलोकितम् । तत्र कोऽपि तपःप्रभावो न दृश्यते । अतः परं त्वमेव मम गुरुर्भवतु । तापसेनोक्तम्--  
त्वं विघटयिष्यसि श्रेष्ठी जगौ--मदीयोक्तं मेरुरिव स्थिरं जानीहि । एकदा . मदीये गृहे कल्ये पारणकदिने त्वया  
भोजनायागन्तव्यम् । तापसोऽवगम्--यदि तवेच्छा भवति तदाऽऽगमिष्यते मया । द्वितीयदिने तापसः श्राद्धगृहे भोजनं  
कर्तुमागात् । तदा श्रेष्ठिनातीव भक्तिं दर्शयता तापसस्य पादौ प्रक्षालितौ । प्रच्छन्नं पादुके अपि प्रक्षालिते । ततः  
सरसरसवत्या भोजयित्वा तापसं, तापसं प्रेषयितुं मनुष्यसहस्रयुतश्चाल । नदीसमीपे समागात् तापसो यावत्तावत्  
आर्यशमिताचार्योऽपि तत्रागात् । तापसो यावन्नदीमध्ये प्रविष्टस्तावन्मज्जनभूत् । ततो लोका हसन्त्यहो तापसस्य कर्गतं  
तपोऽधुना । तत आचार्योक्तं भो भो तापसा ! भो भो जना ! विलोकयत सावधानीभूय जिनमतप्रभावम् । गुरु-  
णोक्तं भो नदि ! यदि मम तपो निस्तुषं भवति तदा त्वं द्विधाभूय मार्गं देहि । ततो नद्या दत्ते मार्गे आर्यशमिता-  
चार्यः सपरिवारो नद्या अपरं तटं गतः । तं चमत्कारं श्रीआर्यशमिताचार्यकृतं वीक्ष्य सर्वे तापसा मुक्तगर्वा दीक्षां

जगृहुः । यतः—“ यस्माद्विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते, कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति ।  
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं चयः कर्मणां, स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तत्र किम् ॥ १ ॥ ”  
अन्ये बहवस्तापसभक्तजनाः श्राद्धा जाताः । ते तापसा ब्रह्मद्वीपिकनामानोऽभवन् ब्रह्मद्विपाधिवासात् इतस्तत्र  
श्रीवज्रस्त्रिहायनोऽभूत् । साधवो धनगिर्याद्या विहारं कुर्वाणास्तत्र समाजग्मुः । तत्रायातं धनगिरिं मत्वा स्वपुत्रं  
तस्मात् पश्चाद् गृहीष्यामीति हृष्टाऽजनि सुनन्दा । महर्षिभ्यः स्वनन्दनमयाचत । तेऽपि यतयस्तमददाना  
एवं जगुः । त्वया सर्वसाक्षिकं पुत्रो विश्राणितो धनगिरये । अधुना कथं याचसे । लज्जसेऽपि न ।  
त्रिकीतस्य दत्तस्य च क्वापि मार्गणं न भवति । सुनन्दाऽवगू—मया विमर्शो विनाऽर्पितः पुत्रः । सहसा कृतं कार्यं  
न कार्यसंपत्तिघटामाटीकते । श्रीसङ्घो जगाद्—सुनन्दे ! त्वया दृढीकृत्य पुत्रः पुरा गुरुभ्योऽर्पितः । अधुना  
कथं गुरवोऽङ्गीकृतं पुत्रमर्पयन्ति । साधुभिर्यद्विहरितं तत् सर्वथा पश्चान्नाप्यते । ततः श्रीसङ्घः सुनन्दा च  
विवदमानौ भूपपार्श्वे ययतुः । साधवोऽपि तत्र गताश्च । राज्ञोक्तं यस्य पार्श्वे स बालो गच्छति तस्याऽयं श्रेयः । सुनन्द-  
योक्तम्—अयं बालः पूर्वमेषां साधूनां चिरपरिचितो जातोऽस्ति । तेनाहं—प्रथमं सुखभक्षिकादिदानेनाऽऽकारयिष्यामि ।

राजाऽवगु-एवं भवतु । ततस्तथा सिंहकेसरमोदकमत्स्यदीद्राक्षावरसोलकादि सुखभक्षिकादि स्वर्णमयकन्दुकअमरकस्थ-  
गनकवर्तुलकहारार्द्धहारकटकादि रमणकयोग्याभरणादि समानीय एकतः सुनन्दया प्रोक्तम् । भो पुत्र ! वत्स एतानि  
वरत्तूनि अङ्गीकुरु । त्वं मम त्राणकृद्देवो, गुरुस्त्वं मोददायकः । आधारेऽसि स्फुटं वज्र !, महुत्सङ्गं समाश्रय ॥ १ ॥  
त्वदीयो जनको दीक्षां, ललौ विमुच्य मां द्रुतम् । तेन त्वमेव मे प्राणा-धारेऽसि नन्दनाऽधुना ॥ २ ॥ लोकस्यास्य  
पुरस्तेजो, दीनाया पुत्र ! पुण्य मे । एह्यालिङ्गनदानेन, गर्भवासानृणो भव ॥ ३ ॥ नृपाज्ञया सुनन्दाऽपि, बालक्रीड-  
नकानि च । विविधानि च भक्ष्याणि, दर्शयन्त्येतमभ्यधात् ॥ ४ ॥ हस्तिनोऽमी अमी अश्वाः, पत्तयौऽमी अमी  
रथाः । तत्र क्रीडार्थमानीता-स्तद्गृहाणेह बालक ! ॥ ५ ॥ मोदका मण्डकाख्या वा, शर्करा मधुधूलिकाः ।  
यदिच्छसि तदस्तीह, गृह्यतामेहि नन्दन ! ॥ ६ ॥ जनन्या वचांसि एवंविधान्याकर्ण्य दध्यौ वज्रः । माता  
तीर्थं निगद्यते लोकैस्तदपि सत्यं परं माता इह लोके सत्यामेव सम्पदि सुखदा भवति । स्वार्थमेव  
पुत्रमुत्पादयति, न पुत्रस्वार्थम् । श्रीसङ्घः श्रीगुरवश्च इहलोके परलोके च सुखदा भवन्ति । श्रीसङ्घश्च तीर्थ-  
ङ्कुरस्यापि मान्योऽस्ति । श्रीसङ्घे आराधिते माताऽऽराधितैव, माता अनन्तेषु भवेषु जाताऽस्ति । यतः “ पीयं थण-

यच्छीरं, सागरसलिलाउ हुज्ज बहुययरं । संसारंमि अणंते, माऊणं मन्नसाणाणं ॥ १ ॥ ” इति वचनात् । श्रीसङ्घश्च-  
 तुर्विधो मुक्त्यादिसुखदाता स्तोकेषु भवेषु प्राप्यते । प्राप्तेऽपि श्रीसङ्घे तस्य वचनाराधनं स्तोकेष्वेव भवेषु कृतमस्ति ।  
 यद्यधुना मातुर्वचो मन्यते, तदाऽवश्यं मम श्वश्रे पातो भवति । इतो धनगिरिसाधू रजोहरणं दर्शयन्निति प्राह—जइ  
 सि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयभूसियं इमं वयरं । गिन्ह लहुं रयहरणं, कम्मरयपमज्जणं वीरं ॥ १ ॥ जीवानां  
 कर्मबद्धानां, सुलभाऽम्बा भवे भवे । धर्मश्च दुर्लभश्चैकः, कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥ २ ॥ इत्यादि श्रीसङ्घधनगिरिप्रोक्तं  
 श्रुत्वा कुमारो हृष्टः । ततः श्रीसङ्घेन श्रीगुरुर्युक्तेन रजोहरणमुखवास्त्रिके मुत्तवोक्तं भो वज्र ! यदि तव संयमग्रहणेच्छा  
 भवति तदा रजोहरणादि गृहाण । नो चेन्मातृमुक्तं वस्तु गृहाण । श्रीसंघो मान्य एवेति ध्यात्वा रजोहरणं मुखव-  
 स्त्रिकायुक्तं कृत्वा मस्तके धृत्वा च ननर्तः वज्रः । रजोहरणहस्तोऽयं, पितुरुत्सङ्गसङ्गतः । शमामृतसरोऽभोजे, हंस  
 इवाशुभत् शिशुः ॥ १ ॥ सुनन्दा दुःखिनी भूता व्यचिन्तयदेवम् । पुत्रः प्रव्रजितो आतृपती प्रव्रजितौ मम ।  
 प्रव्रजाम्यहमप्याशु, मामि नैकाकिनी गृहे ॥ १ ॥ विचिन्त्यैवं सुनन्दा स्वगृहे गता । यतयश्च वज्रमादाय  
 स्वस्थाने गताः । वज्रस्तु व्रतिनीभ्योऽर्पितः । स च तत्रस्थो यतिनीभिर्गण्यमानामेकादशाङ्गमिपाठीत् । श्रुता-

न्येकादशाङ्गानि, मेधथैवाधिगम्य यः । बालत्वस्याज्ञतादोष-मासंसारमपाहरत् ॥ १ ॥ सुनन्दाऽपि संसारासारतां मत्वा श्रीसिंहगिरिगुरुपाश्र्वे व्रतमाददे । षड्वर्षप्रान्ते श्रीसिंहगिरिसूरिभिर्वज्रस्य दीक्षा दत्ता । क्रमादष्टवर्षप्रमाणोऽभूद्वज्रः । वज्रेणसममन्येद्युः श्रीगुरवोऽवन्तौ प्रति चेलुः । मार्गे गच्छतां गुरूणां पर्जन्ये वर्षति यक्षमण्डपे च स्थानमभूत् । इतः प्राग्जन्ममित्राणि जृम्भकाः सुरा वज्रस्य सत्त्वं परीक्षितुं तत्र वने समेत्य सार्थवाहनानाम दधाना वसनपटकुटीं विस्तार्य स्थिताः नीरवाहे वर्षति तत्रागत्य गुरुं वन्दित्वा प्रोचुः सुरा वणिगूरूपधराः । भगवन् प्रसादं कृत्वा श्रुद्धमाहारं लतुमस्माकं पटकुटीषु साधू प्रेष्येतां त्वया । ततो गुरुभिर्जलदमवर्षन्तं दृष्ट्वा वज्र ! गच्छैषां श्राद्धानां स्थाने विहत्यर्थम् । सूक्ष्मान् बिन्दून् परीक्षार्थं देवविकुर्वितान् वीक्ष्य यावत्तस्थौ तावद् देवैर्बिन्दुषु संहतेषु वनमध्ये तृणकुटीरेषु गतः । सार्थपतिना दीयमानमन्नं वीक्ष्य वज्रो दध्यौ । अस्य पादौ पृथ्वीं न स्पृशतः, नेत्रे मेषोन्मेषौ न कुरुतः, अस्मिन् काले इदमन्नं न भवति, इत्यादि वज्रो ध्यात्वाऽवगू-देवानां पिण्डो यतीनां न कल्पते । ततो वज्रर्षिचातुर्यं सत्त्वं चावलोक्य प्रकटीभूय देवास्तस्मै वैक्रियलब्धर्थी विद्यां ददुः । ततोऽन्यदा वणिगैरे, स्तैरेव देवैर्यं वज्रो विहरन् पुरीं बहिर्ज्येष्ठे मासि घृतं दातुं घृतपूरान् निमन्त्रितः । देवान् ज्ञात्वा वज्रोऽवगू यतीनां

देवपिण्डो न कल्पते, ततो देवास्तं वज्रं ज्ञानवन्तं मत्वा व्योमगामिनीं विद्यां तस्मै ददुः । स्थविरैरुक्तं वज्र त्वं पठ ।  
 वज्रस्तु स्वां शक्तिं गम्भीरत्वाददर्शयन् तस्यौ । अन्येद्युर्भिक्षार्थं साधुषु गतेषु सूरिषु च बहिर्भूमिं गतेषु वज्र एकाकी  
 वसतौ स्थितः । साधुमण्डलिकाकारेण सर्वामुपधिं स्थापयित्वा, स्वयं मध्ये गुरुविरोपविश्योच्चैःस्वरं एकादशाङ्गवाचनां  
 वज्रो ददौ । इतो गुरवो द्वारमागता मध्ये एकादशाङ्ग्या वाचनां ददानं वज्रं श्रुत्वा क्षणं तस्थुर्दध्युश्च । किं साधवो  
 विहृत्यागतास्तेषां वाचनां ददानोऽस्ति वज्रः । द्वारकपाटकाणके एकाकिनं वज्रमालोक्य गुरवो दध्युः । अहो अस्य  
 शिशोरेवंविधं गाम्भीर्यमेवंविधायां विद्यायामागतायां सत्यां स्वमेकादशाङ्गीज्ञातृत्वं कस्याप्यग्रे न प्रकटीचक्रे वज्रः ।  
 एष मुनिरेवंविधां चेष्टां कुर्वन् मास्मलज्जिष्ट । इति ध्यात्वा गुरुभिरुच्चैर्निषेधकोच्चारो विहितः । वज्रो गुरुशब्दमुपलक्ष्य  
 तत्क्षणमुपधिं स्वस्थानके विमुच्य संमुखमागत्य द्वारमुद्घाट्य च गुरोः क्रमरेणुं ममार्जं । तेनाद्य मुक्तिवामाक्षी—  
 वशीकरणकारणम् । गुर्वेधिरजसा भाले, बालेन तिलकं कृतम् ॥ १ ॥ प्राग्विष्टरनिविष्टस्य, गुरोः प्रासुकवारिणा ।  
 पादौ प्रक्षालयामास, वासनाभासुरोपमः ॥ २ ॥ श्रीगुरवस्तमेकादशाङ्गीविदुरं विनयिनं मत्वाऽन्येद्युः कस्मिंश्चिद्ग्रामे  
 यियासवो यतीन् प्रोचुः । वयं विहारं परिसरे करिष्यामः । दिनचतुष्टयं लगिष्यति तत्र । ततो यतयो जगुः व्यजि-

ज्ञपंश्चेति वयं सार्द्धमेप्यामः । गुरुभिरुक्तम्—बहुस्थानकैः परिसरे गन्तुं न शक्यते । आधाकर्मोदिनिष्पत्तिः तत्र दोषोत्पत्तोः । यतः “आहाकम्मुद्देशिय—पूङ्गकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए, पाउअरक्कियपामिच्चे ॥ १ ॥ परित्राट्टिअवमुहहु, भिच्चे मालोहडे य अचिञ्ज्जे । अणिसिट्ठज्झोयए, सोलस पिंडुगमे दोसा ॥२॥” यतयो व्यजिज्ञपन्—कोऽस्माकं वाचनां दास्यति । गुरुभिरुक्तम्—वज्रो वो वाचनां दास्यति । ततस्ते साधवोऽवितथमिदं गुरुवचो मन्यमानाः प्रतिपेदिरे । प्रातर्गुरुषु ग्रामं गतेषु साधुप्राश्रितो वज्रस्तेभ्यः साधुभ्यो वाचनां ददौ । साधवस्ते सुखबोधां वाचनां गृह्णन्तो दध्युः । एषः किं साक्षात् सरस्वत्यवतीर्णा अथवा बृहस्पतिः । अथ विहृत्य गुरुव आगताः । पृष्टं च गुरुभिः । भो साधवो गुष्माकं वाचना सुखेन जाता । तैरुक्तमद्यप्रभृति वाचनाचार्यो वज्रोऽस्माकं भवतु । अयं बालोऽप्यबालभावः साक्षात् सरस्वती मूर्तीभूय समागताऽस्माकं वाचनां दातुम् । ततो वज्रमुज्जृम्भितोदयं गुरुव-स्तमशेषशास्त्रादिरहस्यमपाठयन् । यावन्मात्रः श्रीद्वष्टिवादोऽभूत् तावद्वज्रोऽपाठीद्गुरोः पार्श्वे । अथ विहरन्तो गुरुवो जन्तुपापापहारका वज्रसहिताः पुरं दशपुरं जग्मुः । एकदा श्रीगुरुपादा जगुः श्रीवज्रं प्रति । अवन्त्यां श्रीभद्रगुप्तसु-रिर्दशपूर्वा विद्यते । दशपूर्वमध्येतुं तस्यान्तिके गच्छ । त्वां विनाऽन्यो मच्छिष्यः कोऽपि तच्छिष्यो कोऽपि दशपूर्वा-

मध्येता नास्ति । ततरत्वं वत्स गच्छहितकृद्गच्छोज्जयिनीं प्रति दशपूर्वमधीत्य दशदिगुस्थभव्यजनान् प्रबोधय  
 वज्र । दशपूर्वसुधापुर-पानध्यानस्य तेऽनिशम् । संनिधानं विधास्यन्ति प्रीताः शासनदेवताः ॥ १ ॥ इति प्रोक्तं  
 गुरुवचो दृढीकृत्य चित्ते मुदं वितन्वानो वज्रोऽचलदुज्जयिनीं प्रति । वज्रः साधुभ्यां द्वाभ्यां युक्तो मार्गे गच्छन् गगने  
 मार्तण्डो बुधशुक्राभ्यामिव शुशोभ । यतः-“ युक्तो गुरुनियुक्ताभ्या-मृषिभ्यां स बभौ पथि । सञ्चलन् गगने शुक्र-  
 बुधाभ्यामिव भानुमान् ॥१॥ दिदृक्षुर्भद्रगुप्ताख्यं, दशपूर्वसुधावधिम् । उज्जयिन्यामयं यातो, रजन्यामवसद् बहिः ॥ २ ॥  
 इतः सुप्तोत्थितो भद्र-गुप्तः शिष्यान् प्रगे जगौ । प्रातःक्षणे मया स्वप्न, ईदृशोऽद्य निरीक्षितः ॥ ३ ॥ जानामि कश्चिदा-  
 गन्तु-दुग्धपूर्णं पतद्ग्रहम् । गृहीत्वाऽस्मत्करात्पीत्वा, तृप्तश्च मुमुदेतराम् ॥ ४ ॥ तेनाद्य कोऽपि साधुर्मधावतां धुर्यः स  
 समेप्यति । यो मे पार्श्वे दशपूर्वं गृहीष्यति । अद्य मे सफलः सैष, दशपूर्वपरिग्रहः । भविष्यति द्रुतं तादृग्-वाचंयम-  
 सनागमात् ॥ १ ॥ दिष्ट्या न यास्यति मयि, व्युच्छित्तिं दशपूर्वसौ । यतोऽद्यात्र वरं पात्रं, समेप्यति न संशयः ॥ २ ॥  
 एवं जल्पति सूरिशे, हर्षपूरितमानसे । जल्पन्नैषेधिकीं वज्रो, वसत्या द्वारमागमत् ॥ ३ ॥ आकृतिं प्रकृतिं चास्य, दध्यौ  
 पश्यन्निदं गुरुः । अयं साक्षात् समायातो, योऽद्य दृष्टो मया निशि ॥ ४ ॥ वज्रो हर्षोत्कर्षवशंवदो गुरुं प्रदक्षिणी-



कृत्य विनयपूर्वं पुनः पुनः प्रणमच्छिरा गुरुपादौ ववन्दे । गुरुणाऽपि कराभ्यां सबहुमानमालिङ्गितो वज्रः ।  
प्रसिद्धसदृशकृत्या तं वज्रं निश्चित्य गुरुस्वाच । कश्चित् सुखविहारस्ते, कश्चित्तेऽङ्गमनामयम् । कश्चित्तपस्ते  
निर्विघ्नं, कश्चित्ते कुशली गुरुः ॥ १ ॥ किमर्थं तेऽत्रावन्त्यां विहारोऽधुनाऽभूत् । व्यक्तभक्तिभराभागो गुरुन् वन्दित्वा  
कुताञ्जलिर्वज्रो जगाद आदौ सुखविहारादि, यत्पूज्यैः समपृच्छयत् । तदस्त्येवाखिलं देव-गुरुपादप्रसादतः ॥ १ ॥  
गुरोरादेशाच्छ्रीपूज्यपादानां पार्श्वे दशपूर्वीमध्येतुमिहागमम् । तेन तत्प्रदानेन प्रसीद मे । ततो भद्रगुप्तो गुरुस्तं योग्य-  
पानं मत्वा दशपूर्वीं दातुं प्रवृत्तः । विनयपूर्वं पठन् वज्रः स्तोकेन कालेन दशपूर्वीं जातः । यतः-जले तैलं खले  
गुह्यं, पात्रे दानं मनागपि । प्राज्ञे शालं समायाति, विस्तारं वस्तुशक्तिः ॥ १॥ ॥ ततः श्रीभद्रगुप्तं गुरुमापृच्छय दशपुरं  
प्रति वज्रश्चचाल । वज्रः प्रीतो ज्ञातदशपूर्वीकः सिंहगिरिं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणनाम । जृम्भकैः सुरैः पूर्वसुहृद्भिरभ्येत्य तदा  
दशपूर्वधरस्य वज्रस्य महोत्सवश्चक्रोत्ततः श्रीगुरुभिः वज्राय सूरिपदं दत्त्वा गच्छभारो दत्तः । ततः सिंहगिरिसूरिर्हृत्तानशनः  
स्वर्गमारोह । श्रीवज्रसूरिर्धितिपञ्चशतीपरिवृतो विजहार मर्हतलोयत्र यत्र वज्रस्वामी गच्छति स्म तत्रानेके जनाः सम्यक्त्व-  
मूलं द्वादशवर्ती प्रपेदिरे । इतश्च पाटलीपुत्रे पुरे धनाढ्योऽभूद्वाणिक । तस्य पुत्री रुक्मिणी देवकन्येवाभवत्, तस्य श्रेष्ठिनः

शालायां श्रीवज्रस्वामिनः साध्व्योऽवसन् । तासां श्राद्धीनामग्रे साध्व्यो धर्मोपदेशं ददानाः श्रीवज्रस्वामिसौभाग्य-  
 लावण्यादिगुणस्तवं वितेनुः । श्रावं श्रावं गुणश्रेणीं साध्वीवक्त्राच्च तादृशीम् । श्रीवज्रे गतरागेऽपि रुक्मिणी रागवत्य-  
 भूत् ॥ १ ॥ रुक्मिणी साध्वीपुरोऽवग्-श्रीवज्रस्वामी ममास्मिन् भवे स्वामी भवतु । साध्व्यः प्रोचुः-मुग्धे ! सुवादिनि !  
 मैवं वादीः । भवत्या चिन्तितः कदाग्रहोऽयं निष्फलोऽस्मद्गुरोः पुरो भविष्यति । रुक्मिणी जगौ-मच्चिन्तितं यदि  
 सफलं न भविष्यति तदा संयम एव श्रेयान् । इतः श्रीवज्रस्वामी विहरन् पाटलीपुराद् बहिराजगाम । तत्र महीं-  
 भर्तृकृतप्रवेशमहोत्सवपुररसरं पुरमध्ये समागात् वज्रस्वामी । राजा दध्यौ एतेषां मध्ये वज्रः कः । तदा साधुभि-  
 र्वज्रतुल्यरूपैरुक्तमयं वज्रस्वामी । ततो राज्ञा नतो वज्रो भक्त्या । ततो गुरुक्तं धर्मं श्रुत्वा राजादिलोकः स्वं स्वं स्थानं  
 जगाम । राज्ञा वर्ण्यमानसौभाग्यादिगुणं श्रीवज्रस्वामिनं राड्यः श्रुत्वा महोत्सवपूर्वं श्रीवज्रं गुरुत्तमं ववन्दिरे । धर्मो-  
 पदेशस्तत्रेति दत्तो गुरुभिः । आसन्ने परमपए, पावेयव्वंमि सयलकल्लणे । जीवो जिणिदभणियं, पडिवज्जइ भावओ  
 धम्मं ॥ १ ॥ द्वितीये दिने तं गुरुमागतं श्रुत्वा द्वियं मुक्त्वा रुक्मिणी जनकं प्रति जगौ-वज्रस्वामी स समेतोऽस्ति ।  
 यत्र मे वरणस्पृहा विद्यते । अयं मम वरो भवतु-नो चेन्मृत्युरेव शरणम् । ततो धनो दिव्याभरणभूषितां पुत्रीं कृत्वा श्रीवज्र-

स्वामिने दातुमनाश्चाल । इतो लोकैः श्रीवज्रस्वामिनो रूपसौभाग्यौदार्यक्षान्तिप्रभृतिगुणान् वर्णयमानान् श्रुत्वा धनो दध्यौ ।  
अहो धन्या मदीया पुत्री । या वरस्यैवविधस्येच्छां करोति वरीतुम् । धनो वज्रस्वामिनं नत्वा धर्मोपदेशमाकर्ण्य कृताञ्ज-  
लिवर्यजिज्ञप्त । इमां मत्सुतां त्वदासक्तां त्वमुद्वह । वज्रस्वामी मम पति-मूर्तिर्वा शरणं मम ॥ इत्यस्यां सप्रतिज्ञायां,  
कृपां कुरु कृपामय ! ॥ १ ॥ अमूः स्वर्णकोटीरनया कन्यया समं तुभ्यं पाणिमोचनकर्मणि दास्यामीति धनवचः  
श्रुत्वा वज्रो भाषतेस्म । नदीकल्लोलकुम्भीन्द्र-कर्णध्वजादिचञ्चलाः । भोगाः पुण्यश्रियां रोगा-स्तद्योगानीहतेऽत्र कः  
॥ १ ॥ स्त्रियः श्रियश्च निश्चित्य तन्निदानमनादितः । तद्दानमुचितं भाति किं महाभाग ! मां प्रति ॥ २ ॥ किमियं  
मयि मांसासृग-स्थिकूटेऽनुरागिणी । दिशामस्याः पतितं(तो) यो, देवानामपि दुर्लभः ॥ ३ ॥ यस्य प्रेष्या गुणाः  
सर्वे, रूपश्रीर्यस्य किङ्करी । यस्य दास्यः श्रियः सर्वा, यस्य किञ्चिन्न दूषणम् ॥ ४ ॥ यत्प्रसादकणाद्भ्रान्ति,  
सुरासुरनरेश्वराः । कोशो यस्यातिभक्त्यैकप्रदेयपदमव्ययम् ॥ ५ ॥ कृतिन् स तवकन्यायाः, संयमोऽस्तु  
मनःश्रियः । यदि त्वमनुजानासि तत्करोमीह मेलनम् ॥ ६ ॥ आघ्रातं मरणेन जन्मजस्याः ॥ ७ ॥ व्याघ्रीव  
तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती ॥ ८ ॥ क्षणं बालो भूत्वा ॥ ९ ॥ रुष्पिणिअहिगर्णीए, लोहघणेणं घणं

पि संघडिओ । ईसिं पि जो न भिन्नो, सम्बो सो चैव वयरमणी ॥ १० ॥ इति श्रीवज्रसूरीणां, सुधाभार्ति-  
 भिरुक्तिभिः । शान्तमोहज्वरा पथ्यं, व्रतमादित रुक्मिणी ॥ ११ ॥ तदाऽनेके जना वज्र-स्वामिवाणी मनोहराम् ।  
 आकर्ण्य श्रीजिनप्रोक्त-धर्मेऽभवन् कृतादराः ॥ १२ ॥ महापरिज्ञाऽध्ययनात् श्रीवज्रोऽन्यदा सङ्घार्थं पदानुसारिलब्ध्या  
 चोद्वेगे विद्यां गगनगामिनीम् । अतः परमल्पसत्त्वा जीवा भवन्तीत्यभिधाय संघात्रे श्रीवज्रेण कर्मै-  
 वित्साधवे मनुष्यक्षेत्रभ्रान्तिमिता खगामिनी विद्या न ददे । अन्येद्युर्वज्रस्वामी विहरन् पूर्वदिग्भागादुद्विगदं प्रति-  
 प्रावर्तत । तत्रोच्चैर्दुर्भिक्षं दारुणं जातम् । ततोऽतीवक्षुधापीडितः श्रीसङ्घोऽभ्येत्य नत्वा श्रीवज्रयतीशं व्यजिज्ञपत् ।  
 इह दुर्भिक्षसाम्राज्ये, सुज्ञानानां मुहुर्मुहुः । अपि भूयोभिरभ्यानां, प्रभो ! तृप्तिर्न जायते ॥ १ ॥ इभ्यौकसां भिक्षु-  
 भया-ञ्चोद्घाटयन्ते कपाटकाः । पक्ष्माणि विषयत्रासा-दिव योगीन्द्रचक्षुषाम् ॥ २ ॥ राक्षमप्यन्नं कोऽपि भोक्तुं न  
 शक्नोति । कथविक्रयादिव्यवहारो दुर्लभोऽभूदधुना । भिक्षुजनो दण्डैस्ताड्यमानोऽपि बलाच्छयस्थमप्यन्नमाच्छिद्य  
 खादति । आगतेषु साधुषु विहृत्यर्थं किमपि शुद्धमन्नं दातुं न शक्यते । द्वारमप्युदघाटयितुं न शक्यते भिक्षुभ-  
 याद्, ग्रहीतमप्यन्नं तपोधनानां हस्ताद् भिक्षवो गृह्णन्ति । धर्मध्यानमपि कर्तुं न शक्यते । यतः—“ तदीहगदुःख-

संघट्टा—ससङ्घमुद्धर्तुमर्हसि । प्रभूतानुतलब्धीना—मब्धीभूतोऽसि यत्प्रभो ॥ १ ॥ एवंविधं सङ्घं व्याकुलं दृष्ट्वा वज्रो  
दध्यौ । सति सामर्थ्ये यः सङ्घार्थं स्वां शक्तिं गोपयति स दुर्गतिभाग् भवति ॥ यतः—सङ्घस्तीर्थकृतामपि मान्यः ।  
एवं ध्यात्वा द्रुतं वज्रस्वामी भुवनवत्सलः । विचक्रे चक्रभृच्चर्म-रत्नवद्विकटं पटम् ॥ १ ॥ सङ्घं निवेक्ष्य निःशेषं, तस्मि-  
न्नन्तर्निवेक्ष्य च । विद्यां विद्योतयामास, वज्रो गगनगामिनीम् ॥ २ ॥ श्रीवज्रस्वामिना व्योमविद्यया नीयमानः पटो  
द्युसदां विमानं यातीन्ति आतिं चकार । इतस्तदैव शय्यातरः कस्मैचित् कार्यार्थं गतः । तत्रागतश्च व्योमचालिनं वज्रं  
वीक्ष्य जगौ । पुराशय्यातरोऽहं वः, स्वामिन् साधर्मिकोऽधुना । तत्र किं मामीदृशि स्थाने, मुक्त्वा यासि जगद्गुरो ! ॥ १ ॥  
एतच्छय्यातरवचः श्रुत्वा सूत्रार्थमिममस्मरत् वज्रः । यतः—“ये साधर्मिकवात्सल्ये, स्वाध्याये चरणेऽपि वा । दीर्घ-  
प्रभावनायां चो—द्युक्तास्तांस्तारथेन्मुनिः ॥ १ ॥ ” इत्यागमार्थं स्मृत्वा सुनन्दासूनुस्तस्मिन् विद्यापटे पर्यारोपयामास  
तम् । ततः सङ्घतनूतेजः—स्तोमैराशाः रविरिव प्रकाशयन् । पटश्चचाल विश्वस्य, सारोद्धार इवाम्बरे ॥ १ ॥ सर्वै-  
र्गन्धर्वसिद्धाद्यैर्वन्द्यमानः पदे पदे । भक्तिनम्राननं सङ्घं, मोदयामास वज्रराट् ॥ २ ॥ ततः श्रीवज्रस्वामी तं  
श्रीसङ्घं पटोपरिस्थं महापुरे आनयामास । तत्र सुभिक्षे जायमाने श्रीसङ्घः सुख्यभूत् । परस्परस्फुरद्वादा जैना जनाश्च

बौद्धाश्च मिथो विवदन्ते । जैनैर्नित्यं बौद्धास्तत्राजीयन्त । इतो वार्षिकपर्वणि समायाते बौद्धा जना बौद्धनृपोपान्ते  
 गत्वा प्रोचुः । स्वामिन्नेषां जैनानामद्य वार्षिकं पर्वं समायातमस्ति । तेन पुष्पाणि मालिकानां पार्श्वार्थादात्मीयेषु प्रासा-  
 देषु आनीयन्ते । तत एतेषां गर्वोद्धतानां जैनानां गर्वं उत्तरति । ततो राज्ञा तथा कृते श्राद्धाः श्रीवज्रस्वामिपार्श्वे  
 गत्वा जगदुः । आत्मनो वार्षिकं पर्वं समायातम् । तत्र पुष्पार्चां विना शोभा न भवति । राज्ञा तानि पुष्पाणि  
 निषिद्धानि सन्ति । श्रीपूज्यपादा एव पुष्पानयने समर्था दुष्टनिग्रहे च । तीर्थार्थवहेलना सत्यां शक्तौ न सहितव्या ।  
 यतः—“तीर्थोन्नतिकृते नित्यं, यतन्ते साधवोऽपि हि । तेनेह भवता स्वामिन्, कार्यो तीर्थप्रभावना ॥ १ ॥” निशम्यैतद्वज्र-  
 स्वामी तीर्थोन्नतिकृते खगामिन्या विद्यया कृत्वा माहेश्वरीसमीपवने विस्मयावहे ययौ । धनगिरिपितुर्मित्रं मालिकस्ताडिताहो  
 वज्रमागतं दृष्ट्वा मुदाऽवदत् । अद्यास्मि कृतकृत्योऽहं, वज्र त्वन्मुखवीक्षणात् । तथाप्यादिश कृत्यं मे, किमपि स्वमुखोक्तिभिः  
 ॥१॥ वज्रस्वामी ततः प्राह—अस्माकं वार्षिकं पर्वदिनं कल्येऽस्ति । तेन पुष्पाणि महापुरपुरे विलोक्यन्ते जिनपूजायै । ततः  
 स मालिकः एकविंशतिकोटिपुष्पाणि ददौ । ततः क्षुल्लहिमवन्तं ययौ, तत्र शाश्वतजिनान्नत्वा तत्रस्थदेवपार्श्वार्थत्पुष्पाणि  
 महापुरं प्रति चालयामास । ततो हुताशनयक्षवनादपि देवपार्श्वार्थत् पुष्पाणि चालयामास । एवं वज्रस्वामी बहुभ्यो

वनेभ्यः पुष्पभृतानि करण्डकान्यानयामास । तदा तस्मिन् पर्वणि बहूनि पुष्पाणि देवैरानीतानि वीक्ष्य जिनालये  
महोत्सवं जायमानं चानेके बौद्धा मानं मुक्त्वा श्रीवज्रस्वामिपादान् नेमुः । राजापि बौद्धो जिनधर्मभक्तोऽभूत् ।  
इतश्च दशपुरे पुरे सोमदेवो द्विजोऽभूत् । रुद्रसोमा जिनधर्मभाग् तस्य पत्न्यभूत् । तयोरुभौ सुतौ आर्यरक्षित-  
फलगुरुरक्षितौ अभूताम् । अधीयानः सुधीर्मौज्जी-ञ्जन्धादेवार्यरक्षितः । यावत्यभूत् पितुः पार्श्वे विद्यामादत्त तावतीम्  
॥ १ ॥ ततोऽधिकविद्यार्थी पाटलीपुत्रं आर्यरक्षितो ययौ । तत्र सर्वविद्याविशारदो भूत्वा स्वपुरसमीपे समागात् ।  
सर्वविद्यापारगं मत्वा संमुखमेत्य राजा तं गजारूढं कृत्वा महामहोत्सवपुरस्सरं नृपः पुरमध्ये आनिनाय । राज्ञा  
सन्मानितश्च धनदानात् । ततोऽनेकलोका उपायनपाणयस्तं सेवन्ते स्म । गृहस्य बहिःशालायां बन्दिभिः स्तूय-  
मानोऽस्थात् । स्वजनास्तोरणस्वस्तिकादिकं चक्रुः । अन्येद्युरार्यरक्षितो दध्यौ मां धिक् । एवं पदवीं प्राप्तेनापि मया मातृपदौ  
न नतौ । आर्यरक्षितो दध्याविति । अस्मत्सुखैकसुखिनी-मस्मद्दुःखैकदुःखिनीम् । प्रवासद्गुफलैर्विद्या-वित्तरानन्दयामि ताम्  
॥१॥ एवं ध्यात्वा मध्येगृहं गत्वा मातृपदौ आर्यरक्षितो ननाम । माता जगौ-भो वत्स ! दीर्घायुर्भव । परं मातुस्तादृग् हर्षो न  
दृष्टः । पुत्रप्रेमान्वितां मातृवाणीमप्राप्यार्यरक्षितो दध्यौ । मयि माता किं प्रसन्नीभूय न वक्ति । कोऽपराधो मया कृतः । प्रणम्य

पप्रच्छ मातरम् । मातरहं भरिशास्त्राणि अधीत्याऽऽगां तव किं हर्षो न दृश्यते । माताऽऽह-वत्स ! किमनया कुविद्यया नरक-  
 हेतुना । किं ताए विज्जाए, पयकोडीए पलालभूआए । जत्थ इत्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥ पुत्रः  
 प्राह । मातः केन शास्त्रेण पठितेन ते हर्षः स्यान्माताऽऽह-वत्स ! यदि मातुर्भक्तोऽसि, तदा दृष्टिवादं मुक्तिसुखदमधीष्व ।  
 प्रवणो दृष्टिवादोक्तौ, श्रमणोपासको भव । विना दिनाधिपोपासितं, न दृश्यं हि महम्महः ॥ १ ॥ सूरितोसलि-  
 पुत्रोऽस्ति, सदिक्षुवणसंश्रितः । भज तं दृष्टिवादाय, यष्टिमादाय भूयसीम् ॥ २ ॥ प्रातर्मातः करोमीद-मित्युदित्वाऽर्थ-  
 राक्षितः । दृष्टिवादं कदाऽधीये ध्यायन्निति निशि स्थितः ॥ ३ ॥ प्रातर्मातापितरावा(वना)पृच्छ्य चचाल सः । पुरा-  
 द्विर्गच्छन्नार्थराक्षितः केनचित् पृष्टः कोऽसि त्वं, सोऽवग्-अहमार्थराक्षितः । ततस्तेन पुरुषेणालिङ्गयेदमुक्तम् । शाखा-  
 पुराश्रयोऽहं त्वत्पितृमित्रं महाद्विजः गृहचिन्ताभरमनोऽस्मि । त्वमुत्सुकोऽपि प्रातरिमा इक्षुयष्टीः सार्द्धा नव गृहाण ।  
 ततस्ता इक्षुयष्टी गृहीत्वा जगौ । अहमग्रतः कार्यार्थी याताऽस्मि । त्वया इक्षुयष्ट्यर्पणवृत्तान्तो मम मातुरग्रे प्रोक्तव्यः ।  
 आर्थराक्षितोऽग्रतश्चचाल । विप्रेणार्थराक्षितस्वरूपे प्रोक्ते रुद्रसोमा दध्यौ । नव पूर्वाणि सार्द्धाणि मत्सुतो लप्स्यते ।  
 आर्थराक्षितोऽपि ध्यातवान् अहं सार्द्धनवपूर्वा भविष्यामि सार्द्धनवैक्षुप्राप्तेः गुरुनहं वन्दिष्ये इति ध्यायन्



यावच्छालाद्वारमगात् तावच्छ्रीगुरुभिः पाठ्यमानानां साधूनां मालवकीप्रमुखमन्द्रवमाकण्यार्थरक्षितो मुमुदे,  
वसतौ कथं केन विधिना प्रविश्यते इति च दध्यौ । तदा धार्मिको ढहुरो नैषेधकीं कुर्वन् वसतिद्वारं प्रविवेश ।  
उन्नगीः ढहुरः प्रत्येकं गुरुन् वन्दित्वाऽपरान् साधून् वन्दित्वा प्रमार्ज्य भूमिं स्थितः । ढहुरकृतं सर्वं वीक्ष्यार्थरक्षित-  
स्तथैव सर्वान् वन्दित्वाऽस्थात् । सूरिणा ध्यातं को नूतनोऽयं श्राद्धः । यतो ढहुरमवन्दित्वोपविष्टः । पृष्ठं च गुरुणा  
तव को गुरुः सोऽवग् ममायमेव श्राद्धो गुरुः । येनारय पार्श्वीत मया ज्ञाता विद्या । ततः पृष्ठं गुरुणा कुत आयातो  
भवान् ! कुती विनयपूर्वमार्थरक्षितः स्वं वृत्तान्तं सर्वं सोमदेवभूर्गुरुभ्य आचष्ट । भद्रभावं तं च मत्वा गौरवाद् गुरवो  
जगुः । दृष्टिवादं च परिव्रज्यां विनाऽध्येतुं न बुध्यते । सोमदेवसूनुः प्राह-तर्हि संयमं मयां देहि । ततो गुरुस्तं योग्यं पात्रं मत्वा  
दीक्षां दत्त्वाऽग्रतो विजहार । आर्थरक्षितो गुरुपार्श्वे पठन् स्तोकैरेव दिनैरेकादशाङ्गीमङ्गीचकार । आसीद्यावान् दृष्टिवादो  
गुरुपार्श्वे तावान् एष गुरुभिः पाठितः । ततः प्रोक्तं वत्स ! यद्यधिकदृष्टिवादभणने वाञ्छाऽस्ति तदा वज्रस्वामिपार्श्वे  
गत्वा दृष्टिवादमधीन्व । तत आर्थरक्षितो महापुरीं प्रत्यचालीत् । उज्जयिन्यां भद्रगुप्ताचार्यसन्निधौ गतः । गुरवो वन्दिताः ।  
गुरुभिरुपलक्ष्योक्तम् । वत्स ! वर्यं कृतं यद ब्राह्मण्यमुन्मुच्य श्रामण्यं गृहीतम् । गुरुभिरुक्तं च अहं वृद्धोऽभूवम् ।

तेनामशनं गृहीष्येऽद्य । गृहीतानशनः श्रीभद्रगुप्तसूरिवादीत । वज्रपार्श्वे गच्छ, तत्र दृष्टिवादं पठेः । वज्रपार्श्वे  
 विद्यां गृह्णता त्वया पृथगुपाश्रये स्थेयं भोक्तव्यं च कारणमस्ति । तत्र यः श्रीवज्रमण्डल्यां बुभुजे स तेन  
 सार्द्धमनशनं ग्रहीता भविष्यति । तथेति गुरुवचः प्रतिपद्य निर्योमणां गुरोः कारयित्वाऽऽर्थरक्षितो वज्रस्वामि-  
 पार्श्वे दृष्टिवादं पठितुमचालीत । वज्रः स्वप्नमितोऽद्राक्षीत, कोऽप्यागत्य मदन्तिकत । पपौ भूरितरं क्षीर—मवशिष्टं  
 किमप्यभूत् ॥ १ ॥ स्वप्नस्यार्थं प्रगे वज्रः शिष्याणामग्रे ग्राह—कोऽप्यपूर्वस्तादृशः शिष्यः समेष्यति । यो न्यूनां दश-  
 पूर्वोमस्मत्पार्श्वीत गृहीष्यति । अस्मिन्नवसरेऽकस्मादार्थरक्षितो नैषेधिकीकरणपूर्वं वसतिमध्ये प्रविश्य श्रीवज्रस्वामिनं  
 ववन्दे । स पृष्टः श्रीवज्रेणागमनकारणं सर्वं जगौ । श्रीभद्रगुप्तवाचानुज्ञाप्य भिन्नं प्रतिश्रुत्य दृष्टिवादमधीयायार्थ-  
 रक्षितः । नवपूर्वी पठित्वा दशमस्य विषमं यमकव्रजं पठत्यार्थरक्षिते पितुः संदेश आययुः । वत्स त्वां विना वयं  
 दुःखिता जाताः । तेनात्रागमनेन नः सुखिनः कुरु । ततस्तत्पूर्वं त्वरितमध्येतुं प्रवृत्तः । इतः फल्गुरक्षितोऽनुजोऽभ्ये-  
 त्यार्थरक्षितं प्रति जगौ । यदि मातृपितृविषये वात्सल्यमस्ति ते तदा तत्रागत्य मातापित्रादिबन्धून् प्रमोदय । केचित्  
 प्रव्रज्यार्थिनः सन्ति बान्धवाः । अथार्थरक्षितोऽवग—वत्स गमिष्यते तत्र, दीक्षा रोचते तव तदा गृहाण । ततः फल्गु-

रक्षितोऽपि दीक्षां जग्राह । पुनर्भात्रा गन्तुं तत्रोत्साहितो जगौ । श्रीवज्रपाशे कियद्दशमतः पूर्वादधीतं मया कियदु-  
द्धरितं गुरुभिरुक्तम् । एको बिन्दुरधीतोऽस्ति दशमपूर्वाम्बुधेः । ततः सविशेषं पठन् दशमपूर्वाद्धं पपाठाधिकं नायाति ।  
ततश्चिन्तितं पूर्वं पुरास्मिर्गच्छतो मम सार्द्धं नव इक्षुयष्ट्यो दत्ता जनकमित्रेण । तेनाधिकं नायास्यति मम । ततः प्राप्तसूरिपद-  
आर्यरक्षितो आतृयुतो गुरुं प्रणम्य चलितः क्रमाद्दशपुरं पुरं समागात् । पुरीप्रवेशकरणपूर्वं पुरमध्ये आगत आर्यरक्षितः । नृपादि-  
सर्वलोकैर्धर्मोपदेशः श्रुतः । तैश्चिन्तितं च एवंविधो धर्मोपदेशः कुत्रापि न श्रुतः । राजा श्राद्धोऽभूत् । सोमदेवः प्रबुद्धो  
दीक्षां जग्राह । यथा च सम्यक्चारित्रं प्रपेदे स सम्बन्ध आर्यरक्षितचरित्राद् ज्ञेयः । इतः श्रीवज्रोऽन्यदा विहरन्  
दक्षिणां दिशं ययौ । तत्रस्थोऽन्यदा श्लेष्माऽऽकुलो यतिभिराग्रहात् द्विविधं प्रत्याख्यानं कारितो वज्रस्वामी सुंठीं वारां  
कुर्वन् कर्णपुटस्थितां चकार । पश्चाद् ग्रहणार्थं स्वाध्यायसेन तां विसस्मार । प्रतिक्रमणक्षणे मुखवल्लिकानुच्चां सुंठी-  
मग्रे पतितां वीक्ष्य दध्यौ । धिग् मां यत ईदृशः प्रमादोऽभूत् । अतः परं ममाल्पायुर्विद्यते ईदृग्प्रमाददर्शनात् ।  
तत्तनोमि देहत्यागमनश्नग्रहणात् । तदा द्वादशाब्दे दुर्भिक्षे जायमाने स्वशिष्यमन्यतो वज्रो व्यवहारयत् वज्र-  
सेनम् । तादृशे दुर्भिक्षे जायमाने भिक्षामलभमानांस्तपोधनान् वीक्ष्य विद्याबलाहतेनान्नेन युष्मान् पोषयामीत्यादिशत्

वज्रसेनः । तथा च—“सर्वतथ संयमं संजमाउ, अप्पाणमेवरक्खिज्जा । मुच्चइ अववायाओ, पुणो विसोही न से विरई ॥१॥” अथ मुनयो गुरुन् विज्ञपयामासुः । “पिंडं असोहयंतो, अचरिन्ती इत्थ संसओ नत्थि । चारिचंमि असंते, सव्वा किरिया निरत्थया ॥ १ ॥” तथा च—“भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहा—दमी सर्वेऽपि पुद्गलाः । उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, विज्ञानां का स्पृहा पुनः ॥२॥” ततो वयममुमन्नमपहातुमीहामहे । एवं वज्रसेनं परिज्ञाप्य श्रीवज्रपार्श्वे पञ्चशतशिष्याः समागता इति तदनुमतो निःसीमसौभाग्यनिधिर्भगवान् वज्रस्वामी वज्रसेनवर्जं पञ्चशत्या तपोधनैः समं कृपया कापि ग्रामे भुल्लकमेकं विप्रतार्य स्वयं गिरिमारुरोह । स शिष्यो गुरोः प्रीतिपरिहाराय गिरिर्धः स्थितोऽपि न्युत्सृष्टचतुर्विधाहारः कापि शिलातले तदा नवनीतपिण्डवाद्विलीनः सुरलोकमाप । तत्र तद्वपुःपूजार्थं सुरानापततो वीक्ष्य परिवारेण विज्ञप्ता गुरवः भुल्लकवृत्तान्तं श्रुतोपयोगात् आख्यातवन्तः । तत्र गिरौ कापि देवता मिथ्यादृग् चालयितुं वज्रं यतियुतं समागात् । चालितोऽपि वज्रस्तथा न चालितः । ततो वज्रस्तस्या देव्या अप्रीतिं मत्वाऽन्यत्र गत्वा कुतश्चेन्न देवीकायोत्सर्गः स्वर्गं प्राप ! ते शिष्या अपि स्वर्गं प्रापुः ततस्तन्नागत्येन्द्रस्तं तीर्थमित्युक्त्वाऽनंसीत् । अथ वज्रसेनस्ताच्छिष्यः सोपारकपत्तने गतो जिनदत्तगृहे । तेन श्रेष्ठिना ईश्वरीपत्न्या च स गुरुर्नमस्कृतः । पिष्य-

माणं विषं दृष्ट्वा गुरुणा प्रोक्तं किं क्रियतेऽधुना ? श्रेष्ठी जगौ-द्वादशवर्षभितो दुर्भिक्षोऽभूत् । धनमस्ति धान्यं स्तोक-  
मपि न लभ्यते । लक्षद्रव्येण इयत् धान्यमानीतमस्ति । अस्य मध्ये विषप्रक्षेपं कृत्वा भुक्त्वा च प्राणत्यागः  
कुटुम्बेन सह मया करिष्यते । गुरुणोक्तं-कल्ये बहूनि धान्यपूर्णानि यानानि समेष्यन्ति तेनेदं न कर्तव्यम् ।  
श्रेष्ठिनोक्तम्-श्रीपूज्यपादोक्तं यदि भविष्यति सत्यं तदाऽमी चत्वारः सुता दीक्षां गृहीष्यन्ति श्रीपूज्यपादान्ते । ततः  
प्रातः सुभिक्षेऽन्नागमनाज्जाते सकुटुम्बः श्रेष्ठी वज्रसेनमुनेः पार्श्वे प्रवव्राज । ते चामी-नागेन्द्र १ चन्द्र २ विद्या-  
धर ३ निवृत्ति ४ नामानः सुताः चत्वारः क्रमादाचार्या जाताः । यतः-“ गुर्वानां मस्तके धृत्वा, सर्वज्ञानानुपालनम् ।  
तज्जायते ततस्तत्र, यथास्यादपुनर्भवः ॥ १ ॥ ततो नागेन्द्रादिभ्य आचार्येभ्यश्चत्वारः शाखा अभूवन् । सोपारक-  
पत्तनेऽद्यापि श्रीवृषभप्रासादे एतेषां मूर्तयो दृश्यन्ते । ॥ इति श्रीवज्रस्वामिचरित्रं समाप्तम् ॥ ११ ॥

कुर्वानोऽग्रं तपो नित्यं, दुष्टं कर्मापि निर्मितम् । जीवो भिनत्ति तत्कालं, नन्दिषेणमुनीशवत् ॥ १ ॥  
तथाहि । आसीच्छ्रीपुरं पुरं स्वर्गसंनिभम् । तत्र मखप्रियाहो विप्रो वसति स्म । अन्यदा भीमाहं दासमासन्नकार्याय

न्ययुङ्क्तु मखप्रियः स दासस्तं प्रत्यवग्-मखशेषं मह्यं यदि ददासि तदोत्तिष्ठामि नान्यथा । विप्रोऽपि प्रतिपेदे तदीयं  
वचः । लब्धं लब्धं भीमः साधवे ददाति । तैः पुण्यैः स दिवं गत्वा, न्युत्वा राजगृहे पुरे । श्रेणिकक्षोणिभुग्पुत्रो,  
नन्दिषेणाभिधोऽभवत् ॥ १ ॥ मखप्रियस्तु भूरिषु भवेषु भ्रान्त्वा वने करिण्या उदरेऽवततार । अस्य यूथस्याधिपोऽन्यो  
माम्भूदिति धिया ध्यायन् यूथाधिपतिर्जातं जातमपत्यं हन्ति स्म । स्वान्यपत्यानि यूथपतिना हन्यमानानि दृष्ट्वा दन्तिनी  
दध्यौ । तनूजरक्षणोत्साहो विद्यते मम । तेन ज्ञायते यः पुत्रोऽधुना भविष्यति स नमितारिर्भवी । तेन जातमात्र एव  
मया त्रातव्योऽन्यत्र मुत्त्वा इति ध्यात्वा मायया वातग्रस्तीभूय मन्दं मन्दं पश्चात् पतति युथस्य । पशूनामप्यपत्येषु  
मोहो भवति । यतः “आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गात्, मां मुञ्च वागुरिक ! यामि कुरु प्रसादम् । अद्यापि शश्यक-  
वलग्रहणानभिज्ञा, मन्मार्गमार्गपराः शिशवो मदीयाः ॥ १ ॥ ” असौ करिण्यन्यभोग्या मा भवतु । अतः क्षणं  
प्रतीक्ष्यते । सा तु मन्दं मन्दं चलन्ती घटया घटीद्वयेन च पत्युर्मलति । एवं क्रमात् दिनेन दिनद्वयेन च मिलति ।  
हस्ती दध्यौ इयं पत्नी वातग्रस्ताऽभूत् । किं क्रियते । ततोऽभ्युद्यथो विश्रम्भचेताः । कदाचित् प्रसवसमं मत्वा  
दूरस्थे यूथपे मौलितुणपूला तापसाऽऽश्रमं ययौ । विनयवतीं करिणीं शरणार्थिनीमिव मत्वा मुनयः प्रोचुः । पुत्रि ! तिष्ठ

इह निर्भया । तत्रस्था तस्मिन्नहनि गजं सुलक्षणेपेतमसूत सा हस्तिनी । तं बालं तत्रैव मुच्यवा मन्दं मन्दं यूथपाश्व  
गता । पयः पाययितुं बालं समायति चान्तरा । तापसैर्ग्रासदानेन कलभो वृद्धिं नीतः तापसबालैः सह स कलभः  
करकोटरं पयःपूर्णं कृत्वा वृक्षान् सिञ्चति स्म । ततो मुनिभिः सेचनक इति नाम दत्तम् । सेचनकः क्रमादिक्रमी  
बभूव । सेचनकोऽन्यदा नदीं गतः पानीयं पातुम् । तं पितरं यूथपं युद्धेन हत्वा यूथपतिर्बभूव सेचनकः क्रमात्,  
स हस्ती दृक्ष्यै । तापसाऽऽश्रमेऽस्मिन् मन्मात्राऽहं छलेन पतिं वञ्चयित्वा जनितो वर्धितश्च । माऽपरा करोत्यास्मिन्नाश्र-  
मस्था इति ध्यायन् दन्ती तमाश्रमं बभञ्ज । अयं दुर्मत्तो हस्ती अस्माकमाश्रमान् भङ्गक्षयति इति ध्यात्वा तापसाः  
सेचनकस्वरूपमाचरव्युः श्रेणिकभूपस्याश्रे । ततः श्रेणिकः सेनां संनष्टा तं हस्तिनं धर्तुं वने गतः । छलेन बलेनापि  
कोऽपि तं गजं वशीकर्तुं न शक्नोति । तदा राजा विषण्णोऽभूत् । विषण्णं तातमालोक्य सानन्दनन्दिवेषणस्तं हस्तिनं  
वशीकर्तुं स्वयमुत्थितः । नन्दिवेषणं समायान्तं वीक्ष्योहापोहपरो जातजातिस्मृतिः पूर्वभवसम्बन्धिनमवगत्योर्द्धस्तस्थौ ।  
तं करिणं वशीकृत्य श्रीश्रेणिकभूपाय ताताय ददौ नन्दिवेषणः । ततो राजा तं सेचनकहस्तिनं पट्टहस्तिनं चकार ।  
पुत्रं सविशेषं ग्रासार्चपणात् प्रीणयामास भूपः । इत श्रीवीरः पुरोधाने समवासार्षीत् । नन्दिवेषणोऽन्यदा श्रीवीरपाश्व

धर्मोपदेशमाकर्ण्य पप्रच्छ भगवन् ! अयं गजो मयि कथं प्रीतिपरोऽभूत् । ततो भगवता तस्य प्राग्भववृत्तान्तः प्रोक्तः ।  
 इतः श्रेणिकप्रभृतिलोको धर्मं श्रोतुं तत्रागात् । तथाहि—माणस्सखित्तजाई कुलरूवारुगमाउयं बुद्धी । सवणं गहणं सद्धा,  
 संजमो लोगंभि दुलहाइ ॥१॥ इति श्रुत्वा भगवद्वाणीं प्रबुद्धो नन्दिषेणः संयमं ममार्गं प्रमुपार्श्वे । प्रमुणोक्तम्-चारित्रावरण-  
 कर्मभोगफलं च बलवत् । विद्यतेऽद्यापि दीक्षाये, मा भूद्वत्स समुत्सुकः ॥१॥ ततः प्रमुणा वार्यमाणोऽपि दीक्षां जिघृक्षुरभूद्वा-  
 वत्तावदाकाशे इति दिव्या वाणी जाता । मा ग्रहीस्त्वं दीक्षां भोगफलं विद्यते तव । एवमुक्तेऽपि नन्दिषेणो दीक्षां  
 जग्राह नन्दिषेणः प्रमोदात् षष्ठाष्टमादितपःपरोऽविश्रमं विजहारानुप्रमुं वीरम् । सूत्रार्थवाचनापरो द्वादश भावना  
 भावयन् द्वाविंशतिं २२ परीषहान् सहमानः कर्मद्रुमुन्मूलयामास ॥ तथाहि—“खुहापिवासासीउन्ह—दंसाचेलारइत्थिय ।  
 चरियानिसीहिआ सिज्जा अक्कोसवहजायणा ॥ १ ॥ अलाभरोगतणफासा, मलसक्कारपरिसहा । पण्णाअन्नाणसमत्तं,  
 इय बावीसपरीसहा ॥२॥” अथोद्भवन्ती भोगेच्छां भोगकर्मोदयाद्रोद्धुं तपः प्रबलं करोति नन्दिषेणः आतापनां करोति  
 स्म वा । यतः—“आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा । वासासु पडिसंलीणा, संजयासु समाहिया ॥ १ ॥”  
 चारित्रवारिणी देवता नित्यं तस्य भोगाम्बुत्रौ पातयितुं यततेस्मात्ततश्चारित्रं रक्षितुं पर्वतमारुह्य झंपां दातुकामोऽभून्नन्दिषेणो



यावत्तावत्तं पतन्तं करे धृत्वाऽन्यत्र मुक्त्वा देवतोवाच । किं मुधा मर्तुं यतसो भोगफलममुक्त्वा न मृतिं यास्यसि । तत एकाकी  
तीव्रतपःपरो नन्दिषेणोऽन्यदाऽनाभोगात् कस्याभिद्वेष्टयाया गृहे आहारार्थं प्रविष्टो धर्मलाभमुच्चचार । वेष्ट्याऽप्याह सहासेयं,  
धर्मलाभेन किं मम । शर्मलाभं धनेनाह—मीहे सप्रत्ययं यतः ॥१॥ माभियं हसतीति मानात्तीव्रात्तृणमाचकर्ष ऋषिर्याव-  
त्तावद्रत्नकोटिर्द्वादशमिता व्योम्नोऽपतत् तस्य तपोलब्ध्या । शर्मलाभोऽनेन धनेन तवास्तिवति कथयित्वा यावद्यतियीति,  
तावद्देश्ययोक्तम्—किन्ते तपोभिर्मृदुता-जितपुष्कलदुष्करैः भोगान् मुंक्ष्व मया प्राण-भर्तर्मर्तेव्यमन्यथा ॥२॥ ततो मुनिर्देव्युक्तं  
भोगफलं मत्वा तां वेष्ट्यामङ्गीचक्रोत्ततस्तत्र धर्मोपदेशेन प्रतिदिनं दश दश नटविटान् प्रबोध्य दीक्षां ग्राहयित्वा मया भोक्त-  
व्यमित्यभिग्रहं नन्दिषेणो ललौ । मुक्तार्षिलिङ्गः स तथा सह भोगान् भुञ्जानो दिनं प्रति दश दश जनान् प्रतिबोध्य  
दीक्षां ग्राहयामास । अन्यदा द्वादशवर्षान्ते भोजनवेलायां जातायामपि यदा दशमो नरो नाभिलत् तदा द्वित्रिवारं  
रसवत्यां कृतायामकस्माद् हारयेन वेश्ययोक्तम्—स्वामिन्नुच्छिष्ट मुक्ष्व । अद्य दशमो भवानेव भवतु । ततस्तस्या एव  
तद्वचोऽङ्गीकृत्य तां जल्पन्तीमपि तृणमिव त्यक्त्वा पुनर्गुरुपार्श्वे गत्वाऽऽलोचनां सम्यग् गृहीत्वा दीक्षां लत्वा तीव्रं  
तपस्तप्त्वा कर्मक्षयं च कृत्वा मुक्तिमुखं नन्दिषेणः प्राप ॥ इति नन्दिषेणकथा समाप्ता ॥

वैयावृत्यं वितन्वानः साधूनां वरभावतः । बध्नाति तनुमान् नन्दि-षेणवत्कर्म सुन्दरम् ॥ १ ॥

तथाहि—मगधदेशभूषणे नन्दिग्रामे सोमिलो द्विजो वसति स्म । तस्य सोमिला पत्न्यभूत् । तयोर्नन्दनो नन्दिपेणोऽभूत् । बाल्ये तस्य पितरौ मृतौ । आर्केशनखपर्यन्तं तं कुरूपं नन्दिषेणं दौर्भाग्यकर्मोदयं मत्वा स्वजनैरपि तत्पते स मातुलगृहे स्थितः चारिपानीयानयनादिकर्म करोति स्म । अन्यदा दुःखितं भागिनेयं विनयपरं मत्वा मातुलो जगौ । मा खेदं कुरु, मम सप्त कन्यकाः सन्ति । ताभ्य एकां कन्यां तुभ्यं दास्ये । ततो विशेषतस्तस्य गृहकर्माणि सोत्साहं कुरुते स्म । मत्वा पितृचेष्टितं नन्दिषेणपरिणयनस्वरूपगर्भितं प्रथमा कन्या तातात्रे जगौ यद्यहं नन्दिषेणाय त्वया दास्यते तदा मया मर्तव्यमेव । तच्छ्रुत्वा नन्दिषेणं व्याकुलं चिन्तापरं मत्वा मातुलोऽवग-द्वितीयां कन्यां तुभ्यं दास्याम्यहं मा विषादं कुरु । द्वितीयाऽपि तथैव श्रुत्वा प्रथमपुत्रीवज्जगौ एवमन्याभिः प्रतिषिद्धो नन्दिषेणो विषादमापन्नः । तं विषण्णं मत्वा मातुलोऽवग-कस्याप्यन्यस्य पुत्रीं तुभ्यं दापयिष्यामि । ततोऽन्या या या कन्या तस्यार्थं मातुलेनानीता सा सा दौर्भाग्यकर्मोदयात्तं नेहते दृष्ट्वा मनसापि । ततो नन्दिषेणो विपण्णो दध्यौ । अत्र किं स्थीयते मया यदीदृशं कर्म समायातं मरणमेव क्रियते मया । एवं ध्यात्वा नन्दिषेणो

विषण्णो वैराग्यवासितः रत्नपुरं पुरं गतः । तत्रापि दम्पती भोगपरौ वीक्ष्य स्वं निनिन्द । अहमीदृगभाग्यवानभवम् । ततो वने गतो नन्दिषेणो भृगुपातचिकीर्षुः कायोत्सर्गस्थमुनिना वारितः । तं प्रणम्य स्वकर्मस्वरूपं जगौ यतः—  
“ रोगिणां सुहृदो वैद्याः प्रभूणां चाटुकारिणः । ” मुनिर्ज्ञानात्तद्भावमुद्भाव्याभाषत—मुग्ध ! वैरूप्यवैराग्यात् मा कुरुष्व मृतिं, मरणेन कोऽपि पश्चात्कृतकर्मणो न छुटति । यतः—“ कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ १ ॥ ” तस्माद्धर्मेण श्रीवीतरागोदितेन कृतेन तत् प्राक्कृतं कर्म छिनत्ति जनः । तस्माद्यावज्जीवं शुद्धधर्मं कुरु । येन भवान्तरे सुखी भवसि त्वं, इत्यादिधर्मोपदेशात् प्रबुद्धो नन्दिषेणो गुरुपाश्वे जग्राह व्रतम् । नन्दिषेणो विनयपूर्वं पठन् धर्मशास्त्रं गीतार्थोऽभूत् । ततोऽभिग्रहं च ललाविति । साधूनां लघुबुद्ध-  
ग्लानानां वैयावृत्यं कृत्स्नैव मया भोक्तव्यम् । अनिर्वेदेन तं साधुं साधुवैयावृत्यं कुर्वाणमवाधिना विज्ञाय शक्र एकदा संसदि जगौ—यादृशो नन्दिषेणो वैयावृत्यविषये निश्चलोऽस्ति तादृशोऽन्यः कोऽपि नास्ति । देवैरपि न चाल्यते स्वाभि-  
ग्रहात् । ततोऽश्रद्धानः कश्चित् सुर इन्द्रवचो निशम्य रत्नपुरोपान्तेऽभ्येत्येकेन रूपेण ग्लानसाधुरभवत् । तं साधुमति-  
सारिणं मुक्त्वा द्वितीयः साधुरूपभृत् नन्दिषेणपार्श्वे यावच्छालामागात्तावन्नन्दिषेणो विहृत्य शालामागत्ये-

र्थापथिकीं प्रतिक्रम्य भक्तपानप्रत्याख्यानं पारयित्वा भोक्तुमुपविशन्नभूत् । साधुः प्राघूर्णकोऽवग् भो साधो !  
 त्वयाऽभिग्रहो गृहीतोऽस्ति । कथं साधुवैयावृत्यमकृत्वा भोक्तुमुपविश्यते । साधुं नन्दिषेणोऽवग्-क्वास्ति साधुग्लानः ।  
 प्राघूर्णकोऽवक्-पुराद् बहिरस्ति । तेन पानीयं शुद्धं बहु गृहाण । तस्य साधोस्तृषा लमाऽस्ति । ततो नन्दिषेणः पानीयं  
 प्राप्तुकं विर्हंतुमन्नं लात्वा गतः श्राद्धगृहे । यत्र यत्र स साधुर्याति, तत्र तत्र देवोऽशुद्धं जलं करोति । अविषण्णो,  
 बहुषु गृहेषु भ्रमन् मुनिरकस्मात् लब्धिप्रभावेण सुरशक्तिं विजित्य जलं शुद्धं प्राप्य ततस्तेन प्राघूर्णकसाधुना  
 समं बहिरुद्याने नन्दिषेणः साधुसमीपे ययौ । तं साधुं तादृशमतीसारिणं दृष्ट्वाऽनेन वैयावृत्येनाहं कृतकृत्यो भविष्यामि  
 इति मत्वा मुनिं प्रक्षालयितुं प्रवृत्तः । यथा यथा नन्दिषेणस्तं प्रक्षालयति तथा तथा स साधुर्दुर्गन्धमतीसारं मुञ्चति ।  
 नन्दिषेणो दध्यौ अहो अयमेव साधुर्भागवानपि ईदृग्रोगभागभूत् । ततः कर्मभ्यः कोऽपि राजा रङ्गो वा  
 यतिः शक्रो वा न छुटति । ततस्तं साधुं स्कन्धे कृत्वा पौषधशालायां नेतुं नन्दिषेणश्चचाल । पदे पदे हृदन्  
 दुर्गन्धं कर्कशं च जल्पन् नन्दिषेणशरीरं लिम्पति विष्टया दुर्गन्धया । तथापि नन्दिषेणो न मनाग् दुर्गच्छां  
 चकार । ततो यदा त्यरितं चलति नन्दिषेणस्तदासाधुर्जल्पति । एवंविधेन चलनेन मम प्राणा गमिष्यन्ति ।

तवातीव वर्योऽभिग्रहो येन त्वया एवंविधं कर्म क्रियते । ततो यावन्मन्दं मन्दं गच्छन्नभून्नन्दिषेणस्तावज्जागाद । वरमनि  
कदाऽपि मम मरणं भविष्यति ततो दुर्गतिपातो भावी । आराधना अपि मम न भविष्यति । ततो नन्दिषेणस्तं साधुं  
तथाभूतं शालायामानीय दध्यौ । अयं साधुर्मया कथं नीरोगः करिष्यते इति स्वं निनिन्द । ततस्तं वैया-  
वृत्ये मेरुनिश्चलं मत्वा देवता प्रत्यक्षीभूय सर्वं विष्टादिकमपसंहृत्य पुष्पवाटिं तन्मस्तकोपरि कृत्वा प्राह त्वं  
धन्योऽसि । यादृशो वासवेन वर्णितस्ततोऽधिकोऽसि । ततस्तं मुनिं नत्वा क्षमयित्वा सुरः स्वर्गं गतः । स यति-  
र्द्वादशसहस्राब्दीं तपस्तप्त्वा कृतानशनोऽन्यदाऽभूत् । तदाऽनशनिनं वन्दितुं सान्तःपुरचक्री प्राप । तस्य तदन्तःपुरीसुकु-  
मारकुन्तलरपर्शं दृष्ट्वा निदानं चकार । स्त्रीवल्लभोऽहं भवेयमिति । प्रान्ते स्वं दौर्भाग्यं कर्म स्मृत्वा निदानमिदमक-  
रोत् । भूयासमहं स्त्रीवल्लभोऽनेन तपसा । महाशुक्रेऽसौ मृत्वा देवोऽभूत् । इतः सूर्यपूरेंधकवृणोः सुभद्रायां नवाऽभवन्  
पुत्रास्ते चामी-समुद्रविजयोऽक्षोभ्य-स्तिमितः सागरस्तथा । हिमवानचलः धरणः, पूरणः अभिचन्द्रः ॥ १ ॥ ततो  
देवलोकात् व्युत्वा नन्दिषेणजीवो दशमः पुत्रो वसुदेवोऽभूत् । तेन सौभाग्यकर्मणा द्वासप्ततिसहस्रमिताः कन्याः  
परिणीताः । तच्च विस्तरात् वसुदेवहिंङ्गिनेमिचित्रादवगन्तव्यम् । इति नन्दिषेणकथा समाप्ता ॥

सिंहगिरिकथा वज्रस्वामिकथाया ज्ञातव्या ॥ १३ ॥

दानादिकं वृषं कुर्वन्, शश्वत् भव्यजनः स्फुटम् । कृतपुण्य इवामोति, परत्रेह सुखश्रियम् ॥ १ ॥

भूमिभामामहाभाल-विभूषणसहोदरम् । पुरं राजगृहं नाम्ना, राजते स्वःपुरीनिभम् ॥ २ ॥ राजा श्रेणिकनामाऽभूत् तत्रारा-  
तितमोऽर्थमा । पालयति स पृथिवी, न्यायमार्गेण संततम् ॥ ३ ॥ धनेश्वराभिधः सार्थ-वाहो भूरिधनेश्वरः । सुभद्रेति प्रिया  
तस्याऽऽसीत्सच्छीलशालिनी ॥ ४ ॥ क्रमात् कृतपुण्य इति पुत्रोऽजनि तस्य श्रेष्ठिनः पूर्वपुण्योदयात् । क्रमाद्धर्धमानः सर्व-  
कलाकुशलोऽजनि कृतपुण्यः । श्रीदशश्रेष्ठिनः पुत्री धन्यां मातापितृभ्यां कृतपुण्यः परिणायितः । साधुपार्श्वे तिष्ठन् विष-  
येषु पराङ्मुखोऽभूत् कृतपुण्यः । ततो मातापितृभ्यां चिन्तितम् । एष कदाचित् प्रव्रज्यां गृहीष्यति तदाऽऽत्मनोः का गतिः ।  
तेन गणिकापार्श्वे मुच्यते । तत्र नटविटादितादृग्संयोगात्तादृशो भविता । यतः—“अंबस्स य निंबस्स य, दुन्हं-  
पि समागयाइ मूलाइ । संसग्गीइ विणहो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ १ ॥” ततो धनेश्वरेण नटविटगणिकापार्श्वे मुक्तः  
कृतपुण्यः । ततस्तथा शिक्षितः कृतपुण्यो यथा क्रमाद्गणिकाऽऽसक्तः सन् मातापितरावपि न स्मरति स्म । क्रमाद्दिशे-  
षतोऽनङ्गसेनागणिकापार्श्वे कामितः सन् कृतपुण्यः क्षणमपि न मुञ्चते । मातापितरौ सर्वे धनादि तस्य भोगार्थं प्रेषयतः

स्म । तस्य तत्र तिष्ठतो द्वादशाब्दानि क्षणवत् जातानि । इतोऽकस्मादुत्पन्नतीव्रज्वरौ मातापितरौ स्वर्गं जग्मतुः । अन्येषुः  
सा कुट्टिनी स्वां चेटीं धनानयनार्थं कृतपुण्यगृहे प्रेषयामास । चेटी तत्र गता तादृशं पतितप्रागं गृहं शून्यं विलोक्य  
कृतपुण्यप्रियान्तिके गत्वा जगौ—कल्याणि ! तव कान्तेन, प्रेपिताऽस्मि त्वदन्तिके । विज्ञातुं कुशलोदन्तं, धनं चानेतु-  
मञ्जसा ॥ १ ॥ तव कान्तेनास्मत्स्वभिनीपार्थस्थेन धनमानयितुमहमत्र प्रेपिताऽस्मि तेन धनमर्पय । तव कान्तः  
कुशली सन् स्वगृहकुशलादि पृच्छति स्म । सा धन्याऽतीव प्रसन्नाऽऽस्य जगौ—सखि ! कान्तस्य तस्याऽज्ञा, मम सीमन्त-  
लेखिनी । किमाचक्षे पुनः क्षेमं, दैवे प्रातीपिके सति ॥ १ ॥ त्वमत्र धनानयनकृते आगास्तद्वरं पुनस्तस्य कान्तस्याज्ञा  
मया मस्तके कृता । अद्याहमेतया कृतार्थीस्मि । किं क्रियते मदभाग्यात्तादृग् श्वश्रूश्चशुरौ स्वर्गं गतौ । श्वश्रूश्चशुराभ्यां  
धनं प्रपं प्रपं पुत्रस्नेहाद् गृहमीदृशं कृतम् । अधुना मत्पार्थे मत्पित्रार्पितमाभरणमेकं विद्यते । तद् गृहीत्वा गच्छ । तत्रानेन  
भरणेन मत्कान्तं प्रमोदय।तदाभरणमादाय दासी कृतपुण्यपार्थे आगता । अप्रितं तदाभरणं तस्मै प्रोक्तं च गृहस्वरूपम् । ततः  
कृतपुण्यः खिन्नः सन् तदाभरणं तस्यै वेश्यायै दत्तवान् । वेश्यायै च कृतपुण्यो गृहस्वरूपं प्रोक्तवान् । ततो रहोवृत्त्या  
कुट्टिन्या प्रोक्तम्—असौ कृतपुण्य उपायेन निष्कासनीयः । ततस्तस्या कुट्टिन्या आदेशाद्यदा (दासी) तस्याभिमुखं धूलि-

प्रक्षेपादि करोति । तदाऽनङ्गसेना मातुरग्रे जल्पति । एष गुणवान् एतावन्ति वर्षाण्यत्र स्थितोऽभूत् । बहुधनमस्य भक्षित-  
 मावाभ्यां कथमधुनैवंविधा विडम्बना क्रियते । कुट्टिनी जगौ-आत्मनः कुलाचार एवंविधो विद्यते । यावत्तस्य कामुकस्य  
 गृहे धनं भवत्यर्पयति च तावन्मन्यते नान्यथा । एवंविधां वार्तां श्रुत्वा कृतपुण्यो दूधौ । मनस्यन्यद्दृश्यन्त्यत्, क्रिया-  
 यामन्यदेव हि । यासां साधारणस्त्रीणां, ताः कथं सुखहेतवे ॥ १ ॥ कुट्टिनोऽपि स्मरसमान्, पश्यन्तीं धनकाक्षया । तन्वन्तीं  
 कुत्रिमं स्नेहं, निस्नेहां गणिकां त्यजेत् ॥ २ ॥ मांसमिश्रं सुरामिश्र-मनेकविटचुम्बितम् । को वेश्यावदनं चुम्बे-  
 दुच्छिष्टमिव भोजनम् ॥ ३ ॥ इत्यादि । ततः कुट्टिनीकृतां विडम्बनां सहित्वा कृतपुण्यः स्वगृहगमनाय चचाल ।  
 गृहसमीपेऽभ्येत्य पतितप्रायं गृहं दृष्ट्वा यावत् कृतपुण्यो द्वारमुपाययौ । तावत् पत्नी कान्तमागच्छन्तं वीक्ष्य हृष्टचित्ता  
 जलपूर्णकरकं हस्ते गृहीत्वाऽऽचमनाय संमुखमाययौ । ततस्तया वितीर्णमाचमनं लात्वा गृहमध्येऽभ्येत्य प्रियामुक्तासन-  
 मुपविष्टः । ततः प्रियया भोजनसामग्री कृता । कृतपुण्यः कृतस्नानो देवगृहे जिनमर्चित्वा वर्धपुष्पैः स्तोत्रेण  
 स्तुत्वा च बुभुजे । कृतपुण्यस्य कान्तस्य सर्वः स्वगृहवृत्तान्तः प्रियया प्रोक्तः । ततस्तेनेति चिन्तितम् । अहो  
 अहमभाग्याशिरोमणिः यतो मातापितृभ्यां सुखं न दत्तं तेन पुत्रेण जातेन किम् । यतः-“ किं जातैर्ब-



हुभिः पुत्रैः, शोकसन्तापकारकैः । वरमेकः कुलाऽऽलम्बी, यत्र विश्राम्यति कुलम् ॥ १ ॥ धैर्वृद्धिं नीयते धर्मो,  
बन्धुवर्गकुले यशः । पितुः पुत्रास्त एव स्युर्धैरिणः स्वैरिणः परे ॥ १ ॥ इक्षुक्षेत्रवंशजालीकदलीधिषपादपाः ।  
फले जाते विनश्यन्ति, दुष्पुत्रेण कुलं यथा ॥ २ ॥ ” पितरौ यन्मयाऽगाधे, क्षिप्तौ दुःखमहार्णवे । धनं निधनमानीतं,  
पितृपर्यायसञ्चितम् ॥ ३ ॥ ततः प्राह पत्नी-शोको न कर्तव्यः, यद्वा वि तद्भवति । यतः-“ गते शोको न  
कर्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत् । वर्तमानेन कालेन, वर्तन्ते हि विचक्षणाः ॥ १ ॥ कर्मणो हि प्रधान-  
नत्वं, किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः । वशिष्ठदत्तलम्बोऽपि, रामः प्रव्रजितो वने ॥ २ ॥ ” इत्यादि प्रियावचः श्रुत्वा स्वस्थः  
सन् शोकं त्यक्त्वा समाधिना कृतपुण्यो गृहेऽस्थात् । क्रमात्तया समं ऋतुसुखमनुभवतः आधानमभूत् पत्न्याः । अथ  
कदाचित् पत्न्याः पुरः कृतपुण्यः प्राह-मदन्यो नास्ति कोऽपि पापी । यतो मयि जाते मातापितरौ दुःखितौ भूत्वा  
मृतौ । मया धनं च निधनं नीतम् । विना धनं वाणिज्यमपि कर्तुं न शक्यते । यतः-“ बीजं विना कुर्विर्नैव, यथा  
चाम्बु विना कृपिः । तथा नीधीं विना लक्ष्मीर्नोर्जितुं शक्यते क्वचित् ॥ १ ॥ प्रियाऽऽच्चष्ट स्वामिन् खेदं मा कुरु ।  
अनल्पोऽयमसौ कल्पः, स्वस्वाधीनं धनं हि वः । दीनाराणां सहस्रं च, गृह्यतामनुगृह्य माम् ॥ २ ॥ दीनारसहस्रमेकं

मे समस्ति । तेन त्वं व्यवसायं कुरु । ततः शुभेऽहनि बहुमूल्यं स्वल्पं क्रयाणकं लात्वा प्राचीं दिशं गन्तुकामः कृत-  
 पुण्यः स्फीतसार्थमध्ये रात्रौ पत्न्या तल्पे शायितः क्वचिद्देवकुले । ततः पत्नी पश्चात् स्वगृहे जगाम । इतस्तत्र पुरे  
 बहुधनवान् धनदेवव्यवहारी वसति स्म । तस्य पत्नी रूपवती । तयोर्धर्मं कुर्वतोर्जिनदत्ताभिधः पुत्रोऽभूत् ।  
 क्रमात् कान्ते मृते ( तथा ) जिनदत्तो धर्मकर्मकुशलो महेभ्यपुत्रीश्चतस्रः परिणयितः अनेकप्रकारैर्भोगैस्ताभिर्विल-  
 सन्नकस्मान्मूर्तिं गतो रात्रौ जिनदत्तः । ततस्तथा रूपवत्या स्थविरीभूतया सर्वा वधूराकार्यं प्रोक्तम्—यदि युष्माकं  
 भर्ता मृत इति राजा श्रोष्यति तदात्मीयाः सर्वाः श्रियो गृहीष्यति अपुत्रत्वात् । तेन भवतीभिर्न रोदितव्यम् । प्रच्छन्नं  
 भूमिमध्ये क्षेप्यश्च यथा कोऽपि न जानाति । अहमपि न रोदिष्यामि (अन्यपतिं) चाराधयत तावद्यावत्पुत्रा भवन्तीनां  
 भवन्ति । ततस्ता वध्वस्तं पतिं भूमिगतं कृत्वा स्नानं कृत्वा देवकुलोपान्तस्थसार्धसमीपे गताः । कृतपुण्यं पश्यन्ति स्म ।  
 तं तथावस्थं शनैरुत्पाट्य स्वगृहे समानीय त्वं पते ! जय चिरमिति जल्पन्ति स्म ताः स्थविरावध्वः । तदा स्थविराऽवग-  
 र्नुपाचतुष्टयस्यापि, पश्यतस्तत्र निरुपा । तदीयं कण्ठमालम्ब्य, रुदत्येवमुवाच सा ॥ १ ॥ हा वत्स बहुवात्सल्य,  
 विहाय निजमातरम् । एतावन्ति दिनानि त्वं, कयातोऽसि कवा स्थितः । निरालम्बा शयालम्बा, तवाम्बाऽस्मि न संशयः ।

त्वं पुत्र जातमात्रोऽपि, हतः केनापि पाप्मना ॥ ३ ॥ इत्युक्त्वा सा जरती प्राह—इदानीं तावकीनस्य, ज्येष्ठबन्धोर्वि-  
पत्तिः । तव संपत्तिश्चास्मि, शोकहर्षसमाकुला ॥ ४ ॥ बन्धुवध्वश्चतस्रोऽमूरमूश्च विपुलाः श्रियः । एता नद्य  
इवाग्भोधिमगाधं त्वामुपस्थिताः ॥ ५ ॥ अतः परं पुत्र त्वयाऽन्यत्र कुत्र न गन्तव्यं स्वेच्छयाऽत्र स्थेयम् । आभिर्व-  
धूभिः समं भोगान् सुंक्ष्व । कृतपुण्यो दध्यौ । किं स्वप्नं लभ्यमानमस्ति । अथवाऽसौ एव मां स्थापयति तदा स्वर्गसौख्यमेव  
समुपस्थितम् । एवं ध्यात्वा कृतपुण्योऽवग्—मातर्मम सर्वं विस्मृतम् । अधुनाऽत्राऽऽगां शुभकर्मोदयात् । ततो व्यचिन्त-  
यच्चेति सः । यतः—“श्रीयोगः सुदृशां योगः, स्वयंवरमिव द्वयम् । उपस्थितमतो व्योम—प्रसूनैः किं विकल्पनैः ॥ १ ॥”  
मातर्भया त्वदीयाज्ञा, देवशेषेव सुन्दरा । पालनीया सदा यत्ना—दिहामुत्र सुखप्रदा ॥ १ ॥ क्रमाच्चतस्रो वध्वो गर्भं  
दधुः पुत्राश्चत्वारो बभूवुः तेषां जन्मोत्सवः कृतः । तस्य तत्र तस्थुषो द्वादशवत्सरी सुखनिमग्नस्य गता । ततोऽन्यदा  
वृद्ध्या प्रोक्तम्—भवतीनां चत्वारः पुत्रा बभूवुः । तेन राजाऽऽत्मनः श्रियं न गृहीष्यति । ततोऽसौ यत्र स्थानादानीत-  
स्तत्र स्थाने मोच्यते । ताभिरुक्तं मातः कथमयमात्मनो लक्ष्म्यादिवर्द्धको मोच्यते । वृद्धयोक्तं ज्ञायते पुरुषस्वरूपम् ।  
कदाचिदसावात्मनः श्रियं बलाद् गृहीष्यति तदा का गतिः । ततो बलात्तं मोचयितुं ताः साग्रहं ग्राहितास्तया । तत-

रस्ताभिः शम्बलकृते मोदकचतुष्टयं तदर्थं कृतम् । तन्मध्ये रत्नचतुष्टयं क्षितम् । ततो दासीपार्श्वार्धुत्पाट्य तं सुप्तं  
 वस्त्रप्रान्तवद्भूमोदकचतुष्टयं पूर्वस्थाने पुरमध्ये सुप्तोच वृद्धा । तदानीमेव पूर्वं विदेशे गत्वा द्वादशवर्षाणि आन्वा-  
 तस्मिन्नेव स्थाने स एव सार्धवाहोऽवततार । श्रुतं कृतपुण्यप्रियया सार्थाऽगमनम् । तत्राऽगता पतिं सुप्तं दृष्ट्वा पार्श्वे  
 स्थिता यावत्तावत् उज्जजागार पत्नीं ददर्श च हृष्टः । ततः प्रियायुक्तः कृतपुण्यः स्वगृहे समागत । भक्त्या गौरवितः सद्भ-  
 पानदानतः पत्न्या भर्तुः पुरः पुत्रोत्पत्तिस्वरूपं प्रोक्तम् । पत्न्या प्रोक्तं—पते ! किमानीतं तेनोक्तं किमपि नार्जितं मया पूर्वकृत-  
 पापोदयात् । अपरं किमपि नोक्तं लज्जया । मोदकचतुष्टयं कान्ताऽऽनीतं तया भाजनमध्ये क्षितम् । पुत्रोऽन्यदा लेखशा-  
 लायां गत्वा प्रातराशकृते समागतः । मात्रा दत्तं मोदकं गृहीत्वा लेखशालायां गतः । तत्र मोदको भक्षितः, तन्मध्याह्नि-  
 शिष्टः प्रस्तरो निर्गतः ! बालकस्तं प्रस्तरं दृष्ट्वा लेखशालिकाऽग्रे गतः । ममायं विशिष्टो घुण्टकः पट्टिकाघुण्टनार्थं भविष्यति ।  
 तं घुण्टकं गृहीत्वा कान्दविकगृहे पट्टिकामज्जनार्थं गतः । पट्टिकां मज्जयतस्तस्य हस्तादकस्माद् घुण्टिको जलभूत-  
 भाजनान्तः पतितस्तदा जलं द्विधाऽभूत् । तज्जलं तथाभूतं दृष्ट्वा कान्दविको दध्यौ । अयं प्रस्तरो जलकान्तरत्नं  
 बहुमूल्यं तेन किमपि सुखभक्षिकामस्मै वितीर्य गृह्यते मया यदि तदा वरम् । एवं ध्यात्वा कान्दविकस्तस्मै वर्यमोद-

कद्वयं दत्त्वा तं प्रतरं ललौ बालं वञ्चयित्वा । ततस्तन्मोदकद्वयं भक्षयित्वा हृष्टोऽपरघुण्डकेन पट्टिकां घुण्टयित्वा  
लेखशालां गतो बालः कृतपुण्यपुत्रः । कान्दविकेन स प्रतरो गुप्तीकृतः । क्रमादन्येषुः श्रेणिकभूपतेः सेचनको  
हस्ती गङ्गानद्या मध्ये जलं पिबन् खानं कुर्वन् तन्तुजीवेन निरुद्धः निर्गन्तुं न शक्नोति । अनेके उपचाराः कृताः  
परं स हस्ती जलाग्निर्गन्तुं न शक्नोति यदा । तदा राजा श्रेणिकोऽभयकुमारमन्त्रियुक् तत्रागात् । राज्ञाऽपि बहव  
उपचाराः कृतास्तथापि गजो बहिर्न निर्याति । ततः खिन्ने भूपतौ अभयकुमारो बुद्धिमानुवाच । तन्तुजीवेन हस्ती  
गृहीतोऽसौ यदि जलकान्तो मणिर्जलमध्ये गजपार्श्वे मोच्यते तदा जलं द्विधा भवति तन्तुजीवो गजं भुक्त्वा जल-  
मध्ये गच्छति । ततो भूपेनोक्तं भाण्डागारादानीयतां जलकान्तो मणिः । अभयकुमारस्ततो भाण्डागारं विलोक्य प्राह-  
स्वामिन् भाण्डागारे जलकान्तमणिर्नस्ति, तेन पुरमध्ये पटहो वाद्यते । यः कश्चिज्जलकान्तमणिमानयिष्यति तस्मै  
राज्यार्द्धयुता स्वपुत्री दास्यते मया । ततो भूपदेशादनुगैः पटहो वाद्यमानः पुरमध्ये स्थाने कान्दविकगृहो-  
पान्ते गतः, तदा कान्दविकेन पटहः स्पृष्टः । ततो राजपार्श्वमानीति कान्दविके राजपुरुषे राजा मुमुदे । बहुलोक-  
युतो राजा नदीतीरे गतः ततः कान्दविको जलकान्तमणिमानीय राजपार्श्वे मुमोच यावत्तावज्जलं द्विधाचक्रे ।

तन्तुजीवो नष्टः गजो मुत्कलोऽभूत् । पटहभेरीमृदङ्गादिवहूनि वादित्राणि वाद्यन्ते । राजा हृष्टः । कान्दविकस्य राज्ञा  
सन्मानं कृतं । कान्दविको हृष्टोऽभूत् । वाद्यमानेषु बहुवादित्रेषु सेचनकगजारूढो राजा तुरङ्गमारूढाभयकुमारः कान्द-  
विकयुक् नानाप्रकारं दानं याचकेभ्यो विश्राणयन् स्वगृहमाजगाम । कान्दविकः सन्मानितः सन् स्वमणिमादाय गृहे  
गतः । इतो राजा अभयकुमारमाकार्यं रहस्यवग् । कान्दविकस्यात्मनः पुत्री राजपुत्रवरयोग्या कथं दास्यते मनोरमा-  
ह्वया । अभयोऽवग-स्वामिन् खेदो नानेयः । यस्य रत्नमिदं भविष्यति, तं बुद्ध्या प्रकटीकरिष्यामि । ततः सर्व  
युष्मन्मनोऽभिमतमेव भविष्यति । ईदृशं रत्नं जलकान्तरूपं राजगृहमात्यगृहे मुक्त्वा कान्दविकतुल्यनीचगृहे न भवति ।  
यतः—“पीयूषं रजनीकरे वरतरामासश्च सूर्येऽबुधौ, रत्नानां निचयो मरुत्तरुणो मेरौ ग्रहा अम्बरे । स्वर्गे स्वर्गिगजस्तथा  
सुरहयो गीर्वाणगौ र्मेञ्जुला । चक्रं चक्रिनिकेतने भवति त्रै नान्यत्र तिष्ठेत् क्षितौ ॥१॥ रत्नानि रोहणक्षमाभृद्वाधिष्वेव  
भवन्ति हि । गजा विन्ध्यादवीष्वेव प्राप्यन्तेऽन्यत्र नैव हि ॥२॥ तथा वर्याणि वस्तूनि, रत्नादीनि च भूतले । भवन्ति  
मेदिनीपाल-महेभ्यामात्यसङ्घसु ॥ ३ ॥ ” तेन कस्यापि व्यवहारिणो रत्नमिदं भविष्यति । यस्य भविष्यति च तस्मै  
राज्यार्थयुता पुत्री दास्यते । ततो राजा हृष्टः । राज्यार्द्धं पुत्रीयुः कान्दविकाय दास्यते इति कथयित्वाऽभयकुमारेण

स्वजनाः कान्दविक्रमाकारयितुं प्रेषिताः । तत्र गत्वा ते जगुः । राजा त्वामाकारयति । राज्यार्धं पुत्रीयुतं दास्यति । कान्द-  
विको हृष्टः स्वजनसहितः । ततः कान्दविको वर्धवस्त्राणि परिधाय राजगृहे समागात् । अभयकुमारेण सन्मानितः । पृष्टं च  
तत्र रत्नमिदं क्व चाटितम् । तेनोक्तं मम गृहे क्रमागतमस्ति । ततोऽभयकुमारेण पूर्वशिक्षितान् स्वसेवकानाकार्यं प्रोक्तम् ।  
अस्मै राज्यार्द्धं कन्यायुनं दीयतां ततस्ते राजपुरुषा मन्त्रिप्रेरिताः कम्बाभिः तं तथा ताडयन् । यथा क्षणमेकं निश्चेष्ट-  
काष्टीभूतः । क्षणेन स्वस्थीभूते कान्दविकेऽभयोऽवगु । सत्यं वद क्व लब्धं रत्नं यदि सत्यं न जल्पिष्यते त्वयाऽधुना  
तदा भूरिकम्बाभिस्ताडनान्मृत एव, मरणभयात् कान्दविकेनोक्तमामूलचूलतो रत्नप्राप्तिस्वरूपम् । “ जगौ ततोऽभयः  
सत्यं, स एवास्येदमीदृशं कल्पद्रूणां सुवर्णाद्रौ, दृश्यते सम्भवपरम् ॥१॥ ” ततो राज्ञाऽभयकुमारवचनेन कुतपुण्याय  
राज्यार्द्धं मनोरमाकन्यायुतं विश्राणितम् । ततोऽभयकुमारो ग्रामैकसहितामेकां कान्दविककुलोत्पन्नां कन्यां भूपदेशा-  
द्वापयामास कान्दविकाय । यतो राज्ञोक्तं निष्फलं न भवति । वर्धमारूढं कुतपुण्यं मनोरमाप्रियायुतं वादित्रवाद-  
पुरस्सरं स्वगृहे प्रेषयामासाभयकुमारः । तदा लोका जगुः । यादृशी रत्या प्रीत्या वा कंदर्पस्य शन्येन्द्रस्य  
श्रिया कृष्णस्य गौर्या भवस्य शोभा भवति तथा कुतपुण्यस्य मनोरमया । यतः—ततोऽभयकुमारेण समं कृतपुण्यस्य

श्रीतिर्जाता । चन्द्रसमुद्रयोरिव, पद्मार्कयोरिव । एकदा रहसि अभयकुमाराग्रे कृतपुण्येन स्वसम्भवपुत्रचतुष्टयो-  
 त्पत्तिस्वरूपं प्रोक्तम् । मन्त्रीश नगरेऽनैव, मम पत्नीचतुष्टयं ॥ चतुःसुतयुतं चास्ति, परं वेद्वि न  
 मन्दिरम् ॥ १ ॥ पुरेऽस्मिन् तद्गृहं चत्वारः पुत्रा जाताश्चात्र । अभयकुमार आचष्टाहो तव चातुर्यं वर्यं  
 विधत्ते । यत्त्वया यत्र द्वादश वर्षाणि स्थितं तदपि न ज्ञायते । तेन तत्र महच्चातुर्यम् । कृतपुण्याऽवग-सुप्त एव  
 तथा वृद्धया स्वगृहे नीतः पश्चादपि सुप्त एव मुक्तो द्वादशवर्षाणि सप्तमभूमिधवलगृहे स्थापितोऽहम् । अभय-  
 कुमारेणोक्तम्—ये तव पुत्रा अभूवंस्तत्र, ते त्वामुपलक्षन्ति न वा । कृतपुण्येनोक्तम् । मम इमंशु हस्ते गृह्णन्ति  
 ममाङ्गैः उपविश्य बहुशस्तात तातेति जल्पन्तोऽभवन् । अभयोऽवग- त्वं च ताः पत्नीरुपलक्षयसि न वा  
 तेनोक्तमुपलक्षयाम्यहं ताः । अभयोऽवग-ताः पत्नीः पुत्रयुताः अहं ते प्रकटीकरिष्यामि । अथाभयकुमारेण द्विद्वारो  
 महान् प्रासादः कारितः । एकेन द्वारेण प्रविश्यते द्वितीयेन निर्गम्यते । कृतपुण्यतुल्यरूपां यक्षप्रतिमां तन्मध्येऽभयः  
 स्थापयामास । ततः पटहमिति वादयामासाभयकुमारः या या स्त्री स्वीयसर्वापत्ययुता पञ्च पञ्चमोदकान्विता यक्षं नत्वा  
 द्वितीयद्वारेण निर्गच्छति । तस्याः कुलस्य कुशलं भविष्यति, नो चेन्मरणं भविष्यति । अग्रेतनचतुर्दश्यामागन्तव्यम् ।



ततश्चतुर्दश्यामभयकुमारः कृतपुण्ययुतः प्रासादपार्श्वेऽभ्येत्योपविष्टः । सर्वा स्त्री स्वापत्ययुता मोदकस्थालयुता एकद्वारेण प्रासादमध्ये प्रविश्य मोदकान् ढौकयित्वा यक्षं प्रणम्य द्वितीयद्वारेण निर्याति । इतः सा वृद्धा चतुर्वधूचतुःपुत्रयुता यक्षं नन्तुमागात् । तदा कृतपुण्यो जगौ-एषा सा वृद्धा । यावद्बृद्धा मोदकस्थालं यक्षात्रे मुत्तवा प्रणमति वधूयुता तावत्ते चत्वारः पुत्रा यक्षपार्श्वे गताः तात तातेति जल्पन्तः, प्रमोदोत्फुल्ललोचनाः । यक्षाङ्कपालीपल्यङ्कमधुषुस्तनयास्तदा ॥ १ ॥ तदा कश्चिद्यक्षस्य श्मश्रुणि विलम्बः, कश्चित् हस्ते, कश्चिदुदरे कश्चिन्मस्तके । तदाऽभयेन तैत्रेत्योक्तम् । अमी ते चत्वारः पुत्राः चतस्रो वध्वः । ततस्तौ तस्याः पृष्ठे स्वसेवकान् प्रेष्य तस्या गृहं जग्मतुः । तत उपलक्ष्य ताः कन्यास्ते पुत्राश्च सा लक्ष्मीस्तस्याभवन्, कृतपुण्यस्याभयकुमारबुद्ध्या । साऽनङ्गसेना वेश्याऽपि तमङ्गीचकार च । एवं कृतपुण्यस्य सप्त प्रिया बभूवुः । अन्येद्युर्जगद्बन्धः श्रीवीरस्वामी भव्यजीवान् प्रबोधयन् वैभारगिरौ समवासार्षीत् । तदा श्रेणिकभूपतिरभयकुमारकृतपुण्यादिपरिवारयुक्तः श्रीवीरं वन्दितुं ययौ । अत्र श्रीवीरेण देशना दत्ता-धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः, सौभाग्यार्थिषु तत्परः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः । राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां, तत् किं यन्न ददाति किं न तनुते स्वर्गोपवर्गायते ॥ १ ॥ अत्र देशनान्ते

कृतपुण्यः कृताञ्जलिः पप्रच्छ । भगवन् ! केन कर्मणा पूर्वभवार्जितेनास्मिन् भवेऽन्तराऽन्तरा सम्पदो विपदोऽभवन् मम ।  
 वीरः प्राह—पूर्वभवे श्रीपुरे त्वं वत्सपालकोऽभूः । परं दौर्गत्यानिर्विण्णः परमान्नं गृहे गृहे निषद्यमानं वीक्ष्य मातरं  
 प्रति जगौ—परमान्नं मे देहि । अम्बा रुन्दती जगौ—पुत्र ! गृहे किमपि नास्ति, कथं परमान्नं दीयते । अन्नं नास्ति जलं  
 नास्ति, नास्ति सुप्ता युगन्धरी । धान्यं च लवणं नास्ति, तन्नास्ति यद्वि भुज्यते ॥ १ ॥ ततस्तां रुदन्ती बालं च  
 रुदन्तं वीक्ष्य प्रातिवेशमक्यस्तन्दुलदुग्धशर्करादि ददुः तस्यै । तथा परमान्नं निष्पादितम् । पुत्राय परमान्नं परिवेष्य  
 कार्यार्थं प्रातिवेशमकगृहे ययौ । इतो मासक्षपणपारणके साधुद्वयं तत्र विहर्तुमागतम् । साधुद्वयं कृशशरीरं चारि-  
 त्रपात्रं दृष्ट्वा दध्यौ गोपालः—अहो मे सफलं जन्म, दिनोऽयं रुचिरोऽद्य मे । यामोऽयं सुन्दरो मेऽद्य, वेल्लेयं मेऽद्य  
 सुन्दरा ॥ १ ॥ यतोऽधुना समायातं, वर्यं साधुद्वयं स्फुटम् । प्रतिलाभ्य भाविष्यामि, कृतार्थोऽन्नं तमोहरम् ॥ २ ॥  
 ततस्तदा हृष्टचेताः स्वस्थानादुत्थाय प्रणम्य, गोपालकोऽवगु—मम भाग्यमागतं शुष्मत्पादानामत्रागमनात् । अयं  
 शुद्धासाहरोऽङ्गीक्रियताम् । एकं भागं परमान्नस्य दत्त्वा पुनर्दध्यौ । एतन्मात्रेण परमान्नेनास्य किं भविष्यति ।  
 ततो द्वितीयं भागं एवं तृतीयं भागं च एतस्मै कृतपुण्यः ददौ । एवं त्रिवारं दत्तं परमान्नम् । ततो

गते यतिद्वये मात्रा पुनरपि परमात्रं परिवेषितम् । ततः कालक्रमोपायलोको मृत्वा त्वमभूः कृतपुण्यकः ।  
एवं त्रिवारं विभज्य यतिभ्यां दानं दत्तं तेन त्रिधा तवान्तराऽन्तरा सुखमभूत् । आकर्ण्यैवं स्वं पूर्वभवं कृतपुण्यो जात-  
वैराग्यो ज्येष्ठे पुत्रे गृहभारमारोप्य ससक्षेत्र्यां स्वं धनं उपत्वा श्रीवीरपाश्र्वे दीक्षामादाय च स्वर्गसुखभागभूत् । तत-  
श्श्रुतः शिवं गमिष्यति ।

॥ इति कृतपुण्यकथानकं दानविषये ॥ १४ ॥

उपसर्गान् कृतान् व्याघ्र-सिंहादिभिः शरीरवान् । सहमानः शिवं याति, सुकोसलमुनीन्द्रवत् ॥ १ ॥

पुरा अयोध्यायां इक्ष्वाकुवंशे कीर्तिधरो राजा न्यायाध्वना राज्यं कुरुते स्म । तस्य सहदेव्यभिधा पत्नी बभूव ।  
क्रमात्तयोः पुत्रः सुकोशलनामाऽजनि । स च क्रमाद् धर्मकर्मशास्त्रं पपाठ । अन्येद्युः श्रीधर्मसूरयस्तत्राययुः । धर्मो-  
पदेशं श्रोतुं तत्र नृपो ययौ । गुरुभिरिति धर्मोपदेशो ददे । तथाहि—“ आर्यदेशकुलरूपबलायु-र्बुद्धिबन्धुरमत्राप्य  
नरत्वं । धर्मकर्म न करोति जडो यः, पोतमुञ्चति पयोधिगतः सः ॥१॥ जरा जाव न पीडिई, वाही जाव न वडुई ।  
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ २ ॥ विषयगणः कापुरुषं, करोति वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषम् । बध्नाति

मशकमेव हि, लूतातन्तु न मातङ्गम् ॥ ३ ॥ गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः, दृष्टिर्अश्रयति रूप-  
मेव हसते वक्रं च लालायते ॥ वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते, हा कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं  
पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ ४ ॥ संसारागजलबुब्बुमे, जीविणु जलबिन्दुचंचले । जुवणे नईवेगसन्निभे, पावजीव किमर्थं न  
बुञ्जसे ॥ ५ ॥ ” इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा संवेगधारी कीर्तिधरो राजा शिशुमपि सुकोशलं राज्ये न्यस्य स्वयं दीक्षां  
जग्राह । प्रतिमाधरः कीर्तिधरो यतिर्गृहीतशास्त्रार्थो विजहार । मात्रा पुत्रस्नेहात् स्वर्णजटिता दन्तपङ्क्तिः कारिता । सुकोशलः  
क्रमाद्वर्द्धमानो यदा यदा पितरं स्मरति । तदा तदा माता कीर्तिधरस्य पत्युर्दोषान् गृह्णाति स्म । अथ कदाचित् कीर्तिधरो  
यतिर्योध्यामध्ये षष्ठपारणे भिक्षायै समागात् तदा सहदेवी तं पतिं दृष्ट्वा दध्यौ । यदि मदीयोऽयं पुत्रः पितरं द्रक्ष्यति  
तदा दीक्षां गृहीष्यत्येव । तेन पुराद् बहिरयं यतिर्निष्कास्यते । ततः सहदेवी तं पतिं सेवकपार्श्वेत् पराभूय सुकोशलान्वे-  
दितमेव पुरान्निष्काशयामास । कीर्तिधरं पतिं पुराह्महिर्निष्काशयमानं दृष्ट्वा धात्र्या सुकोशलाय प्रोक्तम् ततः सुकोशलः  
कीर्तिधरयतिपार्श्वे गत्वा तं च नत्वा प्राह—पुरमध्ये त्वं समागच्छ । कीर्तिधरोऽवगु—सांप्रतं पुरमध्ये नागमिष्यते  
मयोपसर्गसम्भवात् । ततः सुकोशलो मातृकृतं पितृपराभवं मत्वा राज्यं तृणवत् त्यक्त्वा पितुः पार्श्वे व्रतं ललौ ।

ततः सुकोशलः पित्रा सह विजहार । तीव्रं तपो द्वावपि कुरुतः । सहदेवी पतिपुत्रत्रियोगादार्तध्यानेन मृत्वा व्याघ्री-  
वनमध्येऽभवत् । कदाचित्तौ पितापुत्रौ मुनी विहरमाणौ व्याघ्र्यधिष्ठितायां भुवि गतौ । तदा व्याघ्रीं संमुखं माग-  
च्छन्ती दृष्ट्वा कीर्तिधरोऽवगु-अन्यस्मिन् मार्गे गम्यते । ततः सुकोशलः साहसमवलम्ब्य तेनैव मार्गेण गच्छन्  
कृतानशनो व्याघ्रीविदार्यमाणो वर्यध्यानात् सर्वकर्मक्षयात् केवली जज्ञे । मुक्तिं तत्क्षणादगात् ॥ व्याघ्री सुकोशल-  
दन्तपङ्क्तिं वीक्ष्योहापोहपरा जातजातिस्मृतिः पुत्रं ज्ञात्वा पश्चात्तापपरा स्वकर्म निन्दन्ती सहस्रारस्वर्गे गता । कीर्ति-  
धरो मुनिरपि प्राप्तकेवलज्ञानो मुक्तिं ययौ । इति सुकोशलकथा समाप्ता ॥ १५ ॥

योऽष्टापदे चतुर्विंशतिं जिनान्नौति स तस्मिन्नेव भवे मुक्तिं याति । एवं श्रीवीरपार्श्वे श्रुत्वा गौतमस्वा-  
म्यष्टापदे जिनान्नन्तुं गतः । देवांस्तत्र नत्वा यावद्बहिर्बलानके उपविष्टस्तावद्वैश्रमणः सुरस्तत्रागतो जिनान्नत्वा धर्मे  
शृण्वन् पुण्डरीकाध्ययनं श्रीगौतमेन कथ्यमानं श्रद्धे । ततः स स्वर्गाञ्च्युतो वज्रस्वाम्यजनि । तच्चेदमध्ययनम्—

यः पाति संयमं शुद्धं, मनोवचननिग्रहैः । स एव मुच्यते पापा-त्पुण्डरीकयतीशवत् ॥ १ ॥

यः प्राप्य संयमं मर्त्यो, विराधयति सन्ततम् । स एव लभते दुखं, दुर्गतौ कण्डरीकवत् ॥ २ ॥

तथाहि महाविदेहे क्षेत्रे पुष्कलवतीविजये पुण्डरीकिणी पुरी स्वर्गखण्डमिवासीत् । तत्र महापद्मो राजा राज्यं  
 न्यायाध्वना चकार । तस्य पद्मावती प्रिया सच्छीलशालिन्यभूत् । पुण्डरीककण्डरीकौ सुतावभूतां तयोः । एकदा  
 साधवो नलिनवनोपवनं समाजग्मुः, तत्र वन्दितुं गुरुन् महापद्मराजा ययौ । धर्मोपदेशो ददे गुरुभिः । “असारेऽरिमन्  
 भवे नास्ति, सुखं व्याधिश्च विद्यते । जानन्तोऽपि जना एवं, न कुर्वन्ति वृषं मनाग् ॥ १ ॥ संसारमि असारे नस्थि सुहं  
 वाहिवेयणापउरे । जाणतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं ॥ २ ॥” इत्यादि धर्मोपदेशमाकर्ण्य महापद्मः  
 पुण्डरीकाय राज्यं वितीर्य संयमश्रियं जग्राह । पुण्डरीकः कण्डरीकयुतो राज्यं चकार । अन्येद्युः पुण्डरीकः कण्ड-  
 रीकं प्रति जगौ—भो वत्स मम चिरं भवविरागता जाताऽस्ति । तेन त्वं राज्यं गृहाण । अहं तु चारित्रं संसार-  
 दुःखौघतृणे लवित्रं गृहीष्यामि । कण्डरीकोऽभ्यधात् ज्येष्ठसहोदर ! त्वमेवं किं जल्पसि मामपरसंसाराऽम्भोधौ  
 पातयितुम् । य आत्मनोऽभीष्टो भवति तस्य तु सुखदं भवति तदीयते सद्भिः । राज्यं तु नरकासात—सन्ततिप्रति-  
 दायकम् । निगद्यते जिनाधीशै—वोञ्छद्भिर्हितमङ्गिनाम् ॥ १ ॥ ततः पुण्डरीकोऽपि जगौ—मम विषया न रोचन्ते ।  
 यतः—“वत्स मत्सरिणो ज्ञेयाः विषया विषमूर्तयः । तानीन्द्रियाणि संसारे, पातयन्ति जनांश्चिरम् ॥ १ ॥” कण्डरी-

कोऽवगू-वृद्धो यो नन्दनो भवति स तु राज्यस्य धर्ता भवत्येव । तेन त्वया न किमपि प्रत्युत्तरो दातव्यः । ततः कण्डरीकः पुण्डरीकं पर्यवसाय्य दीक्षां ललौ । पुण्डरीकः प्रजां पालयन् मनो विना स्त्रियं मुहुं स्म । कण्डरीकस्तु नानाविधाभिग्रहादितपःपरः संयमं पालयामास । इतोऽन्येद्युः कण्डरीकः संयमश्रीसक्तः सन् कस्यचिन्नरेन्द्रस्य राज्यसम्पदं वीक्ष्य दध्यौ मया मुधा हारितं राज्यं यदर्थमेवंविधं कष्टं करिष्यमाणमस्ति तत्स्वर्गादिसुखमधुना दृश्यते केनापि न, राज्यं तु प्रत्यक्षसुखमस्ति, तेन मुधाऽहं कायक्लेशं करिष्ये । यतः—“ तीव्रं तपो मनोमुख्य—पञ्चेन्द्रियादियन्त्रणम् । देहिनां जायतेऽत्यन्त—वेदनाहेतवे खलु ॥ १ ॥ एवं ध्यायन् सदा चित्ते, कण्डरीकोऽधमाशयः । एकोन्द्रियादिजीवानां, विराधानां तनोति सः ॥ २ ॥ एवं विचिन्त्य स्वपितुराज्यं भ्रातृपार्श्वज्जिघृक्षुः कण्डरीकश्चाल स्वपुरं प्रति । पुण्डरीकिणीपुर्णुपान्तस्थोद्याने समेत्य स्वमुपकरणं वृक्षशाखायां बद्ध्वा शाद्वले स्थाने कण्डरीक उपविष्टः । ततः कस्यचिन्नरस्योद्यानपालकस्य मुखात्स्वागमनं कण्डरीको ज्ञापयामास पुण्डरीकाय । ततो राजा हृष्टः स्वभ्रातृपार्श्वे समेत्य ववन्दे तत्कमौ । वृक्षशाखायामुपकरणं बद्धमालोक्य पुण्डरीको दध्यौ । अहो ! एवंविधैराग्यवासितचित्तस्य एवंविधा सचित्तविराधनारूपा चेष्टा भवति, तदा मोहस्य विलसितं सर्वम् । यतः—“ क्षणं सक्तः

क्षणं मुक्तः, क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी । मोहाद्यैः क्रीडयेवाहं, कारितः कपिचापलम् ॥ १ ॥ विषयगणः कापुरुषं,  
 करोति वशावर्त्तिनं न सत्पुरुषम् । बध्नाति मशकमेवहि, लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ २ ॥ तदानीं ” कण्डरीको जगौ,  
 मया संयमं पालयितुं न शक्यते, तेन मम राज्यमर्पय । राजा जगौ—प्रागपि मया व्रतं जिघृक्षुस्त्वं वारितोऽपि  
 संयममलाः । अधुना यदि तव राज्यग्रहणेच्छाऽस्ति, तदाऽऽवयो राज्यसंयमयोर्व्यत्ययो भवतु । ततो राजा व्रतचि-  
 न्हानि ललौ, कण्डरीकस्तु राज्यचिन्हानि छत्रादीनि जग्राह । ततो निःसङ्गचित्तः सन् विजहार पुण्डरी-  
 कयतिः, कण्डरीकस्तु प्राप्तराज्यः बहुन्नं भक्षयन्—सेवकैर्हसितः सन् दध्यौ, यैः सेवकैर्हसितमस्ति, तेषां शिक्षा  
 दास्यते । कर्मयोगाद्रात्रौ तस्यामेव विशूचिका जाता कण्डरीकस्य । ततो यद्यदौषधं तस्य दीयते सेवकैस्तत्तन्न गुणाय भवति ।  
 ततो रुष्टः कण्डरीको दध्यौ, एतैः सेवकैः सचिवाद्यैर्मा हन्तुमुपायो मण्डितोऽस्ति । यदि नीरोगो भविष्यामि, तदा सर्वेषां  
 घाणुकप्रक्षेपादिना प्राणान् गृहीष्यामि । एवं रौद्रध्यानपरः कण्डरीकस्तस्मिन्नेव दिनात्यये विपद्य सप्तमे नरके गतः ।  
 यतः—“ आर्ते तिर्यग्गतिस्तथागतिरधो ॥ १ ॥ ” पुण्डरीकस्तु स्वयंगृहीतसंयमो जिनादिष्टसंयमं शुद्धं पालयितुकामो  
 दध्यौ, गुरुपार्श्वे गत्वा गुरुहस्ते संयमं गृहीत्वा संयमं शुद्धं पालयिष्यामि । मार्गे गच्छन् पुण्डरीकः कस्यचिद्गृहे-



रूक्षान्नं प्राप्यैकान्ते च सुक्त्वा कस्मिंश्चिद्भामे तृणसंस्तरे सुष्वाप । रात्रौ शीतेन बाधितोऽकस्मात्समुत्पन्नतीव्रवेदनो दृष्ट्या-  
वेवं पुण्डरीकः, अहमभाग्यवान् श्रीगुरुर्योऽपि न वदिन्ताः प्राप्तोऽपि संयमो मुधा भविष्यति, यदि गुरुणां पार्श्वे गमि-  
ष्यते, तदा गुरुरूपदिष्टमार्गेण शुद्धः संयमः पालयिष्यते । ततः सर्वान् सूक्ष्मान् बादरांश्च जीवान् स्वयं क्षामयन् शुभ-  
ध्यानपरः पुण्डरीको मृत्वा सर्वार्थसिद्धिविमानमाससाद । यतः—“प्रणिहन्ति क्षणाद्धैन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।  
यन्नहन्यान्नरस्तीव्र—तपसा जन्मकोटिभिः ॥१॥ ” ॥ इति शुभाशुभभावनायां पुण्डरीककण्डरीककथा समाप्ता ॥१६॥

अभिमानं त्यजन् जाति-कुलश्रीलाभसंभवम् । केशिगच्छेशवन्मुक्ति-सातभाग् जायतेऽङ्गवान् ॥१॥

तथाहि-आमलकलपायां पुर्यां श्रीवीरं समवसृतं नत्वा देवः सूर्याभो व्यजिज्ञपत्, भगवन् ! श्रीगौतमादि  
यतीनामहमद्य दिव्यं नाट्यानिधिं दर्शयिष्ये, मामनुजानीहीति विज्ञतः स्वामी नैवादिदेश न च प्रत्यादिदेश । तत  
ऐशान्यां पीठस्थः देवः सन्यासव्यमुजह्वयात् देवानप्सरसश्च विकुर्व्याष्टसु दिक्षु नृत्यं मर्त्येष्वसंभाव्यं दिव्यर्द्धिव-  
र्द्धितं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यं दर्शयित्वा प्रभुं प्रणम्य स्वर्गमुद्ययौ । ततः श्रीगौतमः प्रभुं प्रणम्य पप्रच्छ, भगवन् ! कोऽयं

देवः कुतोऽस्यायं बोधिरभूत धर्मेण केन कर्मणास्येदृशी ऋद्धिः सम्पन्ना । अथ श्रीवीरः स्वामी प्राह एष देवो  
 नरकपथप्रस्थितोऽपि गुरुप्रतिबोधात् स्वर्गपदवीं प्राप । तथाहि—श्वेताम्बीपुर्यां प्रदेशीति नाम्नाऽभवद्भूपः तस्य प्रिया सूर्य-  
 कान्ता सूर्यकान्ताहो नन्दनोऽजनि । तस्यालंध्यवचाश्चित्रनाममन्त्री कार्यत्कदाचन श्रावस्त्यां जितशत्रुनृपान्तिके ययौ  
 तत्रागतं श्रीपार्श्वनाथगणधरं गणधरभारधारिणं चतुर्ज्ञानशालिनं केशिनं समायातं श्रुत्वा गुणं वन्दितुं ययौ । गुरुणा  
 धर्मोपदेशो दत्त इति । “ धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं धर्मेणैव भवन्ति निर्मलधियो विद्यार्थ-  
 सम्पत्तयः । कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते, धर्मः सम्यगुपासितो भवतु वः स्वर्गोपवर्गप्रदः ॥१॥ ”  
 इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा चित्रो मन्त्री प्राह—तथाहि—श्वेताम्ब्यां गन्तुमाचार्यः, केशी चित्रेण मन्त्रिणा । स्वस्वा-  
 मिनः प्रबोधाय, विज्ञप्तो भक्तिपूर्वकम् ॥ १ ॥ आचार्यः प्राह—इहलोकैककधीः क्रूरः, परलोकपराङ्मुखः । साहसैकर-  
 सश्चण्डः, स कथं बोधमर्हति ॥ २ ॥ ततश्चित्र आचष्ट, सन्त्यन्ये धनिनो ये तपोभृतां सदा सत्कारसन्मानदान-  
 प्रणयपेशलाः, तेषां किमशक्यं, तेन तत्र पादावधारणेन मत्स्वामिनं संसारसमुद्रमज्जन्तं धर्मोपदेशबेडयोद्धर ।  
 वर्तमानेन योगेनेत्युक्त्वा मन्त्रिवचोऽनुमेने मुनिः । ततः श्रीसूरिः केशी विहरन् मुनिं श्वेताम्ब्याः पुर्यां बहिरुद्याने

समागतः । गुरुं बहिरुद्याने समागतं श्रुत्वा चित्रश्चित्ते चिन्तितवानिति । अयं चेन्नरकं गन्ता, प्रभुर्मय्यपि मन्त्रिणि । ततः स्वामिप्रसादानामहं स्यामनृणः कथम् ॥ १ ॥ ततः केनाप्युपायेन, गुरुं येन नयाम्यहम् । प्रतिकर्ता रुजं वैद्यो, गुरुर्दुष्कर्मणां पुनः ॥ २ ॥ ततो वाहवाहनिकाछलेन मन्त्री भूपतिं बहिरुद्याने यत्र गुरवो धर्मोपदेशं दद्वानाः सन्ति, तत्रासन्नप्रदेशे नीतवान् । वाहान् खेलयित्वा राजा द्रुमच्छायायामुपाविशत् श्रमछिदे, गम्भीर-निर्घोषं शब्दं श्रुत्वा राजाऽवगू, भो चित्र ! कस्य एष शब्दः श्रूयते । न ज्ञायते सम्यक् कस्यायं शब्द इति मन्त्रि-णोक्तं, मन्त्रिणा प्रेरितो भूपस्तत्र गुरुसन्निधौ ययौ । उपविष्टोऽग्रे राजा । तदा गुरव एवं प्रोचुः । गिरेः शृङ्ग इवोत्तुङ्गे, नृभवेऽपि प्रमादिनः । उत्पद्य स्वास्थ्यं भो भव्याः !, पित्सवः किं भवावटे ॥ १ ॥ पापात्मानः कथं निद्रां, कुर्वन्ति निशि निर्भयाः । दीर्घोभूता हि सा तेषां, नरकाहानहेतवे ॥ २ ॥ आत्मकर्मान्यलोकादि, परोक्षत्वाच्च चेन्मतम् । तत्पितामहपित्राद्या, अपि स्युस्ते न संमताः ॥ ३ ॥ वाचः परप्रबो-धाय, प्रोच्यन्तेऽतीन्द्रियश्च सः । तद्वक्तुमपि नो युक्तं, प्रत्यक्षैकप्रमाणिनाम् ॥ ४ ॥ धर्मिणां च विनात्मानमिच्छा-दिगुणसंश्रयम् । धर्मत्वादिह चैतन्यमन्यथा नोपपद्यते ॥ ५ ॥ इत्यादि धर्मसूक्तानि जीवस्थापकानि श्रुत्वा

नास्तिकमतवादी प्रदेशी राजा जगौ-नास्ति जीवोऽदृश्यत्वात् । गुरुणोक्तं-यो वक्ति अहं सुखी अहं दुःखीति  
 प्रत्ययो धर्मिणं विना न जायते, तेन धर्मी समस्त्येव, यो धर्मी स जीव एव । ततः-भूयोऽन्वयुक्तमपि, मयै-  
 कस्तस्करः प्रभो ! । क्षिप्तान्तःकुम्भि तद्वारं, दृढं नीरन्ध्रितं स्वयम् ॥ १ ॥ कालेन स मृतो दृष्टः, कृम्याकुलकले-  
 वर । तज्जीवनिर्गमोऽन्येषा-मागमो वाऽभवत्कथम् ॥ २ ॥ चूर्णपेषं च पिष्ट्वाऽपि, चौरै जीवो विलोकितः ।  
 प्रतिपत्तिकमप्यत्र, प्रत्यभ्यज्ञायि नो पुनः ॥ ३ ॥ चौरै कस्मिन् मया सद्यः, श्वासं रुद्धा विपादिते । प्राकृपश्चाच्च  
 तुलाऽभेदः, सदसज्जीवभूतम् ॥ ४ ॥ गुरुरूचेऽथ नीरन्ध्रं, कुम्भिकान्तर्गदा नरः । शङ्खं वादयते शब्दः स बहिः  
 श्रूयते कथम् ॥ ५ ॥ अभिघात्याभिघातित्वे, तस्मिन्श्चाव्यभिचारिणि । न मूर्तत्वं विना तस्माद्, द्रव्यस्कन्धात्मको  
 ध्वनिः ॥ ६ ॥ सौक्ष्म्यान्मूर्तोऽपि तच्छब्दः कुम्भीमध्याद्विनिःसरन् । अमूर्तस्यास्य जीवस्य, सन्देहं न भिनत्ति  
 किम् ॥ ७ ॥ पिष्टस्यारणिकाष्टस्य, चूर्णे वन्हिर्न वीक्षितः । स चास्त्येव यथा तत्र, जीवोऽप्येवं विचिन्त्यताम्  
 ॥ ८ ॥ दृष्टौ च वायुना पूर्णे, नापर्णेऽपिच भिद्यते । तुला तथैव जीवेऽपि, नृप ! किं न विद्वश्यते ॥ ९ ॥  
 इत्थं विवर्तसूक्ष्माणां, मूर्तानां विविधान्यपि । अमूर्तस्य स्वभावेन, तद्वत्कथं किमात्मनः ॥ १० ॥ शक्तं

॥ श्रीभरते-  
श्वर वृत्तिः ॥

॥ ९६ ॥

सूक्ष्मं विदात्मान-मात्मानं कर्मवर्भितम् ॥ निश्चित्येति महाराज !, कुरु धर्ममनातुरः ॥ ११ ॥ धर्माज्जन्म० । १ ।  
क्रमागतामपि क्षमाप !, त्यज नास्तिकतां क्षणात् । किं दरिद्रतया श्रेयः, श्रियं संश्रय संमुखीम् ॥ १२ ॥  
केऽपि सहसंभरयो, लक्षंभरयश्च केऽपि केऽपि नराः । नात्मभरयः केचित्, फलमेतत्सुकृतदुष्कृतयोः ॥ १३ ॥  
इत्यादि धर्मोपदेशमाकर्ण्य प्रदेशी राजा सम्यक्तत्वमूलानि द्वादश व्रतानि जग्राह । राजा दृढव्रतो धर्मं पालयन्  
गृहमेधिनां चिराद्वैराग्यवासितोऽभवत् । अन्यदा सूर्यकान्ता पुरुषान्तरागिणी पौषधपारणे विषं प्रदेशीरान्ने ददौ ।  
स राजा कुताराधनकः प्रान्ते स्मृतपञ्चनमस्कारो मृत्वा स्वर्गे प्रथमे सूर्याभविमाने सुरोऽभवत् । स एवायं देवः  
सूर्याभश्चतुःपल्योपमस्थितिरभूत् । अत्र चास्मद्भक्तितो मां यतीश्वरांश्च वन्दितुमागतो भावपूजां चकार । स देवस्त-  
तश्च्युतो विदेहेषु मर्त्यभवं प्राप्य सर्वकर्ममुक्तो मुक्तिं गमिष्यति । इतः श्रीगौतमः प्रभुं प्रणम्यान्यत्र विजहार ।  
इतः कस्मिंश्चिदुद्याने श्रीगौतमो यावत् समवासार्षीत्, तावदन्यत्रप्रदेशे केशी गणभृत् समवासार्षीत् । केशी गण-  
भृत् गौतमं प्रति प्राह—भो गौतम ! भवानीदृशो वेषादिर्दृश्यते कथं ? गौतमस्तदा चतुर्विंशतितमतीर्थङ्कराचार-  
स्वरूपं जगौ । केचपि श्रीपार्श्वनाथाचारादिस्वरूपं जगौ । अत्रोत्तराध्ययनसम्बन्धी विवादो ज्ञातव्यः । शासनभेद-

भीरुः श्रीपार्श्वनान्वयी केशी गणभृत् श्रीगौतमोक्तं यतिधर्मं प्रपेदे, श्वेतवासा अभूत् क्रमात् सिद्धिं गतः केशी ।  
उक्तञ्च—“ नाभून्मुनीश इह नो भविता समूल,—मुन्मलितस्मयतरुर्गुरुकेशितुल्यः । यो जैनशासनविभेदभिर्देवैर्द्रभूति,  
उयायानपि व्रतलघुं गुरुमेव मेने ॥ १ ॥ ” इति केशिगणधरकथा समाप्ता ॥ १७ ॥

कोऽपि भव्यजनो वीक्ष्य, त्रिजगत् क्षणभङ्गुरम् । गृह्णाति संयमं सद्यः, करकण्डूमहीशवत् ॥ १ ॥

चम्पापुर्यां श्रीवासुपूज्यचैत्यशोभितायां दधिवाहनो राजाऽभूत् । तस्य राज्ञो राज्ञी पद्मावती चेटकभूपुत्री बभूव ।  
सा पद्मावती सगर्भा दोहदमेवं बभार । धृतातपत्रा भूभर्त्रा, भूपनेपथ्यधारिणी । सिन्धुरस्कन्धमारूढा, किल कक्षे लला-  
म्यहम् ॥ १ ॥ एवंविधं दोहदं लज्जावशात् सा प्रकाशयितुं भूपात्रे न शशाक । सा कृशाङ्गी भपपृष्ठाऽन्यदा स्वं दोहदं  
प्रकाशयामास । ततो राज्ञा सा पत्नी धृतातपत्रा करिस्कन्धारूढा वने नीता । तदाऽकस्माद्भजः स्मृतविन्ध्याटवीश-  
ल्लव्यादिभोगो मदनमत्तः सन् चचाल दूरदेशं प्रति । राजराज्ञ्यौ दध्यतुः, किं करिष्यते आवाभ्यामयं गजो न  
तिष्ठति । राजा तु दुरासन्नान् महावृक्षान् वटादीन् वीक्ष्य राज्ञीं प्रति जगौ । वटपादपे त्वमवलम्बेथाः, अहमप्य-

वलम्बयिष्ये च । यथा गजोऽप्रतो गच्छति आवां तु गृहे ततो गमिष्यावः । ततः समागते वटपादपे राजा लब्ध-  
लक्षतया विलम्बः राज्ञी तु विहस्ता न लम्बा गजस्तु राज्ञीयुतो दूरतो गतः, अदृशीभूते गजे राजा वटादुत्तीर्य सशोकः  
प्रियावियोगात् दुःखितोऽभूत् । राज्ञी तेन गजेन दुष्टकर्मणेन निर्मानुषारण्यं नीता । यतः—“स्फुरन्त्युपायाः शान्त्यर्थ-  
मनुकुले विधातरि । प्रतिक्वले पुनर्योन्ति, तेष्युपाया अपायताम् ॥ १ ॥ तृणान्धः स गजः सरसीं वीक्ष्य पयः पातुं  
स्थितः, पयः पिबति गजे शनैः राज्ञी उत्तार । ततः सा राज्ञी भयभ्रान्ता तद्वनं मुक्त्वाऽन्यत्र गता । क्रूरभ्योऽपि  
महाक्रूरं, भीषणेभ्योऽपि भीषणम् । वनं च वीक्ष्य सा राज्ञी, चिन्तयामास चेतसि ॥ १ ॥ यतः—“विद्वान्  
मुखो भटो भीरुः, श्वपाकः पाकशासनः । राजा रङ्गश्च नात्येति, शासनं कोऽपि दुर्विधेः ॥ २ ॥ वीक्ष्यते  
यदथैकत्र, तदन्यत्राऽन्यथा क्षणात् । अहो दोलेव लोलेव, दुर्विधेर्विविधो विधिः ॥ ३ ॥ निर्माणकर्मणा  
ख्यात-पङ्कपिण्डकरो विधिः । दण्डेन असयत्येषः, जगच्चक्रं कुलालवत् ॥ ४ ॥ ” क तत्पुरं क स मे  
प्रेयान् केदं वनं मम समागतं, चिन्तितं च किमुपालम्भेनानेन । विधेरग्रतः कोऽपि न छुटति, मयैव स्वयमि-  
यमापत् स्वस्मिन् विहिता कस्य दोषो दीयते । ततो धैर्यवज्रमयं हृदयं कृत्वा पद्मावती चतुःशरणाराधनाद्युच्चारपूर्वं

सुकृतानामनुमोदनं कृत्वा सागारमनशनं जग्राह । एवंविधे श्वापदसंकटे पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं पुनः पुनः स्मरन्ती वर्तमानि  
पद्मावती तापसाश्रमं ययौ । तां स्त्रियमागतां वीक्ष्य तापसोऽवगू—का त्वं कस्य सुता कस्य च प्रियाऽसि, कुत-  
स्तत्रावस्थेदृशी विद्यते । तवारिमन्नाश्रमे तिष्ठन्त्याः समाधिर्भविष्यति । ततस्तथा सर्वं स्वं वृत्तान्तं तस्याश्रे प्रोक्तम् ।  
तेन तापसेन चेटकराजमुता वाग्भिरमृतकल्पाभिः सैवं जल्पिता । त्वमत्र तिष्ठ । ततस्तेन सा स्वोपाहृतैः फलैः प्राण-  
यात्रामकार्यत । ततस्तथा प्रोक्तमेष मार्गः कुत्र गमिष्यति ? तेनोक्तं दन्तपुरस्याध्वाऽस्ति । तत्र दन्तवक्रोऽस्ति भूपतिः । तत्र  
मध्ये निर्भया त्वं चम्पां गच्छेः । ततः सा पद्मावती तापसं प्रणम्य दन्तपुरे गत्वा साध्वीनां पार्श्वे ययौ । वन्दित्वा  
सा साध्वीर्यावदग्रे उपविष्टा, तावत् साध्व्योक्तं, श्राविके ! कुतस्त्वमागाः ? निवेदिते तथा स्वोदन्ते प्रवर्तिनी प्रत्यु-  
वाच । दुःखैकंसारे संसारे, सुखाऽऽभासोऽत्र स कश्चित् । स्वप्ने राज्यमिव आन्ति—रिणं विजयतेतराम् ॥ १ ॥ दुर्घटं  
घटयन्नेपः, सिद्धं विघटयन् हठात् । घटनोद्घटनव्यग्रो, नैव निर्विद्यते विधिः ॥ २ ॥ जिनं जिनमतं किञ्च मुक्तत्रा  
जिनमतं श्रितान् । अवस्कर इवाप्यन्य—शेषसंसारविस्तरः ॥ ३ ॥ इत्यादि धर्मोपदेशमाकर्ण्य प्ररूढसंवेगा तदैव  
व्रतमग्रहीत् पद्मावती । व्रतविघ्नभियाऽप्रोक्ते तथा गर्भे निजे प्रवर्तिनी जगौ—महानुभागे ! त्वया पूर्वं किं गर्भस्वरूपं



नाख्यायि ? उड्डाहो भविष्यति । पद्मावत्योक्तं भगवति ! यद्यहं गर्भमकथयिष्यं तदा त्वं संयमं नादास्यः । तेन भयेन मया नोक्तो गर्भः । ततो महत्तार्या सा साध्वी प्रच्छन्नं स्थापिता । अन्येद्युः पद्मावती पुत्रमसूत । तदा प्रवर्तिन्योक्तं यद्ययं बालो रक्ष्यते तदा महानुद्धाहो भवति यदि कस्यापि हस्तेनार्प्यते तदा बहुसंसारवर्द्धकं पापं भवति, ततोऽयं यत्नतः शनैः पुराद् बहिर्मुच्यते । ततः पद्मावती नीरगचित्ता संसारमसारं मत्वा नामाङ्कितमुद्रारत्नयुतं बालकं श्मशाने मुमोच । तं बालं तथास्थितं दृष्ट्वा जनङ्गमो लात्वा रहो निजगृहमनयत । अनपत्यायाः स्वपत्न्याः स बालकोऽर्पितो जनङ्गमेन । सा जनङ्गमा तं बालं पालयति स्म । एतत् सर्वं पद्मावत्या रहसि स्थितया ज्ञातं मंदाक्षी सा साध्वी स्वाश्रयं प्राप्ता । स बालो जनङ्गमगृहे ववृधे । रममाणः स बालेषु, राजते राजतेजसा । पतितोऽपि गणे ग्राव्णां, यो मणिर्मणिरेव सः ॥१॥ राजोपमानः स बालः क्रीडति स्म करकण्डूया बालात् करेण कण्डूयति स्वं शरीरमिति स बालः । ततोऽभवत्तस्य करकण्डूरिति नाम । सोऽपि षड्वर्षदेशीयः सार्वभौमाकृतिः पितुरादेशात् पातिस्म श्मशानदेशं धिग् विधिम् । अन्येद्युस्तत्रागतौ मुनी वंशजालीं वीक्ष्य मिथः प्रोचतुः, योऽस्य वंशस्य मूलचतुरङ्गुलीस्त्यक्त्वा वंशस्य चतुरङ्गुलमात्रं पर्व आदत्ते, सोऽवश्यं राज्यं लभते । तदा साधुवचस्तादृशं मात-

द्भ्रान्तेन केनचिद् द्विजन्मना च श्रुतम् । द्विजातिर्यावद्ब्रह्मः साधुप्रोक्तं करोति तावत् करकण्डूरागत्यावग्—रे द्विज !  
 त्वं कथं मम वंशं मत्पालितं गृहीष्यसि ? । काले कुर्वाणौ तौ राजकुले गतौ । ताभ्यां स्वं स्वं स्वरूपं प्रोक्तम् । कार-  
 णिकैर्हसद्विरुक्तं—भो चाण्डालपुत्र ! यदा तव राज्यं भवति, तदा त्वयाऽस्मै द्विजाय ग्राम एको दातव्यः । वंशखण्डोऽस्य  
 चाण्डालपुत्रस्य भवतु । ततः स जातिस्वभावत्वात् चाण्डालपुत्रं हन्तुं द्विजातिश्चिन्तयति । द्विजातिस्वरूपं चावगत्य  
 चाण्डालो जिजीविषुः सकुटुम्बोऽगमत् कांचनपुरम् । तत्रापुत्रे नृपे मृतेऽमात्यैरधिवासितद्विधैः पुराद् बहिरभ्येत्य  
 प्रदक्षिणीकृत्य करकण्डू राज्येऽभिसिषेचे । तदा जयजयेतिशब्दमुच्चैः पौराध्यक्रुः । तदानीं तूर्थनपूर्यत स्वयं, प्रधानै-  
 रुपनीति च परिधायान्यद्वाससी प्राग् शिक्षित इव तुरङ्गममारोह स बालकः । सोऽन्तर्नगरं यावत् प्रविशति नागरैः  
 प्रीतिसागरैः सह, तावन्मलेच्छोऽप्यमिति द्विजास्तं मेनिरे । ततस्तैर्द्विजैः रुद्धः क्रुद्धो दण्डं यदाऽऽददौ । तावद्देवताधि-  
 ष्ठितत्वात्तदाऽतिदिद्यते । तदा द्विजा भीता जग्मुः । भोरजंस्त्वं ! वर्णाश्रमाणा—माचार्यो देव ! त्वं महेन्द्रो महे-  
 शस्त्वं, त्वं त्रिणुस्त्वं प्रजापतिः । साक्षात्तेजस्त्वयि क्षात्रं, पवित्रमतिजृम्भते ॥१॥ कर्मणा कृण्वते वर्णः कर्मणा स निकृण्वते ।  
 वर्णानां ब्राह्मणादीनां, जातिस्तन्नात्र कारणम् ॥२॥ यः कर्मप्रकृतौ लीनः, परब्रह्ममयः—पुमान् । स जात्या कम्बुकेनेव, किं परा

वर्त्तते क्वचित् ॥३॥ नरकेषु च तिर्यक्षु, मनुष्येषु सुरेषु यः । आत्माऽग्रं नावमन्तव्यः, स क्वचिद् दैवतं हि सः ॥४॥  
अनेनैव निमित्तेन, त्रिकालज्ञानिनो जगुः । जीवस्य हिंसया पापं, जीवस्याऽहिंसयाऽनघम् ॥५॥ अन्धे तमसि ममाना-  
मस्माकं त्वं महागुरुः । तेजसैव तथाऽनेन, ज्ञानमुन्मीलितं हि तत् ॥ ६ ॥ नाराजकेषु राष्ट्रेषु, हव्यं दहति पावकः ।  
न च धर्माः प्रवर्तन्ते, न च वर्षति माधवः ॥७॥ कुतो धनं कुतो दाराः, शरीरं च कुतो नृणाम् । सर्वदेवमयस्त्राता, यदि  
राजा न पालयेत् ॥ ८ ॥ सर्वावलोकने सूर्यः, पापानां निग्रहे यमः । कुबेरो भरणे राजा, प्रायश्चित्तेषु पावकः ॥९॥  
तदेनस्तद्विज्ञान-जनितं नो विशोधय । तीर्थं राजा प्रजानां हि, कल्मषक्षालनक्षमम् ॥ १० ॥ इत्यादिना ब्राह्म-  
णेर्विज्ञसो भूपतीब्रमत्सरी उवाच । येषामहं संमतोऽस्मि ते सर्वे मान्याः अन्ये तु द्विजा वध्याः । तैर्द्विजैः सर्वैरुक्तं,  
त्वमस्माकमनुमतोऽसि । ततोऽवगुं भूपः-एतर्हि तर्हि मातङ्गान् संस्कारैर्ब्रह्मसूरपि (कुरुध्वं) । ततो भीता द्विजा भूपं  
प्रति जगुः-यदाह देवस्तत्तथ्यं, संस्कारैरेव विप्रता । नहि ब्राह्मणजात्योऽपि, ब्राह्मण्यमर्हति ॥ १ ॥ अद्विज-  
स्याष्टवर्षस्य, जातस्यातः परं द्विजैः । तत्त्वेनाभूततद्भावात्, बटूकरणमिष्यते ॥२॥ यद्देवस्य रोचते तत्तु क्रियते एव,  
व्यवहारस्तु बर्लीयान् विद्यते लोकेषु । ततो विमृश्य राजोवाच द्विजान् प्रति । ततः ते जनङ्गमा द्विजा भवन्तु अस्माकं

वाटधानवासिनः । इत्युक्ते नृपेणाकाशात् पुष्पवृष्टिरपतत् । जय जय भूपेति दिव्यवागजनि अथ तैर्ब्राह्मणै राजादे-  
 शात् तेषां जनङ्गमानां संस्कारो विहितः । ततस्ते ब्राह्मण्यं लभन्तोच्चैर्देवमानवपूजिताः । उक्तञ्च—“दधिवाहनपुत्रेण, राज्ञा  
 तु करकण्डुना । वाटधानकवास्तव्याश्चाण्डाला ब्राह्मणाःकृताः ॥१॥” ततो महामहोत्सवपूर्व पुरे प्रविश्य मन्त्र्यादिभिर्विहि-  
 तराज्याभिपेकः सप्रतापो राज्यं करोति करकण्डुः । इतः स वादी द्विजः करकण्डुं प्राप्तराज्यं श्रुत्वा तत्र चाभ्येत्य ग्राममेकं  
 याचते स्म । ततो राज्ञोक्तं द्वास्थेन द्विजं प्रति । गच्छ द्विज चम्पायां तत्र मन्निदेशतो ग्रामं तुभ्यं दास्यति । ततो  
 द्विजस्तत्र गत्वा चम्पेशं ग्रामं याचते स्म । करकण्डुनिदेशतो दधिवाहनो दध्यौ । अहो मूर्खः स करकण्डुराजा, य  
 एवं मां वदति । ततो राजा तं प्रति प्राह—कपोतपोन्नतिम्लेच्छपोतः कथमनात्मवान् । यो मया सैनिकः श्येनः  
 पक्षीन्द्रेण विरुध्यते ॥ १ ॥ त्वं तु दूतत्वात् याचकत्वादवध्यो रणे तस्य प्राणग्रहणादहं तुभ्यं ग्रामं दास्यामि । ततस्तेन  
 द्विजेन तद्भूपोक्तं करकण्डुपार्श्वे गत्वा प्रोक्तम् । ततस्तत्कालमेव सन्नह्य करकण्डुश्रम्पां प्रत्यचलत् । ततस्तं करक-  
 ण्डुमायान्तं श्रुत्वा दधिवाहनो वप्रं सर्ज्जिकृत्य युद्धायाचलत् । सङ्ग्रामभूमिर्युद्धाय सर्ज्जिकृता । ततो मिथः द्वयो-  
 र्भूपयोर्महान्तं संग्रामं जीवसंहारं च मत्वा पद्मावती साध्वी पुत्रपत्योर्युद्धं जायमानं ज्ञात्वा तद्वारणाय करकण्डूपा-

श्रुत्वाभ्यावग्-अहं तव माता अयं तव पिता दधिवाहनो राजा । मुद्रारत्नाक्षरसंवादतः पितरं दधिवाहनं मातर-  
मार्थिकां पद्मावतीं करकण्डूभेने । हृष्टश्च करकण्डूरत्यन्तम् । ततः आर्थिकया प्रबोधयितुं भूपं पुरमध्ये गतं, दासी-  
पार्श्वतः समागतं राज्ञे ज्ञापितं साध्व्या, ततो राजा तत्रागत्य प्रमोदात्तां पद्मावतीं यतिनीं प्रणयाम्, पृष्टं च ( राज्ञा ) त्वया  
कथं संयमो गृहीतः ? स गर्भः कथमभूत् ? तयोक्तं येन तव त्रयो वेष्टितोऽस्ति स एव ते पुत्रः । ततो राजा  
प्रातः पादचोरेण तत्र पुराद् बहिरायाद्यावत्तावत् पुत्रोऽपि पादचारी सम्मुखमेत्य पितुः पादौ प्रणयाम् ।  
ततः पुरमध्ये महामहोत्सवपूर्वं तं पुत्रं प्रवेक्ष्य प्राप्तवैराग्यो राजा राज्यं दत्त्वा च दीक्षां दधिवाहनो ललौ ।  
करकण्डूर्द्वयो राज्ययोर्भागभूत् । करकण्डूः कलिङ्गेशो न्यायात् प्रजाः प्रशशास । तस्य राज्ञः क्रमाद् बहूनि  
गोकुलान्यासन् । तन्मध्ये एको बली शंडोऽभूत्, येन बहवः शंडा भग्नाः । स चार्भीष्टोऽभूद्राज्ञः भृशम् । तमेवान्य-  
दा मृत श्रुत्वा यावत्तत्र तं द्रष्टुं याति भूपस्तावन्मृत एव स दृष्टो राज्ञा । तं तथास्थं शंडं वीक्ष्य राजा श्लोकभेवं जगौ  
यतः-यस्य दृष्टा महोक्षाणो, दूरादाकर्ण्य गर्जितम् । गोष्ठाजिरेष्वभज्यन्त, वदन्ते हि स वत्सकैः ॥ १ ॥ चेतनाचेतनं  
लोकं, सृष्ट्वा सृष्ट्वाऽतिघस्मरः । अहो महोदरः कालो, न तृप्यति हहा लिहन् ॥ २ ॥ उपाधैर्मूर्खैकभ्योऽपि, रक्ष्यते वरस्व-

नेकशः । न सर्वमूर्खकस्यास्य, प्रतीकारतु विद्यते ॥ ३ ॥ दृश्यते यद्यदैवेह, तत्तदैव न दृश्यते । त्रिलोकीमष्टिकागोलैः,  
 कालः खेलति कौतुकी ॥ ४ ॥ अभूत्वाऽऽप्नोति यो भूतिं, भूत्वा वाऽभूतिमाप्नुयात् । अभावादिरभावान्तोऽभावो भावः  
 कथं भवेत् ॥ ५ ॥ कुटुम्बदेहश्रीदारा, वर्णवस्त्रादयोऽखिलाः । अनित्या एव दृश्यन्ते, नित्यं तूलोच्चया इव ॥ ६ ॥  
 इत्यादि ध्यायन् यावद्वैराग्यवासितो जातिस्मृत्या पूर्वभवं सस्मार यः करकण्डूरभूत् तावदेवता रजोहरणादिलिङ्गमदा-  
 त्तरेभ्यः । देवतादत्तलिङ्गोऽथ, तृणवत्त्यक्तवैभवः । भेजे प्रत्येकबुद्धत्वं, करकण्डुर्भुमीश्वरः । श्वेतं सुजातं सुविभक्तशृङ्गं,  
 गोष्ठाङ्गणे वीक्ष्य नृपं जरार्त्तम् । ऋद्धिं त्वऋद्धिं प्रसमीक्ष्य बोधात्, कलिङ्गराजाऽप चरित्रधर्मम् ॥ १ ॥

॥ इति करकण्डुकथा समाप्ता ॥ १८ ॥

हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल महासाल सालिभदो अ ॥

भदो दसन्नभदो, पसन्न भंदो अ जसभदो ॥ ३ ॥

इत्स्यापि कोपि हेतुः स्यात्, वैराग्ये भववस्तुषु । गजमृत्युः परित्यज्य (त्यागे) यथा हल्लविहल्लयोः ॥ १ ॥

अस्योपनयः । श्रेणिकेन भूपेन सुतप्रीत्या हल्लविहल्लयोः स्वसुतयोः सेचनकः पट्टहस्ती प्रसादीकृतः । कुणिको  
रुष्टः । श्रेणिकं सेवकपाश्चात्ताडयति स्म । अन्येद्युः कुणिको यावद्भोक्तुमुपविष्टः, तावत् पुत्रेण स्थाले मूत्रितं तदा  
कूणिकेन वक्त्रं मोटयित्वा पुत्रो दूरीकृतः । चिल्लणाऽवगू-यदा त्वं जातस्तदा दुष्टस्वप्नोपलम्भादुत्करटिकायां त्याजित-  
स्वत्पित्रा पश्चादानीतरस्त्वं तदा तवैकाङ्गुली मार्जार्या खण्डिता । तत्रातीव वेदना जाता । यदोत्पन्नवेदना या त्वदङ्गुली  
तां त्वत्पिता मुखान्तः क्षिपतिस्म, तदा तव वेदना याति स्म । एवं सदा मोहवशात् त्वदङ्गुलीं क्वथितां मुखे  
चिक्षेप । त्वं त्वधुना पितरमेवं कशाघातैस्ताडयसि ततोऽभ्युत्थाय त्वरितं कुठारं गृहीत्वा काष्ठपञ्जरं भङ्गत्वा-  
पितरं कर्षयिष्यामीति ध्यायन् यावन्निःससार तावत्तं पुत्रं तथाविधं समागच्छन्तं दृष्ट्वा श्रेणिको दध्यौ, मां मार-  
यिष्यत्येषः । ततः तालुपुटविषभक्षणान्मृत्वा प्रथमपृथिव्यां गतः । ततः कुणिकपत्न्या पद्मावत्या स्वपुत्रस्योदयनस्य कृते  
सेचनको हस्ती याचितो हल्लविहल्लपार्श्वात् । ततस्तौ बिभ्यतौ प्रणश्य विशालायां मातानहस्य चेटकस्य शरणं गतौ । कूणि-  
कनृपश्च सर्वाभिसारेण तां पुरीं रुरोध । चेटककूणिकयोः समरसंस्मभे जायमाने मनुष्याणां सहस्राणि परलोकं गच्छन्ति  
स्म । हल्लविहल्लौ सेचनकमारूढौ कूणिकसेनाया उपस्कन्दं कुरुतः स्म । दुर्धरत्वात्तौ बहून् भटान् हत्वा यातः स्म ।

स्वं बलं ताभ्यां बहुहन्यमानं दृष्ट्वा कृणिकेन स्वसैन्यस्य परितः खादिराङ्गारपूर्णां खातिका रहः कारिता । तदुपकण्ठे  
 त्रासः सेचनको हल्लविहल्लाम्यां भृशं प्रेर्यमाणो विभङ्गज्ञानी तौ हल्लविहल्लौ निजस्कन्धादुच्चार्य स्वयं खातिकायां पतितौ  
 विपेदे प्रथमश्च भ्रमे गतो हस्ती । तेनैव वैराग्येण व्रतोत्कण्ठितौ हल्लविहल्लौ जातौ । ततः शासनदेव्या उत्पाटय श्रीवी-  
 र्यार्थं मुक्तौ । ततः संयमं जगृहतुः । श्रीजिनोदिततपःपरौ हल्लविहल्लौ मृत्वा सर्वार्थसिद्धिविमाने जग्मतुः ।

॥ इति हल्लविहल्लकथा समाप्ता ॥

पालयन् दर्शनं शुद्धं, शीलं च भुक्तिसौख्यदम् । भुक्तिं गच्छति भव्याङ्गी, सुदर्शन इवादरात् ॥ १ ॥

तथाहि—जम्बूद्वीपदक्षिणदिग्भूषणभरतखण्डे चम्पापुरी विद्यते तत्र रणसिंहभूपुत्रो दधिवाहनराजा राज्यं  
 न्यायाध्वना पालयामास । राधावेधसाधनेन राज्ञा अभया देवी परिणीता । तत्रार्हदासोऽतुलबलसमृद्धिः श्रेष्ठी वसति  
 रस । अर्हदासी पत्नी तस्यासीत् । द्वावपि श्रीजिनोक्तधर्मं कुरुतः । तस्या अर्हदास्या उदरे कोऽपि पुण्यवान् जीवोऽव-  
 ततार । अर्हदासी सदा जिनपूजाशुद्धसम्यक्त्वपालनपराऽजनि । क्रमात् पुत्रमसूत । शुभेऽहनि स्वजनलोकसन्मान-



दानपूर्वं नानाप्रकारदानं याचकेभ्यो ददानोऽर्हद्वासश्रेष्ठी पुत्रस्य सुदर्शन इति नामादात् । वर्द्धमानः क्रमात् पुत्रः सुदर्शनो गृहीतधर्मशास्त्रोऽभूत् यतः—“रूपयौवनसम्पन्ना, विशालकुलसम्भवाः । विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ १ ॥ पण्डितेषु गुणाः सर्वे, मूर्खे दोषास्तु केवलाः । तस्मान्मूर्खसहस्रेण, प्राज्ञ एको न लभ्यते ॥ २ ॥” ततः सुदर्शनः पित्रा मनोरमाऽभिधां महेश्यपुत्रो वरमहोत्सवपुरस्सरं परिणायितः । तथा पत्न्या सह धर्म कुर्वोणः सुदर्शनः सुदर्शनं पालयतिस्म । मूलं बोधिद्रुमस्यैतत्, द्वारं पुण्यपुरस्य च । पीठं निर्वाणहर्म्यस्य, निधानं सर्वसम्पदाम् ॥ १ ॥ गुणानामेव चाधारा, रत्नानामिव सागरः । पात्रं चारित्रवित्तस्य, सम्यक्त्वं श्लाघ्यते न कैः ॥ १ ॥ पुत्रं गृहभारधरणयोग्यं मत्वाऽर्हद्वासश्रेष्ठी गुरुसंनिधौ संयमं जग्राह । सोऽथ सुदर्शनो विशेषेण राजमान्यो बभूव । पितुरधिकोऽभूद्गुणैः सुदर्शनः । यतः—“कुम्भः परिमितमम्भः, पिबति पपो कुम्भसम्भवोऽभोधिम् । अतिरिच्यते सुजन्मा, कश्चिज्जनकान्निजेन चरितेन ॥ १ ॥ तत्र चान्यो नृपाब्धयः पुरोधाः कपिलाहः सुदर्शनस्य मित्रमभूत् । अन्येद्युः कपिलः प्रोचे प्रेयस्या कपिलाख्यया, स्वामिन् ! तिष्ठसि कुत्र त्वं ? पुरोधाः प्रोवाच, सुदर्शनस्य मित्रस्यो-पान्ते तिष्ठामि, गोष्ठीक्रियते तत्र मया । तस्य किं नाम त्वया न ज्ञायते ? । रूपेण कन्दर्पः, वाचा वाचस्पतिः,

बुद्ध्या बुधः, तेजसा सूर्यः, सौम्येन सोमः, कर्मच्छेदनकर्कशत्वेन मङ्गलः, धिषण्या शुक्रः, कुकर्ममन्दत्वेन मन्दो-  
 जितोऽस्ति तेन सुदर्शनेन । किं च विशेषेण शीलगुणैर्नैकेन सर्वैर्पूतकृष्टोऽस्ति सुदर्शनः । किन्तु विधात्रा सर्वगुण-  
 मयधत्त्रे सः । सा कपिला पर्युर्मुखाच्छद्गुणानाकर्णयन्ती सुदर्शनेन श्रेष्ठिन्वनुरागिण्यभूत् । यतः—“स्मितेन भावेन  
 मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षितैः । वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समन्तपाशं खलु बंधनं स्त्रियः ॥१॥”  
 सदा सुदर्शनेन सङ्गमिच्छन्ती कपिलाऽन्येद्युर्भर्तारि कस्मिंश्चिद् ग्रामे गते कूटघटबुद्धिः सुदर्शनेन श्रेष्ठिगृहे गत्वा  
 श्रेष्ठयन्त्रेऽवगम् । भवतः सुहृत् ज्वरी जातोऽस्ति । तेन त्वामाकारयति । अहं त्वामाकारयितुमागताऽस्मि । विलम्बो न  
 क्रियते, वेलां क्षमते न । सुदर्शनोऽवगम्—मया न ज्ञातं सम्यग् । ततः सर्वं कार्यं मुक्त्वा तत्कालमुत्थाय सुदर्शनो मित्र-  
 गृहमध्ये गतः । यथा यथा सुदर्शनो गृहमध्ये प्रविशति तथा तथा सा द्वाराणि दत्ते । ततो मध्येगेहं गत्वा कपि-  
 लाऽवगम्—स्वामिन्नहं बहुकालात् त्वत्सङ्गं वाच्छन्ती अस्मि । इयं शय्या इदं मद्यपुरतदायत्तं विद्यते । भोगान् स्वेच्छया  
 भुङ्क्ष्व । ततो यदा सुदर्शनो न मन्यते तदा तस्य शरीरेण सङ्गं करोति सा बलात् । सुदर्शनस्तु न मनाग् विकारं  
 गच्छति । सुदर्शनो जगौ त्वं केन वाहिता ? अहं तु नपुंसकोऽस्मि । त्वया कस्याप्यग्रे न वक्तव्यम् । ततस्तयोक्तं

त्वयाऽपि कस्याग्रे मे दुःखेष्टितं न नक्तव्यम् । ततस्तथा मुक्तः श्रेष्ठी स्वगृहमागतोऽभिभूतं ललौ । मया कस्यापि गृहे  
यथा तथा न गन्तव्यम् । ततः अन्येषुर्वसन्तसमये सपौरः पृथ्वीपतिरुद्यानसम्पदं भोक्तुं महाशर्येण निर्ययौ । अभ-  
या महाराज्ञी साऽपि यानारूढा कपिलया सार्द्धं निर्ययौ । तदा मनोरमा षड्भिः पुत्रैर्निर्ययौ । सुदर्शनोऽप्यचालीत् ।  
कपिलाऽपि मनोरमां पुत्रयुतां वीक्ष्याभयां प्रति प्राह । केयं स्त्री ? कस्यामी पुत्राः ? अभयाऽवग-सुदर्शनश्रे-  
ष्ठिनः इयं पत्नी इमे पुत्राश्च, तच्छ्रुत्वा कपिलाऽवग-पुरा मथैष परीक्षितो यदा तदा नपुंसकोऽस्मीत्यब्रवीत् ।  
अभयोचे-त्वं वाहिताऽसि वञ्चिताऽसि । तदा कपिलाऽवग-सखि ! अयमेवंविधोऽस्ति । यदि त्वमेनं रमयसि तदा  
ज्ञास्यते, त्वमेव चतुराऽसि । अभययोक्तमहमेनं वशीकरोमि तदाऽहं ज्ञेया । ततोऽन्यदा पण्डितया सख्या राज्ञी-  
प्रोक्ता तत्र चेतसि का चिन्ताऽस्ति ? तदा अभयया प्रोक्तं एवं स्वरूपम् । ततो सखी जगौ-मेरुशिखरं कदाचि-  
चलति, तथापि सुदर्शनो न चलति शीलव्रतात् । असौ परनारीसहोदरः सुदर्शनः । अभयाऽवग-एकदा तं सुद-  
र्शनमत्रानय त्वम् । पण्डिताऽवग-पर्वदिने छलेनानाधिष्ये । अन्यदा कौमुदीमहोत्सवे समागते राजा पटहवादन-  
पूर्वं सान्तपुरः पौरलोकयुतो वने गतः । तदाऽभया शिरोर्तिभिषं कृत्वा गृहेऽस्थात् । सुदर्शनश्रेष्ठी चतुर्दशीपूर्वं मत्वा

नृणं मुरकलाप्य देवकले कायोत्सर्गे तस्थौ । तदा पण्डिता यक्षप्रतिमां सप्रभायां वाधवादनपूर्वं शिनिकारूढां  
कृत्वाऽऽनयति, एवं कृत्वा कृत्वा विश्वसितेषु सौविदह्यादिषु यक्षप्रतिमाच्छादनारथमारोप्य राजभवने राज्ञीपार्श्वे नीतः  
सुदर्शनः श्रेष्ठी कायोत्सर्गस्थ एव । ततोऽभयगोक्तं भो सुदर्शन ! मया सह भोगान् भुङ्क्ष्व । चाटूक्तिभिस्तथा भूयो भयो  
जल्पमाने सुवर्जिनो न वक्ति तदाऽभया प्राह—यदि त्वं मदीयं वचो न मन्यसे तदा तव प्राणानहं गृहीष्यामि ।  
यथा रा सुदर्शनः श्रेष्ठी तद्वचो नाङ्गीचकार । तदा तयोद्धैः स्वरं जल्पितमिति भो भो लोका ! धावत अयं दुष्टः  
पापी मदीयं शीलं भङ्गमागतोऽस्ति । ततो राजपुरुषा आगताः श्रेष्ठी राजपार्श्वे आनीतो राज्ञा वादितोऽपि पौषधम-  
ग्नभगान्न नयति, तदा राजा रुष्टोऽवगन्—अयं पापी शूलायां क्षिप्यताम् । ततो राजपुरुषैः पुरमग्ने आमयित्वा शूलायां  
भेष्टं समशाने नीतः सुदर्शनः । इतो मनोरगा स्वस्य भर्तुः स्वरूपमवगत्य मम भर्ता तादृग् न भवतीति । मनोरमा  
पयोत्सर्गे स्थिता । गदा मम भर्तुर्भिन्नो निलयं व्रजिष्यति, तदा मया कायोत्सर्गः पारयितव्यः । ततो यावद्रा-  
जपुरुषास्तं शूलायां चिक्षिपुस्तानत्र स्पर्णसिंहासनं कृतं शासनदेव्या । ततो राजा तत्र गतः । तं तथास्थं श्रेष्ठिनं  
वदन् राजा चमरकृतः । शासनदेवगोक्तं, यदि अस्य श्रेष्ठिनः कोऽपि विरुद्धं चिन्तयिष्यति, तदा तस्य प्राणा मया

गृहीष्यन्ते । असौ श्रेष्ठी शीलवान् महोत्सवपुरस्सरं स्वगृहे गतः । ततो श्रेष्ठी वैराग्यवान् संयमं गृहीत्वा सर्वकर्म-  
क्षयं कृत्वा प्राप्तकेवलज्ञानः सुदर्शनः शीलप्रभावात् मुक्तिमगात् मनोरमाऽपि क्रमात् संयमं गृहीत्वा क्षीणसर्व-  
कर्मपुञ्जा मुक्तिं गता ।  
इति सुदर्शनश्रेष्ठिकथा समाप्ता ॥ २० ॥

भावनां भावतोऽनित्या-दिकां भावयतां नृणां । ज्ञानं शालमहाशाल, -साधूनामिव जायते ॥ १ ॥

तथाहि-पृष्ठचम्पा नाम पुरी स्वःपुरीसोदरा जिनप्रासादधोरणीबन्धुरा विद्यते । तत्र शालो राजा राज्यं पृथिवीं  
पालयामास न्यायात् । तस्य लघुभ्राता महाशालो युवराजपदवीं प्राप । इतः पूर्वं काम्पीत्यपत्तने पिठरराज्ञे शालम-  
हाशालपित्रा यशोमती पुत्री दत्ता । तयोः पुण्यं कुर्वतो गंगालिर्नामा पुत्रोऽभूत् । इतः श्रीवीरजिनो रक्षिः पृथिवीं प्रबोधयन्  
गोविलासैः पृष्ठचम्पापुर्या उद्याने सुभूभागाभिधे समवासार्षीत् । देवै रुय्यरत्नस्वर्णमयं प्राकारत्रयं योजनमितं समवसरणं  
चक्रे । श्रीवीरः जिंहासने धर्मदेशनां कर्तुमुपविष्टः । तदा शालमहाशालौ सहोदरौ धर्मं श्रोतुं तत्राजग्मतुः । परमेश्वरो योजन-  
गामिन्या वाण्या सर्वजीवप्रबोधयिन्या धर्मोपदेशं दातुं लग्नः । यतः-“ देवा देवीं नरा नारीं, शबरश्चापि शाबरीम् ।

तिर्यञ्चोऽपि तैरश्री, मेनिरे भगवद्विरम् ॥१॥ ताराध्वतारातटिनीभुजङ्ग-तरङ्गगङ्गासिकाकणानाम् । सङ्ख्यां स कृत्वा  
कुरुतां तु धर्मं, यो धर्ममीप्सुः कृतकृत्यगेहः ॥१॥ अवाप्य धर्मावसरं विवेकी, कुर्याद्विलंबं न हि विस्तराय । तातो  
जिनरतक्षशिलाधिपेन, रात्रिं व्यतिक्रम्य पुनर्न नेमे ॥२॥ मज्जं विसयकसाया, निद्धा विगहाय पंचमी भणिथा । एए पंच  
पमाया, जीवं पाडंति संसारे ॥ ३ ॥ तणकट्ट जह अग्गी, लवणसमुद्धो नईसहस्सेहिं । नय सो जीवो सक्को, तप्पेउं  
कामभोगेहिं ॥४॥ जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वडूइ । जाव इंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायर ॥ ५ ॥  
इरयादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा प्राप्तैराग्यः शालो महाशालं प्रति जगौ । त्वं राज्यं गृहाण अहं दीक्षां गृहीष्यामि । मम-  
राज्यमुखं तृणतुल्यं शोभते, राज्यान्तं नरकान्तमिति वचनात् । महाशालो जगौ, अहं तवैवंविधोऽभीष्टोऽस्मि, आतर्मा  
नरके क्षेप्तुमीहसे त्वं राज्यविश्राणनात् । मुक्तिसुखं त्वमीहसे भोक्तुं, मम नरकवेदनां दातुं वाञ्छसि ? । अहो ! एवं-  
विधा प्रीतिस्तव । यतः-“नो वैद्या नच भेषजं न च पिता नो बान्धवा नो सुता, नोऽभीष्टा कुलदेवता न जननी स्नेहा-  
नुवन्धान्विता । नार्यो नो स्वजनो न वा परिजनः शारीरकं नो बलं, नो शक्ताः श्रुतिं सुराः सुरवराः सन्धातुमायुधु-  
वम् ॥१॥ एगदिवसं पि जीवो, पव्वज्जमुवागओ अनन्नमणो । जइवि न पावइ मुखं, अवस्स वेमाणिओ होइ ॥२॥ ”

इत्यादि मिथो द्वौ सहोदरौ व्रतं जिघृक्षू काम्पीत्यपुरात स्वं जामेयं गांगलिं मातापितृयुतं । ततो गांगलिं जामेयं महोत्सवपुरस्सरं स्वराज्ये शालभूपो भातृयुग् न्यवीविशत् । ततो जिनालयेऽग्राहिकमहः कृत्वा सप्तक्षेत्र्यां स्वं धनं व्ययित्वा श्रीवीरपार्श्वे शालमहाशालौ संयमं ललतुः । ततो निरन्तरं शुद्धं संयमं पालयन्तौ तपः क्रियानुष्ठानपरौ श्रुतं भणन्तौ गुरुपार्श्वे बहुश्रुतान्नभूताम् । एकदा श्रीवीरेण श्रीगौतमस्वामी शालमहाशालयुतो राजगृहाच्चम्पापुर्यां गांगलिजामेयप्रतिबोधाय प्रेषितः । तत्रागतः श्रीगौतमः उद्यानवने ममवासार्पित । तत्र श्रीगौतमं शालमहाशालौ च नन्तुं गांगलिः पितृमातृयुतो ययौ । तथाहि—“संझरागजलबूबूओवभे, जीविए य जलबिंदुचंचले । जुवणे य नईवेगसंनिभे, पाव जीव किमयं न बुज्झसि ॥१॥ सम्पदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि । शारदाभ्रपरिपेशलमायुः, किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥ २ ॥ ” धर्मोपदेशमाकर्ण्य श्रीगौतमस्यामिपार्श्वत् प्राप्तवैराग्यो गांगली राजा स्वं पुत्रं राज्ये न्यस्य यशोमत्या मात्रा पिठरेण पित्रा सह संयमं जग्राह । ततः श्रीगौतमस्यामिनोक्तं,—युष्माभिर्दीक्षा गृहीता परं शुद्धा पालनीया, शुद्धं संयमं विना मुक्तिर्न भवति । एके सिंहतुल्या भूत्वा दीक्षां लात्वा फेरुवत् पालयन्ति, एके जनाः कातराः फेरव इव गृहीतव्रताः सिंहा इव पालयन्ति संयमम्, एके कातराः फेरव इव संयमं गृहीत्वा फेरव इव

पालयन्ति, एके सिंहा इव साहसिका व्रतं लात्वा सिंहा इव पालयंति शुद्धं संयमम्, तेन भवद्भिस्तथा चारित्र्यं यतनया  
 पालनीयं यथा करतलगता मुक्तिश्रीर्भवतां भवति । यतः “ एवादिवसंपि जीवो, पव्वज्जमुवागओ अनन्नमणो ।  
 जइवि न पावइ मुरकं, अवस वेमाणिओ होइ ॥ १ ॥ ततस्ते गांगलिपिठरयशोपत्यः शालमहाशालौ च श्रीगौतमेन  
 समं चलन्त इति भावयामासुः । जातश्चैको मृतश्चैको, एको धर्मं करोति च । प्रायं स्वर्गसुखे जीवः,  
 भ्रष्टे गच्छति कः समयम् ॥ १ ॥ मूढाः कुर्वन्ति ये मे मे, वपुः पुत्रगृहादिकम् । तेऽपि त्यक्त्वा नरोऽग्नाधे, सज्जन्ति  
 भवसागरे ॥ २ ॥ अन्यो जीवो भवेद्यत्र, देहात्तत्र गृहादिकम् । कथमेतन्मर्दीयं तु, मन्यते तत्त्वविद् बुधः  
 ॥ ३ ॥ कुटुम्बधनधान्यादि, सर्वं दुःखसमुद्भवम् । देहं च मन्यते यः स्वं, कर्म बध्नाति स कुधीः ॥ ४ ॥  
 एको धर्ममुपार्जनं च विबुधः कृत्वा स्वयं गच्छति, स्वर्गं पापमुपाज्य घोरनरकं दुःखाकरं प्राणभृत् । एको दुःख-  
 ततिमसारमपि भो धृत्वा च मुक्त्वालयं, तस्मात्त्वं भज तावतो हि शरणं धर्मं त्यज स्वं गृहम् ॥ १ ॥ इत्यादि  
 भावनं भावयतां तेषां क्रमाद् केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । श्रीवीरजिनान्तिके नन्तुं प्राप्ताः । [ श्रीगौतमे त्रिः प्रदक्षिणां  
 कुर्वन्ति शालादिषु त्रिः प्रदक्षिणां कुर्वन्तु ] ( ते प्रदक्षिणयामासुः, प्रणनाम तु गौतमः ॥ तर्था नत्वाऽथ ते पञ्च, चेलुः



केवलपिषर्षदि । तानूचे गौतमो हन्त, वन्दध्वं परमेश्वरम् ॥१॥ ) श्रीवीरो जगौ । भो गौतम ! केवल्यशातनां सा कुरु । गौतमोऽवक् का केवल्यशातना क्रियमाणाऽस्ति मया ? । श्रीवीरोऽवग् गौतम ! एषां शालमहाशालादीनां केवलज्ञानं जातमस्ति । ततरतान् स्वहरतदीक्षितान् लब्धकेवलज्ञानानुत्थाय भक्तिपूर्वं स्वं निन्दन् क्षमयामास । ततः श्रीगौतमो महावीरं जिनं प्रति प्राह भगवन् ! अहमभाग्यवान् यस्मै दीक्षां यच्छामि तस्य केवलज्ञानं जायते मम तु न । ततो भगवतोक्तं—मा खेदं कुरु तवापि केवलज्ञानं भविष्यति । यश्च श्रीअष्टापदे चतुर्विंशतिं जिनान् वन्दते तस्य तस्मिन्नेव भवे केवलज्ञानश्रीरुत्पद्यते । एतच्छ्रीवीरजिनोक्तं श्रुत्वा श्रीगौतमोऽष्टापदे गत्वा श्रीचतुर्विंशतिं जिनान्नत्वा पञ्चदशशतं त्र्युत्तरं तापसानां प्रतिबोध्य दीक्षां ग्राहयामास । तेषां साधूनां क्रमात् केवलज्ञानमुत्पन्नं परमान्नभोजनसमवसरणदर्शनप्रभुमूर्तिदर्शनात् । इतः शालमहाशालादयः आयुषः क्षये मुक्तिं भेजुः । इतिशालमहाशालकथा समाप्ता ॥२॥

ददानो भावतो दानं, यतिभ्यः शुद्धमेकदा । लभतेऽनर्गलां लक्ष्मीं, शालिभद्र इवाङ्गवान् ॥ १ ॥  
विषयेषु जनः स्पर्धां, कुरुते नस्तु मुक्तये । निर्दन्द्वा सा यथाजज्ञे, धन्यश्रीशालिभद्रयोः ॥ २ ॥ तथाहि—जम्बूद्वीपे दक्षिणभरतमध्ये राजगृहे पुरे श्रेणिको राजा न्यायाध्वना राज्यं चकार । तस्यामात्यो गोभद्रनामा श्रेष्ठ्यभूत् ।

तस्य पत्नी सञ्छीला सुभद्राऽभूत् । अन्यदा शालिक्षेत्रं स्वप्ने वीक्ष्य क्रमात् पुत्रममृत सुभद्रा, शालि-  
 क्षेत्रस्यामात् शालिभद्र इति नाम दत्तम् । अष्टवर्षदेशीयः शालिभद्रः पित्राऽशेषकलाः पाठितः । यतः प्रथमे  
 नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये नार्जितो धर्मश्चतुर्थे किं करिष्यति ॥ १ ॥ क्रमान्महे-  
 भ्यपुत्रीद्वित्रिशतं श्रेष्ठी पुत्रं यौवने पर्यणाययत् । देवविमानसमे गृहे ताभिः पत्नीभिः समं भोगान् सुञ्जान-  
 शालिभद्रो गतमपि कालं न जानाति, स्वर्गेऽप्सरोगेभिरिविन्द्रः सुखं तिष्ठति तथाऽयम् । अन्यदा गोभद्रः श्रेष्ठी  
 उत्पन्नैवराग्यः श्रीधीरपाश्वे दीक्षां गृहीत्वा विधिना संयमं प्रपाल्य गृहीतानशनो मृतो देवोऽभूत् । स सुरः शालि-  
 भद्रभार्यैः सुतवात्सल्यतः पुत्रस्य भद्रायुक्तस्य नित्यं दिव्यं भूषणादिवस्तु ददातिस्म । “ पंचसु जिणकल्लाणेषु, चेव  
 महारिसितवाणुमावाओ, जंमंतरनेहेण य, आगच्छंती सुरा इहयं ॥ १ ॥ चचारि पंच जोयण-सयाइ गंधो य मणुअलो-  
 अस्स । उट्ठं वच्चइ जेणं, न हु देवा तेण आवंति ॥ २ ॥” इतस्तत्र पुरे वणिजो रत्नकम्बलान् गृहीत्वा श्रेणिक-  
 पार्श्वे त्रिकैतुमाययुः । राज्ञा मूल्ये पृष्टे तैर्लक्षद्रविणमूल्यमैकैकस्य रत्नकम्बलस्य प्रोक्तम् । राज्ञोक्तं एकेन लक्ष-  
 मूल्येन कम्बलेन बहवस्तुरङ्गमा लभ्यन्ते, तेन मया न गृहीप्यन्ते । ततस्ते पुरमध्ये विक्रेतुं गताः । रत्नकम्बल-

स्वरूपमवगत्य चेष्टुणा राज्ञी प्राह स्वामिन् ! एकं रत्नकम्बलं मद्यं देहि इति कदाग्रहं जग्राह राज्ञी । ततो राज्ञा त एव वणिज आकार्य रत्नकम्बलो लक्षद्रव्येण मार्गितः । तैरुक्तं भद्रायाः सर्वाणि रत्नकम्बलानि दत्तानि लक्ष-  
लक्षद्रविणमूल्येन । ततो राज्ञा पुमानेको रत्नकम्बलं लक्षद्रव्येण मार्गयितुं प्रेषितो, भद्रापाश्वं गत्वा लक्षद्रविण-  
मूल्येनैकं रत्नकम्बलं याचते स्म । भद्रा प्राह तं प्रति ते षोडश कम्बला द्विधा कृत्वा शालिभद्रस्य  
द्वात्रिंशत्प्रियाभ्यो मयाऽर्पिताः । ताभिरंग्रीन् प्रक्षाल्य लूषयित्वा च त्यक्तास्ते रत्नकम्बलाः । यदि राज्ञः कार्यं  
स्यात्तदा खंडितानि रत्नकम्बलानि गृहाण चिच्छुणार्थे । गच्छ त्वया विज्ञप्यतामेवं प्रभुः । स पुमान् गत्वा भद्रोक्तं  
राज्ञोऽग्रे प्राह । तदा राज्ञी प्राह वणिजोऽपि वर्याः येषां पत्न्य एवंविधरत्नकम्बलभोगं कुर्वन्तिस्म । लक्ष्मीर्यदि भोगाय  
नायाति तदा तथा किं प्रयोजनं, या नदीवेगजकर्णध्वजादिवच्चञ्चलाऽस्ति । यतः—“ संजङ्गरागजल-  
बूबूओवमे, जीविण य जलबिंदुचंचले । जुवणे य नईवेगसंनिभे, पाव ! किमयं न बुज्झसि ॥ १ ॥  
सम्पदो जलतरङ्गविलोला, योवनं त्रिचतुराणि दिनानि । शारदाअपरिपेशलमायुः, किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम्  
॥२॥” ततः श्रेणिकस्तं शालिभद्रं द्रष्टुकामः स्वं जनमाकारयितुं प्रैषीत् । आहूते शालिभद्रे भद्रा स्वयमेव भूपार्थे

न्यजिज्ञपत् । नायाति जातु मत्सूनुः, धरित्रीश ! बहिः क्वचित् । सद्गृहागमनाद्ब्रह्मं, समाद्य त्वं प्रवित्रय ॥१॥ श्रेणिकः  
 कौतुकी प्राह—भद्रे ! आयास्यामि भवत्या गृहे शालिभद्रं द्रष्टुम् । भद्राऽवक्—त्वं कियत्कालं तिष्ठेत्युक्त्वा गृहमागत्य  
 गोभद्रदेवपार्थात् विचित्रगजतुरङ्गकदलीप्रभृतिचित्ररचनां गृहे सर्वत्र कारयित्वा राजसार्गे तु विशिष्टतमापूर्वदिव्यप-  
 द्मकुलादिविचित्ररचनां कारयित्वा हृदयोभाञ्च स्ववेशमनृपवेशम् यावत् भूपमाकारयामास । ततो राजा स्वगृहान्निर्गत्य  
 राजवत्सर्तनि हृदयोभामपूर्वां स्थाने स्थाने कृतां स्थाने शतकुम्भमयलोद्गनीलमणिमयमयूरमौक्तिकमयस्वस्ति-  
 कामरणदिव्यपदमृकुलविहितोल्लोचादिशोभां पश्यन् पदे पदे दिव्यसुरभिद्रव्यभूषिताशेषादिदेशं भद्रागृहमागात् ।  
 चतुर्थ्यां सुवि भूषं दिव्यसिंहासनेऽध्यास्य भद्रा सप्तम्यां भूमौ गत्वा शालिभद्रमभाषत । श्रेणिकोऽत्रागतोऽस्ति त्वां  
 वीक्षितुम् । शालिभद्रोऽत्रगु—मातः ! यत् क्रयाणकं समायातमस्ति तद् गृह्यतां, भद्राऽभ्यधाञ्च च स द्रव्यं क्रयाणकं  
 वा किन्तु मगधार्थीशः श्रेणिकः सर्वप्रजापालकोऽस्ति सः । इति श्रुतिपथाऽपूर्वां मातृव्राणीमाकर्ण्य दुःखितो मनसि  
 दृष्ट्वा, धिग् ममेदं जन्म, यन्ममापीश्वरोऽस्ति परः । अतः परं परायचै—वृत्तिर्भौगैरलं मम । गृहीष्ट्वे चरणं चारु,  
 श्रीवीरचरणान्तिके ॥ १ ॥ इति ध्यायन् मातृवचनानुरोधतः शालिभद्रः सुकुमालतनुः भूपपार्श्वेऽभ्येत्य प्रणामं विन-

यादकार्षीत् । आलिङ्ग्य भूसुजाङ्घ्रिं शालिभद्रमुत्सङ्गेकृतः । अभिरुपशान्निवनीतं यथा गलति, तथा राजा स्वाङ्गुस्प-  
शीद्रलद्बिन्दुतनुं शालिभद्रं वीक्ष्य भूपोऽवादीत्, भो भद्रे ! कथमेष ते पुत्र एवं गलद्बिन्दुशरीरो दृश्यते । भद्राऽ-  
वग्—अस्य पिता गृहीतसंयमो मृत्वा देवलोकं गतः, तत्रस्थः स्नेहान्मनोऽभीष्टं वस्तु पुत्राय मह्यं च पूरयति । तस्मादयं  
मनुष्योचितैर्गन्धवासस्रगादिभिर्दूयते पुत्रो मदीयोऽयं तन्मुच्यतामयं सुतः, ततो राज्ञा मुक्तः शालिभद्रः ससमभूमिसुवं  
गतो विमुक्तकर्मा जीव इव मुक्तिम् । ततो भद्रया दिव्यस्नानपानीयैः स्नानं कार्यमाणभूपाङ्गुलीयकं स्नानवाप्यां पपाताक-  
स्मात् । ततः कृतस्नानो राजा इतस्ततो विलोकयन् विलक्षोऽभूयावत्तावद्भद्राऽऽदेशाहासी कूपमध्ये पतितां मुद्रिकां दर्श-  
यामास । ततो राजा स्वमुद्रामन्या बह्वर्भुद्रा विलोक्य दधौ । मम मुद्रायाः पूर्वं च स्नानवापीपतितमुद्रिकाया अङ्गरत्न-  
शोरिव सर्षपस्वर्णाचलयोरिवान्तरं विद्यते । राजा जगौ—केषामेतानि मुद्रिकादीनि दृश्यन्ते ? । दासी आचष्ट—  
शालिभद्रस्य तद्भार्यानां चाभरणानि दिनं दिनं प्रत्युत्तीर्यन्ते यानि तानि अत्र क्षिप्यन्ते, गोभद्रदेवार्घ्पितानि नवानि  
भूषणादीनि परिधत्ते शालिभद्रादिपरिवारसर्वः । ततो विस्मितो भूप. सपरिवारो दिव्यभोजनेन भद्रया भोजितो-  
विभूषणैर्धिभूषितश्च दधौ—क मम सुखं कास्य सुखम् । ततः शालिभद्रं भोगसुखं स्मरन् भपः स्वावासमाससाद ।

इतः श्रीधर्मयोगगुरुमागतं श्रुत्वा शालिभद्रस्तत्रागत्य विनयपूर्वं ननाम । ततो गुरुभिरिति धर्मोपदेशो ददे । “गेहं  
 जर्जरमावुभिः कृतघ्निलं चेलं च यूकालयं, शय्या मत्कुणसंकुला वपुषि रुग्ं रूक्षासनं भोजनम् । वृत्तिभारिव-  
 द्वाद्रिका परुषत्राक् जाता कुरूपा वधू-र्ययेत्यं ननु सोऽपि नोज्झति गृहासङ्गं हहा मूढधीः ॥ १ ॥ अज्जं कल्लं परं-  
 परारं, पुरिसा चिंतंति अरथसंपत्तिं । अंजलिगयंव तोयं, गलंति जियं न पिच्छति ॥ २ ॥ ये जनाः संयमं शुद्धं,  
 पालयन्ति सदाऽऽदरात् । तेषां करतले स्वर्गा-पवर्गश्रीः प्रजायते ॥ ३ ॥ इत्यादि श्रुत्वा शालिभद्रो जगौ-मातरमा-  
 पृच्छय संयमश्रियं गृहीष्यामि श्रीप्रभुपादपार्श्वे । ततः शालिभद्रो वैराग्यवासिताशयो गुरुं नत्वा गृहे ययौ ।  
 मातृपार्श्वे शालिभद्रः कृताञ्जलिर्जगौ-मया श्रीधर्मघोषसूरिपार्श्वे धर्मः श्रुतः तेनाऽहं तत्पार्श्वे संयमं गृहीष्यामि,  
 ममादेशं देहि । भद्राऽवग्-त्वदीयं शरीरं सुकुमालमस्ति व्रतचर्या दुष्करा, तेन तव देहः कष्टं न सहिष्यते ॥ “शालिभद्रो  
 जगौ मातः, पुमांसः सुखमांसलाः । व्रतकष्टसहा नूनं, जायन्ते कातराः किल ॥ १ ॥ गतसारेऽत्र संसारे, सुखआन्तिः  
 शरीरिणाम् । लालापानमिवाङ्गुष्ठे, बालानां स्तन्यनिभ्रमः ॥ २ ॥” इत्यादि युक्त्या मातरं पर्यवसाय्य प्रतिदिनमेकैकां पत्नीं  
 प्रवोष्य त्यजन् सप्तक्षेत्र्यां स्वां श्रियं शालिभद्रो वपातिस्म । इतः शालिभद्रस्य कनिष्ठा भगिनी धन्यस्य पत्युः शिरः

रनपयन्ती नेत्राश्रु मुमोच । स्कन्धोपरि नेत्रांभः पतितं मत्वा धन्योऽवगु—किं प्रिये रोदिपि ? । प्रिया ग्राह—मम  
भ्राता शालिभद्रो व्रतार्थी दिनं प्रति एकां एकां पत्नीं मुञ्चन्नस्ति, तेन ममाश्रुपातोऽभूद् द्वग्भ्याम् धन्योऽवगु—ते  
बन्धुर्हानसत्त्वोऽस्ति । प्रियाऽऽचष्ट—यदि ते शक्तिरस्ति तदा किं त्वया न त्यज्यन्ते प्रियाः । इति मर्मवचः श्रुत्वा  
धन्योऽवगु—अतः परं त्वया न सङ्गमो मम कर्तव्यः । तादृशं दीक्षाग्रहणोत्सुकं मनो ज्ञात्वा ताः स्त्रिणाः पत्न्यः  
सर्वाः पतिं प्रति प्रोचुः—एषा पत्नी मुग्धैवं जजल्प । नाथ ! नमोक्तिभिः क्रियमाणाभिरेवं तव कर्तुं न युज्यते ।  
ततः शालिभद्रभगिनी प्राह—स्वामिन् ! यन्मया मौग्ध्यात् प्रोक्तं तत् क्षम्यतां ममापराधस्त्वया, अतः परं मया  
मनागपि न करिष्यतेऽपराधः अस्मादृशामुपरि कृपा एव क्रियते, उत्तमानामेवं कर्तुं न युज्यते, यदि त्वया संयमो  
गृहीष्यते तर्हि त्वामेवानुपतिष्यामः, पतिः स्त्रीणामेव दुस्त्यजः । इति ता ब्रुवतीर्धन्यो धन्यमन्योऽन्वमन्यत ॥ १ ॥  
ततो धन्य उत्थाय शालिभद्रोपान्ते गत्वाऽवगु—भो शालिभद्र ! किमेवं कातरः सन्नैकैकां स्त्रियं त्यजसि, मया तु  
सर्वा अपि स्त्रियः समकालं त्यक्ताः प्रव्रज्याऽऽवाभ्यां गृहीष्यते । इतः श्रीवीरो वैभारगिरौ समवासार्षीत् । याव-  
च्छालिभद्रः सर्वाः प्रियास्त्यक्ष्यति तावद् धन्यो दानं दत्त्वा सादरोऽपि श्रीवीरपादाब्जे संयमं जग्राह । धन्यं प्रव-

जितं श्रुत्वा शालिभद्रोऽपि श्रीवीरपर्यन्ते संयमं जग्राह । स्वामिनैव समं शश्वद्विहरन्तौ यतीश्वरौ । धन्यश्च शालि-  
 भद्रश्च, तौ संजातौ बहुश्रुतौ ॥ १ ॥ एकद्वित्रिचतुर्मासो-पवासादितपःपरौ, नत्वा वीरं पुरादेत्य, शुश्रुवतुः धर्म-  
 देशनाम् ॥ २ ॥ तथाहि-माणुस्स खित्तजार्ई कुलरूवारुग्गमाउयं बुद्धी । सवणग्गहाण सच्चा, संजमो  
 लोगंमि दुल्लहा होइ ॥ १ ॥ अन्यद्वा मासक्षपणपारणे धन्यशालिभद्रौ भिक्षार्थं गच्छन्तौ वीरं नत्वा  
 जगद्गुः-स्वामिन् ! अद्य कस्या हस्ते आवयोः पारणं भविष्यति । प्रभुः प्राह-मातुर्हस्तेन ते शालि-  
 भद्रार्थ ! यतिनायक ! । भविष्यति द्रुतं पार-णकं धन्ययुतस्य ते ॥ १ ॥ इच्छामीति गदन् शालि-भद्रो  
 धन्यसमन्वितः । भिक्षार्थं वीरमानम्य, चत्वाल नगरान्तरे ॥ २ ॥ भद्रागेहद्वारि क्षामताधारिविग्रहौ  
 धन्यशालिभद्रसाधू निहर्तुमदृष्टपूर्वाविवागतौ तथा भद्रयापि नोपलक्षितौ । श्रीवीरं शालिभद्रं धन्यमद्य वन्दिष्ये  
 इति ध्यानपरा भद्रा स्वं पुत्रमपि शालिभद्रमायान्तं नाबुद्ध । ततो यती तौ क्षणमात्रं प्रतीक्ष्य तस्माद्गृहान्निरी-  
 यतुः । पुरीप्रतोल्यां तौ समायातौ । इतो दधिविक्रेत्री काऽपि वृद्धा स्त्री पुरीमध्ये समायान्ती उत्प्रस्रविणी जज्ञे  
 शालिभद्रनिभालनात् । हृष्टा प्रीतिपरा शालिभद्राय हृद्यं दधि यथेष्टं वृद्धा प्रादात् । ततोऽन्येत्य श्रीवीरचरणा-



न्तिके ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य रचिताञ्जलिः भद्रासूरित्यभाषत—स्वामिन् ! यत्त्वया मातृहस्ते पारणकं मम प्रोक्तं तन्नाजानि कथम् ? । भगवान् प्राह—यन्मयोक्तं तत्सत्यं, पुरा शालिग्रामे एका धन्याभिधा स्त्री विधवाभूत् । तस्याः संगमाहो नन्दनो भर्तारि मृते ग्रामीणवत्सरूपाणि चारयामास । कदाचिदुत्सवे जायमाने प्रत्योकः पायसं निष्पद्यमानं वीक्ष्य जननीपार्श्वे तमयाचत । माताऽवग्—मे दुःस्थायाः कुतः पायसं संपद्यते । ततो बालो भृशं कदाग्रहं मंडयित्वा पायसं मार्गयन् भृशं हरोद । यतः—‘चोरा य चुल्लका वि य, दुज्जणविप्पा य निच्चपाहुणया । नच्चिणिधुत्तनरिदा, परस्स पीडं न याणंति ॥१॥ स्मारं स्मारं पतिं पूर्वसम्बन्धिनीं लक्ष्मीं च तारं तारं वृद्धा हरोद । तां रोदनपरां वीक्ष्यासन्नगृहस्त्रीभिर्मिलित्वा दुःखकारणं पृष्ट्वा वृद्धा स्वपुत्ररोदनसम्बन्धं जगौ । ततो दयया कयाचित्—स्त्रिया पय आनीतं, कयाचिस्त्रिया तन्दुला आनीताः, कयाचिस्त्रिया घृतं शर्करा च दत्ता, तस्यै कयाचिस्त्रिया स्थालमपि संगमजेमनाय दत्तम् । ततो मात्रा पायसं निष्पाद्य खंडघृतयुक्तं पायसं स्थाले परिवेष्य पुत्राय वृद्धा प्रातिवेशमगृहे गता । इतस्तदैव सदैवतः कश्चिन्मुनिर्मासक्षमणपारणके संगमगृहे आगात् । संगमोऽपि तं यतिं चारित्रपात्रं तपःकृशतनुमालोक्य हृष्टो दध्यौ । अहो पात्रमहो वित्त—महो वित्तमिदं त्रयम् । दुर्लभं मन्दभाग्यानां, ममोद्भूतमहो अर्हम् ॥ १ ॥

इति प्रफुल्लितः स्थालमुत्पाटय हृष्टहृत् ददौ पायसं तस्मै संगमः । साधुरपि शुद्धमन्नं गृहीत्वा धन्यमन्यो मिजा-  
 श्रमे गतः । भुक्तमनेन पायसं बुभुक्षयेति समायातया मात्रा पुनः परिवेषितं पायसं पुत्राय । तदा संगमो बुभुक्षयाऽऽ-  
 कण्ठं भुक्त्वा रजन्यामकस्मादजीर्णतया मृत्वा गोभद्रश्रेष्ठिपुत्रो भवानभूत् । तयापूर्वभवसम्बन्धिन्या मात्राय दत्तं  
 दधि तुभ्यम् । ततोऽसारं संसारं मत्वा कृतपारणको तौ धन्यशालिभद्रौ वीरमापृच्छय वैभारगिरौ गत्वा शुद्धे भूतले  
 कृतपादपोषगमानशनौ तस्थतुः । तदा समेत्य भद्रा तीर्थं नत्वाऽपृच्छत—शालिभद्रधन्यौ कथं भिक्षार्थं नायातौ  
 मन्मृहेऽय । तदनुत्ते प्रभुणोक्ते भद्रा दुःसिता वैभारगिरिं गत्वाऽवगृश्रेणिकश्च भद्रा तौ तथास्थितौ वीक्ष्य तथा  
 भद्रा स्नेह यथाऽन्यानपि बहून् रोदयामास, मया मन्दभाग्येन गृहागतौ न ज्ञातौ, एकवारं उत्तरं दत्तम् ।  
 श्रेणिकोऽवगृ—भो शालिभद्र ! एकदा मात्रे स्वं मुखं दर्शय, मातुतः परं तीर्थं न विद्यते । ततो राजा भद्रां प्रति  
 ब्राह्—भद्रे ! त्वं धन्याऽसि, यस्याः पुत्र इद्वगस्ति । इत्यादि कथयित्वा भूपेन प्रबोधिता भद्रा स्ववभूयुता  
 गृहमगात् । श्रेणिको निजं गृहं गतः । ततः शुद्धध्यानारूढौ शालिभद्रधन्यौ सर्वार्थसिद्धाख्ये विमाने जग्मतुः ।

भद्राऽपि क्रमात् प्रातर्वैराग्या श्रीवीरजिनपार्श्वे संयमं गृहीत्वा तपस्तप्त्वा च स्वर्गं गता । ततश्च्युत्वा मुक्तिं यास्यति ।

॥ इति शालिभद्रकथा समाप्ता ॥ २२ ॥

कुर्वाणो मानवो नित्यं, जिनेन्द्रशासनोन्नतिम् । भद्रबाहुगणाधीश, इवाप्नोति वृषं बहुम् ॥ १ ॥  
तथाहि—दक्षिणादिशि प्रतिष्ठानपुरे भद्रबाहुवराहाह्नौ द्वौ द्विजौ सहोदरौ निर्धनौ वसतः स्म । तत्र श्रियशो  
भद्रसूरयो विहरन्तः समाजग्मुः । तत्र भद्रबाहुवराहौ धर्मं श्रोतुं तत्रायातः । धर्मोपदेशोऽत्र भोगाभङ्गुरवृत्तयो० ॥ १ ॥  
इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा द्वौ सहोदरौ स्वगृहं गत्वा मन्त्रयेते स्म—गृहे तु श्रीस्तादृशी नारित मनुष्यजन्म सफलीभवति यथा  
[ सा तु नास्ति ] तेन संयमो गृह्यते । इत्यादि विमृश्य द्वावपि बान्धवौ प्रवव्रजतुः । क्रमाद्भद्रबाहुश्चतुर्दशपूर्वो बभूव ।  
षट्त्रिंशत्सूरिगुणवान् दशवैकालिक १ उत्तराध्ययन २ दशाश्रुतस्कन्ध ३ कल्प ४ व्यवहार ५ आवश्यक ६ सूर्यप्रज्ञासि ७  
सूत्रकृत ८ आचाराङ्ग ९ ऋषिभाषितादि दश इति ग्रन्थानां निर्युक्तिकर्ता, भाद्रबाह्णौ संहितां व्यधाच्च । तदा आर्यसंभूत-  
विजयोऽपि चतुर्दशपूर्वधरो वर्तते । श्रीशोभद्रसूरयः स्वर्गं ययुः । भद्रबाहुसंभूतिविजयौ स्नेहलौ मिथो विहरतः  
स्म । वराहो विद्वानभूत केवलं गर्वपर्वताधिरूढोऽभूत्, सूरिपदं याचते भद्रबाहुसहोदरपार्श्वतः । भद्रबाहुना

त इति भाषितः वत्स विद्वानसि, क्रियावानसि, तत्त्वज्ञोऽसि, परं सगर्वोऽसि, सगर्वस्य सूरिपदं न दद्व्यः । एतदुक्तं  
 तस्य न कश्चित्, गुरुवचनं वर्यमपि कस्यापि विपं भवति । अभव्यस्य सुकुमालमपि कर्णशूलं भवति । ततो व्रतं  
 तत्याज वराहः, मिथ्यात्वं गतः, पुनर्द्विजवेपं जग्राह, वराहसंहितादि नवीनं शास्त्रं रचयामास । महाज्योतिष्को  
 बभूव । लोकेषु स्वां ख्यातिमिति प्रथयामास । अहं बाल्ये लग्नमभ्यस्यामिस्म । तद्विचारे च सदा तिष्ठामिस्म ।  
 एकदाऽहं तु प्रतिष्ठानपुराद्वहिलेन मंडयामिस्म । तच्छ्रममस्पृष्ट्वा स्वस्थानमागमं, सुतः सन् गृहे लग्नमस्पृष्टं स्मरामि  
 स्म । ततो लग्नं मार्ष्टुं तत्रोपरि चालितः । यावत्तत्र यामि तावच्छ्रमस्थाने पञ्चास्यमपश्यं, तथापि निर्भयीभूय लग्न-  
 भक्त्या सिंहस्याधो हस्तं क्षिप्त्वा, यावच्छ्रममपसारयामि तावत्सूर्यः प्रत्यक्षीभूयावगु-वत्स ! तव दृढया लग्न-  
 ब्रह्मभक्त्या नाढं तुष्टोऽस्मि, वरं वृणीष्व । तदा मयोक्तं—यदि त्वं प्रसन्नोऽसि तदा मां त्वं स्वविमाने नय सर्वं  
 ज्योतिश्चक्रं दशर्य । ततोऽहं रविणा स्वविमाने स्थापितः सर्वं ज्योतिश्चक्रं दर्शितं सूर्येण चारमानादि प्रोक्तं, ततः  
 कृतकृत्योऽहं सूर्यमापृच्छय विश्वोपकाराय भूमौ समागाम् । ततो लोकोपकारायाहं अभ्रमस्मि । मम वराहमिहिर  
 इति नाम दत्तं रविणा, लोके परां पूजां प्रापमहम् । ततः प्रतिष्ठानपुरे जितशत्रुभूमेन स्वपुरोहितः कृतः यतः—

गौरवा ० ॥ १ ॥ श्वेताम्बराञ्चिन्दति वराहमिहिरः सदा । एते श्वेताम्बराः काका इव कुत्सितं शब्दं कुर्वन्ति  
व्याख्यानछलात् । तच्छृण्वतां श्रावकाणां शिरःशूलमुत्पेदे । धिगस्माकं जीवितं, येनास्मासु सत्सु एवं गुरूणामवही-  
लनामेते कुर्वते, अहो महत्कष्टं अयं वराहमिहिरः कलावान् नृपमान्योऽस्ति गुरुञ्चिन्दति किं क्रियते ।  
भवतु तथापि गुरुन् विज्ञपयामः । ततः आकारिताः श्रीभद्रगुरवः । कारितस्तेषां प्रवेशमहोत्सवः, स्थापिता गुरव  
उपाश्रये । व्याख्याने अनेके महेभ्या राजपुत्राश्चायान्ति । भद्रबाहुमागतं श्रुत्वा वराहो बाढं जगौ, तथापि तेभ्यो  
नापकर्तुमशक्यसौ, अत्रान्तरे भूपगृहे पुत्रो जातः । राजा वराहपार्श्वज्जन्मपत्रिकां कारितवान् । शतवर्षायुरसौ  
बाला भविष्यति तेनोक्तमिति । दानानि दीयन्ते । लोका वर्धापनिकापूत्रं तत्रायान्ति राजगृहे । वराहमिहिरोऽतीव  
मानितो भूरिधनदानात् । गुरूणामवहीलनार्थं राज्ञोऽग्रे वराहेणोक्तं,—सर्वे जना अत्र युष्मद्गृहे समायाताः । एक  
आचार्यो भद्रबाहुरागतोऽस्ति सोऽत्र नायातः, तस्य देशत्यागरूपो दण्ड एव दीयते । ततो राज्ञा मन्त्रिपार्श्वज्ज्ञापितं—  
त्वमत्र कथं नागाः । भद्रबाहुना ज्ञापितं—द्वितीयवारं क आगमिष्यति । राज्ञा ज्ञापितं—भो भद्रबाहो ! एवं त्वया  
कथमुच्यते । गुरुणोक्तं ज्ञापितं यदि सत्यमग्रे प्रोच्यते । तदा राज्ञोऽसमाधिरभूत् । राज्ञा ज्ञापितं तव न भयं

यज्ज्ञातं तत्त्वया वाच्यम् । ततो गुरुणा ज्ञापितं सप्तमदिने निशीथे बिलाडिकामुखान्मरणं पुत्रस्यास्य भावि,  
तस्मिन् मृते शोकत्रिसर्जनयागमिष्यते मया । [ राज्ञा ज्ञापितं कथमेतद्भवद्भिर्ज्ञातम् । ] ततो राज्ञा सर्वत्र ग्राममध्याव  
बिलाडिकाः पुराद्वहिः कर्षिताः । सप्तमे दिने निशीथे घात्री स्तन्यं पाययितुं द्वाश्शाखात्रे उपविष्टा । इतोऽकस्माद-  
र्भला बालस्य मस्तकोपरि पतिता मृतश्च सः । ततो लोकैरुक्तं—वराहोऽयमज्ञानीं गुरवो ज्ञानिन एव । राज्ञा धिक्कारः  
कृतो वराहस्य । ततः श्राद्धशतयुता गुरवः शोकापनोदाय राजपार्श्वे गताः । शोकापनोदसूक्तानि कथितानि ।  
ततो राज्ञोक्तं—भवता बालस्य सप्तदिनायुः कथं ज्ञातं ? बिलाडिकाया मुखान्मरणं नाभूत् किं कारणं  
तत्र ? । गुरुणोक्तं अर्गलामुखे बिलाडिकारूपमस्ति । अस्माभिर्यदा पुत्रो भवतो जातः सा एव वेला  
सुदमचुक्ष्या गृहीता, तेन ज्ञातमायुः । ततो वराहः खिन्नो यावत्पुस्तकानि जले क्षेपुं लभः, तावद्धारितो  
भद्रवाहुना । शास्त्रेषु सर्वज्ञप्रणीतेषु सम्यग् प्रोक्तमस्ति, परं ज्ञातृत्वं दुर्लभं विद्यते । यतः “अमंत्र-  
मक्षरं नास्ति, नास्ति मलमनौघधम् । अनाथा पृथिवी नास्ति, आग्नायाः खलु दुर्लभाः ॥ १ ॥” अत्र  
ज्ञापुर्वे कारणं अस्य वराहस्य त्रिद्यागर्धो विद्यते, यतो गर्व एवाज्ञानं नान्यत् । यतः—“प्रभुप्रसादस्त्वारुण्यं,

विभवोरूपमन्वयः । शौर्यं पाण्डित्यमित्येतद्दमयं मद्यकारणम् ॥ १ ॥ ” अत्रान्तरे केनचिच्छूङ्खेनोक्तं वराहाग्रे ।  
युष्मादृशाः कृपणकाः कृमयोऽपि यस्यां, भान्ति स्म संतमसमप्यगमन्निशाऽसौ । सूर्याशुदीप्रदशदिग् दिवसोऽधुनाऽयं,  
भात्यत्र नेन्दुरपि कीटसमः किमु त्वम् ॥ १ ॥ इति वदन्नेव नष्टः स श्राद्धः । ततो बाढं रुष्टस्त्वस्मिन् वराहो  
निन्दितो लोकैर्दुनोऽभूत् । एते गुरवो ज्ञानिन एव । एकदा राज्ञा पृष्टौ वराहमिहश्श्रीभद्रबाहुगुरू । अत्राद्य किं  
भविष्यति । वराहेणोक्तं अद्य पाश्चात्यप्रहरे अमुकस्थाने अकस्मात् जलदे वर्षति मण्डलमध्ये द्विपञ्चाशत्पलमितो  
मत्स्यः पतिष्यति । गुरुणोक्तं एकपञ्चाशत् सार्द्धपलमितो मण्डलात्तस्माद्बहिः पूर्वादिशि च । ततः सन्ध्यायाम-  
कस्मात् मेघे वर्षति गुरुक्तप्रमाणो मत्स्यो गुरुक्तस्थाने पतितः । ततो गुरवो मानिता वराहोऽपमानितः । ततो  
जिनधर्मं प्रपेदे राजा । वराहोऽपमानं गमितो भागवतीं दीक्षां लात्वा अज्ञानकष्टानि कुर्वाणो गुरुषु द्वेषं वहन्  
मृतः । जैनधर्मद्वेषी व्यन्तरोऽभूत् । साधुषु न प्रबभूव द्वेषवानपि । तपो हि वज्रपञ्जरप्रायं मुनीनां, अतः श्राद्धान-  
नुपद्रोतुं लभ्यो व्यन्तरः गृहे गृहे रोगानुत्पादयामास । श्रावकैः स्वदुःखं रोगोत्पत्तिहेतुं गुरुणामग्रे विज्ञप्तं-  
भगवन् ! त्वयि जगत्पूज्ये सति कथं सङ्घपीडा विद्यते । गुरुभिरभाणि मा भैष्ट सोऽपि वराहो मृत्वा व्यन्तरी-

भूय पूर्वैवेगव श्रीसङ्गं पीडयति स्म । [ततो गुरुभिरुक्तं—] ना दुःखं यूयं कुरुध्वं, सर्वं वर्यं भविष्यति । ततः श्रीभद्र-  
 चाहुर्गुरुभिरुपसर्गहरं स्तोत्रं पङ्गाथाभयं कृत्वा श्राद्धेभ्यो दत्तं पठनाय प्रोक्तं च तच्चैदं “उवसगगंहरपासं, पासं वंदामि  
 कम्मवणमुक्कं । त्रिसहरत्रिसनिनासं, मंगलकल्लाणआवासं ॥ १ ॥ त्रिसहरफुल्लिगमंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।  
 नस्सगहुरोगमारी, दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥ २ ॥ चिट्ठउ दूरे मंतो, तुङ्ग पणामोवि बहुफलो होइ । नरतिरिएसुवि जीवा,  
 पावंति न दुक्खवदोगच्चं ॥ ३ ॥ तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपायववभाहिण । पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरासरं  
 ठापं ॥ ४ ॥ इय संयुओ महायस भत्तिभरनिव्वरेण हियण ता देव दिज्जवोहिं भवे भवे पासजिणचंद ॥ ५ ॥” तमुपसर्गहरं  
 स्तोत्रं पठतां श्राद्धानां म. व्यन्तरो मनागपि प्रभवितुं न समर्थः । ततो रोगोपशान्तिर्जाता च । यत्र तत्रापि कार्ये स्तोत्रे  
 स्मर्यमाणे नरणेन्द्रेणागत्य गुरुपार्श्वतः प्रान्तगाथाऽपसारिता । तत् स्तोत्रमद्यापि स्मृतं विद्वानि उपशामयति । स  
 श्रीभद्रचाहुर्गुरुश्रुतुर्दशपुत्रधरः बहुकालं भव्यजीवान् प्रतिबोध्य स्वर्गं गतः । ततश्च्युतोऽवश्यं मुक्तिं यास्यत्येव ।

। इति श्रीभद्रचाहुकथा समाप्ता ॥ २५ ॥



अभिमानं विमुञ्चन्ति, ये जना कृद्धिसंभवम् । त एव वृण्वते मुक्तिं, दशार्णभद्रभूपवत् ॥ १ ॥  
तथाहि—अत्रैव भारते दशार्णपुरपत्तने दशार्णभद्रभूपो मुत्रं शशास । “पार्थिवानामलङ्कारः, प्रजानामेव-  
पालनम् । किरीटकटकोणीर्बैर्भूष्यन्ते केवलं नटाः ॥ १ ॥ भूपस्त्रिकालं जिनपूजां चकार । यतः—“जिनस्य पूजनं  
हन्ति, प्रातः पापं निशाभवम् । आजन्म त्रिहितं मध्ये, ससजन्मकृतं निशि ॥ १ ॥” अन्यदा दशार्णपुरोपान्तस्थदशा-  
र्णगिरौ श्रीवीरः सार्वः समवससार । देवैः स्वर्णरत्नरजतवप्रमयं योजनमितं कपिशिर्षिभ्रणरोचिष्णु चतुःप्रतोलीचारु  
समवसरणं कृतं । तत्रोपविष्टः प्रमुश्चतुर्मुखश्चतुर्लिंगदतिशयशाली चतुष्पष्ठीन्द्रादिद्वादशपर्वदामग्रे धर्मोपदेशं दत्ते ।  
तदोद्यानपालो भूपग्रे श्रीवीरागमं ज्ञापयामास । राजा पारितोषिकं ददौ । तत उत्थाय सप्ताष्टपदानि संमुखं गत्वा  
प्रभुं स्तौति । यथा—जगद्धितीर्णकल्याण ! कल्याणकमलालय ! । जय त्वं जिन सर्वज्ञ ! सर्वज्ञततिसंयुत ! ॥ १ ॥  
कलाकलामलज्ञानो—दय ! दयोदधे ! प्रभो ! । तार ! तारय मां धूत-मान मानभवाम्बुधे ! ॥ २ ॥  
स्मारं स्मारं गुणग्रामं, कारं कारं तव स्तुतिम् । दर्शं दर्शं मुखं तेऽद्या--भूवं भूवंध ! निस्तमाः ॥ ३ ॥  
स्तुत्वेति दध्यौ नृपः—प्रातर्विस्तरादहं प्रभुं वन्दिष्ये । यथा पुरा केनापि न वन्दितः भूपो लोकानां वीरागमनज्ञा-

पनाथ पुरे पटहं दापयामास । पुरं पताकतोरणवन्दनमालादिरम्यं दन्ददह्यमानागुरुकर्पूरव्यासनभोमण्डलं  
 चाकाशयत् । प्रातः सर्वशृङ्गारसारः सिन्धुरारूढो राजा सज्जीविभूव । तत्राष्टादशसहस्रं गजाः, चतुरशीतिलक्षाणि  
 वाजिनः, २१ सहस्रं रथाः, ११ कोटि पत्तयः, १६ सहस्र ध्वजाः, मेघाडम्बरछत्राणि पञ्चशतानि, ६९०००  
 स्त्रीकर्कशः, ५०० रात्रयः सुखासनारूढाश्चेलुः । सामन्तसचिवादयोऽपि सशृङ्गाराश्च । स्थाने गीतनृत्यादीनि  
 कथन्ते । लोका अपि भ्रमरवर्द्धिमानशृङ्गाराश्चेलुः, राजापीठगु परिवारशाली याचकैर्भयो रूप्यस्वर्णदुकुलादि दानं  
 ददन्तः पुण्यप्रकरशोभिगजपथे गर्वाज्जगदपि तृणं मन्यमानः छत्रशाली प्रभुं नन्तुं चचाल । दशार्णोद्विसमीपे  
 ययौ । ततो यानानि संस्थाप्य तत्र पञ्चाभिगमपूर्वं प्रभुं प्रदक्षिणीकृत्य यथोचितस्थानमुपाविशत् राजा । तदा हृष्टो  
 राजा दध्यौ—यथा सर्वेन्द्र्यो प्रभुर्मया नेमे, तथा न केनापीन्द्रादिना चक्रिणा वा वन्दिता भावी । तदा दशार्णभद्रस्य  
 गर्वं गौर्धर्मन्द्रोऽवधेर्ज्ञात्वा दध्यौ अहो उत्तमोऽयं भूप एवं गर्वं धत्ते न तद्वरं, यतो लोके गर्वः श्रेष्ठो न । यतः—  
 “ उत्तर्पयन् योपयासा, गुणमूलान्यथो नयन् । उन्मूलनीयो मानदु—स्तन्मादवमुहर्प्लवैः ॥ १ ॥ औचित्याचरणं  
 चितुस्पति पयोवाहं नभस्वानिव, प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशं जीवितम् । कीर्तिकैरविणी मतङ्गज इव—

प्रोन्मूल्यत्यंजसा, मानो नीच इवोपकारनिबद्धं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ॥ २ ॥ अस्याहो भक्तिरागोऽयं, विश्वपूज्यस्य पूजने । परमेतेन मानेन, दुष्यतेऽमुष्य हीयते ॥ ३ ॥ निखिलैर्निर्जरेरेव, शक्नैः सर्वैर्द्धिभिर्जिनाः । युगपद्यदि पूज्यन्ते, तथापि स्युर्न पूजिताः ॥ ४ ॥ जिनानामनन्तगुणानां सर्वतः पूजा न केनापि कर्तुं शक्यते । ततः शक्नेण भूषणर्वोत्ताराय व्योम्नि दिव्यशक्त्या ६४ सहस्रं गजा विचक्रिरे । तत्रैकैकहरितनः ५१२ मुखानि । मुखे मुखेऽष्टौ दन्ताः । दन्ते दन्तेऽष्टौ वाप्यः । वाप्यां वाप्यामष्टकमलानि । कमले कमले एकैकैव कर्णिका । कर्णिकायाभिन्द्रोपवेशाय सिंहासनं, तत्रेन्द्रोऽग्रमहिषीयुत उपविशति । कमले कमले लक्षपत्राणि । पत्रे पत्रे द्वात्रिंशद्वेदेवीरचितानि ३२ बद्धनाटकानीन्द्रैः सर्वैः कार्यन्ते । प्रथममेकगजे दन्तसङ्ख्या ४०९६, एकगजे वाप्यः ३२७६८, एकगजे पद्मानि २६२१४४, कर्णिकाशक्रोपविशनप्रासादयोः सङ्ख्या २६२१४४, एकगजे पद्मदलानि २६२१-४४००००, एकगजे द्वात्रिंशद्बद्धनाटकसङ्ख्या ८३८८६०८०००० । अतः परं सर्वगजसङ्ख्या ६४००० एकगजमुखानि ५१२ । ३ कोटि २७ लक्ष ६८ सहस्रं मुखसर्वसङ्ख्या । गजस्य एकमुखे ८ दन्ताः । २६ कोटि २९ लक्ष ४४ सहस्रं सर्वगजदन्तसङ्ख्या, दन्ते दन्ते वाप्यः ८ । २०९ कोटि ७१ लक्ष ५२ सहस्रं सर्वगजवापीसङ्ख्या ।

वाण्यां ८ कमलानि १६७७ कोटि ७२ लक्ष १६ सहस्रं सर्वगजकमलसङ्ख्या । कमले कमले लक्ष-  
 लक्षपत्राणि १६ शतलक्षकोटी ७७ लक्षकोटि ७२ सहस्रकोटिः १६० कोटयः सर्वगजपत्रसङ्ख्या । पत्रे पत्रे त्री-  
 नवह्रनाटकं ५३६८ कोटाकोटि ७० लक्षकोटि ९ सहस्रकोटि १२० कोटयः, एवं सर्वमीलने सर्वगजनाटकसङ्ख्या॥  
 १६ शतलक्षकोटि ७७ लक्षकोटि ७२ सहस्रकोटि १६० कोटयः कर्णिका । १६७७ लक्षकोटि ७२ सहस्रकोटी १६० कोटय  
 त्रिनप्रामादाः । १६७७ कोटि ७२ लक्ष १६ सहस्रं इन्द्रस्य पार्श्वे ८ अग्रमहिष्यः, १३ सहस्रकोटि ४२१  
 कोटि ७७ लक्ष २८ सहस्रं इन्द्राणीसर्वसङ्ख्या । सर्वगजरूपानां सङ्ख्या ५३६८७०९१२००००००० । तदे-  
 तावद्रूपवान् सौधर्मशक्रो देवदुन्दुभिनादरस्यश्रीवीरगुणग्रामगर्भनाट्यानि विलोकयन्नभस उत्तरीयं प्रदक्षिणीकृत्य  
 प्रभुं ववन्दे भूपः । तां सौधर्मेन्द्राङ्घ्रिं पश्यंश्चित्रलिखित इवासीत्, ततो यदा शक्रो गजादुत्तरीतुमेच्छत् तदा  
 गजोऽग्निमौ पादौ स्वप्रभुं मुखेनोत्तारयितुं पर्वतस्योपरि निम्नीचकार । तदा गजस्याग्निमौ पादौ आर्द्रपङ्क्तौ इव  
 भुवि निमग्नौ । तदेन्द्रो गजादुत्तीर्य प्रभुं ननाम । यत्र गजः पादौ निम्नीचक्रे, तस्य स्थानस्य गजाग्रपदकमिति  
 नीर्ः लोकप्रसिद्धमजनि । नृपस्तादृग्विभासुरं शक्रं त्रीक्ष्य दधौ । अहोरूपमहोक्ताङ्घ्रि-रहो ह्येणं च शक्रस्य ।

अहो भक्तिरहो शक्ति-रस्यान्यत्सर्वमप्यहो ॥ १ ॥ मद्विभूतिः शक्रविभूत्यग्रेऽणूयते, अतो मुधैव गर्वः कृतः, जिनः सर्वप्रकारैर्न केनापि पूजितः स्यात् । शक्रस्यार्हति सर्वोत्कृष्टा भक्तिः, अतोऽलं राज्यश्रियाऽनया । यद्यहमधुना दीक्षां न भजे तदा मया सर्वथा हरितमेव । यद्यत्र व्रतं गृह्णामि तदेन्द्रो जित एव । एवं ध्यात्वा भूपस्तत्रैव धीमान् पञ्चभिर्मुष्टिभिर्लोचमकृत स्वयम् । तादृशगजाश्वयुवत्यादिराज्यं-मुक्त्वा प्रमुपाश्वे संयमं ललौ । ततो मुनिं जातं वीक्ष्य शक्रो भक्त्या नमश्चक्रे प्राह च । दशार्णभद्र ! सत्साधो ! संयमश्रीविराजित ! । धन्यस्त्वं येन दुष्पुत्रा, प्रतिज्ञा पूरिता निजा ॥ १ ॥ पुनः पुनः प्रणूयेति, यतिं नत्वा जिनाधिपम् । संप्राप वासवः स्वर्गो, श्रद्धापू-  
रितमानसः ॥ २ ॥ क्रमात्कर्मक्षयं कृत्वा दशार्णभद्रो मुक्तिं ययौ ॥ इति दशार्णभद्रराजर्षिकथा समाप्ता ॥ २६ ॥

शुभभ्यानं वितन्वानः, क्षीणकर्मा जनः क्षणात् । लभते केवलज्ञानं, प्रसन्नचन्द्रसाधुवत् ॥ १ ॥  
पोतनपुरे सोमचन्द्रराजा । तस्य धारिणीप्रिया प्रसन्नचन्द्रपुत्रश्च । एकदा राज्ञी राज्ञः शिरसि वेणीवालान्  
विवृण्वती पलितं दृष्ट्वा राज्ञो हस्तेऽमुचत् जगौ च पलितानि जातानि जरां ज्ञापयन्ति । राजा जगौ-हा मे पूर्वजा

वृद्धतेऽनागतेऽपि मुतं राज्ये न्यस्य व्रतं जगृहुः । मम तु वार्द्धक्ये समागतेऽपि न वैराग्यं जातमहमधम एव ।  
 यतः—“ नागमानां जरा स्यान्ते, मध्यानामेति मूर्द्धतः । स्वान्तामूर्द्धनि धन्याना—मरोहति सतां पुनः ॥ १ ॥  
 लज्जयाऽहं तथा हन्त, विषीदे वार्द्धकं कियत् । अखंडकुलधर्माणां, मृत्युः सोऽपि महोत्सवः ॥ २ ॥ मनसि  
 जगन्माऽभिभूता, जायन्ते यौवनेऽपि विद्वांसः । मन्दधियः पुनरितरे, भवन्ति वृद्धत्वयोगेऽपि ॥ ३ ॥ ” इत्या-  
 नुवृत्ता शीर्णतृणमिव गज्यं त्यक्त्वा प्रसन्नचन्द्रं बालमपि तदा राजा स्वराज्येऽभ्यपिञ्चत् । वनाय  
 मोगचन्द्रो यावन्नचाल । तावद्धारिण्यपि पत्नी वारिताऽपि तेन राज्ञा समं धात्र्या सार्द्धमचलत् । सोमचन्द्रो वने गत्वा  
 नापगव्रतं जग्राह । तस्यैवंविधा व्रतश्रीरासीत् । गतः—“उटजः सौधमिन्द्रया—रतैलैर्मणिक्वयदीपकाः । श्रद्धैवान्तः-  
 पुरं श्रेष्ठं, प्रीतिः पक्षिमुगाश्रया ॥ १ ॥ सर्वोत्तमजयो शोभ्या, चमूः शमदमादयः । फुलदाः फलदाः सुदा, निग्राह्या-  
 शान्तगरगः ॥ २ ॥ क्षणः परस्य पुंगो वा, ध्यानं पाङ्गुण्यचिन्तनम् । सोमचन्द्रस्य राजर्षेः, प्रव्रज्या राज्य-  
 वद्धभो ॥ ३ ॥ ” धारिण्या तापसव्रतग्रहणात् प्राक् संपन्नगर्भया पुत्रो जनितः । प्रसन्नगेण धारिणी दिवं ययौ ।  
 राजकलैः प्रावृतं बालं प्रति प्राह तापसः । वत्स ! तव शैशवेऽपि तव वल्कलचीरिताऽस्ति, तेन वल्कलचीरीति तव

नाम भवतु । राज्ञी दिवं गताप्यवधिज्ञानेन स्वं पुत्रं बालं मत्वा महिषीरूपं कृत्वा तत्रागत्य स्तन्यमपाययत् मोहेन । यतः—“रागी बध्नाति कर्माणि, वीतरागो विमुच्यते । जना ! जिनोपदेशोऽयं, संक्षेपाद्वन्धमोक्षयोः ॥ १ ॥” धाड्यपि तं बालकं पालयामास । धारिण्यपि स्तन्यपानं कारयामास । स मुनिः तं सुतं स्वाङ्गे धत्तेरम सदा । धान्यैरन्धैर्वन्धैः पोष्यमाणः शैशवोत्तरं भेजे । कुमारो लोकव्यवहारं कमपि मनागू न वेत्ति । अन्येद्युः स्वं सोदरं वल्कलचीरिणं पितुरन्तिकस्थं श्रुत्वा कस्यचिन्मुखात् सहोदरेण तेन विना स्वं शून्यममस्त प्रसन्नचन्द्रभूः । ततः केनापि मनुष्ये-  
णाकारितो वनात्तस्मात् पितुः समीपं न मुमोच कुमारः । ततः प्रसन्नचन्द्रो दध्यौ -उपायं विना मम पार्श्वं नैष्यतीति मत्वा तां कूटरचनां वेश्यां मुक्त्वा-नान्यो वेत्ति । यतः—“मायोपनिषदां शास्त्रं, क्षेत्रं निकृतिवीरुधाम् । वशीकरणमस्त्येव, वैश्वेन मृगधदेहिनाम् ॥ १ ॥” इत्यादि । ततो राजा पण्यस्त्रीपेटकं कपटकूटकुशलमाकार्योऽवगू—मञ्जता सर्वलोक-  
व्यवहारबाह्यो वने विद्यते । स कथमपि नायाति अत्र, तथा कर्तव्यं, यथाऽत्रायाति । ताभिरुक्तमस्मदीया बुद्धिर्विलोक्यताम् । तथा करिष्यतेऽस्माभिर्यथा सुखेनात्र वल्कलचीरी भवन्नाता समेष्यति । ततस्ताः हृष्टाः सिंहकेसरमोदकादिवर्यखाद्युता ऋषिवेषधराः सिंहपोतवने ययुः । तं जन्मजटिलं क्षत्रियब्रह्मचारिण-

गायानं विन्यामलहदिफलभारिणं वीक्ष्य वेद्याः सन्मुखाः समागताः । ता वेद्या दृष्ट्वा तापसा असी कुतोऽ-  
 प्यागता इति ध्यायन् नन्दलक्ष्मीरी ताताभिवादये इति प्राह—केयूयं ? काश्रमो वः ? क यास्यथ ? । ताभिरुक्तं—वयं  
 मुनयो पीतरगाः पंगुमर्थानुरक्ताः पोतनाश्रमतस्त्वा वीक्षितुमत्रागताः तव भक्तिं कर्तुं च । यतः—“ सपर्ययाऽतिथीनां  
 हि, तपोवृद्धिस्तपस्विनाम् । विहिता जायते स्वर्गा—पवर्गसुखदायिनी ॥ १ ॥ ” मुनिः प्राह—वनादेतानि फलानि  
 गणाऽऽनीतानि नूनं गुह्यीधनं बहूनि पुनरानेष्याम्यहं तानि कृतार्थोहमय भवामि युष्मद्भनविभाणनात् । ता  
 वेद्याः प्रोचुः—तदानीतेषु ईदृशेषु फलेषु विरसेषु अस्माकमिच्छा न स्यात् । पोतनाश्रमजानां फलानां विग्रहे  
 तदत्रा भवति नः । तेनोक्तं—पोतनाश्रमजानि फलानि कीदृशानि भवन्ति । ताभिः सितोपलानिष्वज्जमेदकादि-  
 पायानि वर्धोणि दर्शिनानि । तानि स्वाद्यान्यासाय बल्कलक्ष्मीरी त्रिल्लादिकलेषूद्धिमोऽभूत् । ततस्तासामङ्गरपर्श-  
 पायाय तन्दलक्ष्मीरी जगौ—अहो भवतामङ्गे ईदृशं मार्दवं सुखदं कुतोऽजनि । युष्माकं हृदये च इदं वेदिकारम-  
 ग्निं दृनोऽभूत् । ता मुनिं प्रोचुः—ये पोतनाश्रमे वने ईदृशानि फलान्यासादयन्ति, तेषां कीदृशं सुकुमालं सुखदं वेदि-  
 काद्वयं जायते । तनस्तेन नस्मिन् (तयोः) वेदिकाद्वयस्य फलवर्धोर्गोत्रवृद्धस्तो दत्तस्तानत्तरयात्यन्तमुल्लभभूत् । प्रोक्तं च तेन—



मम कथमीदृशानि फलानि च ईदृग्वेदिकाफलस्पर्शो भविष्यति । ततस्ताभिरुक्तं—अमु वनं त्यक्त्वा पोतनाश्रमे अस्म-  
न्मैत्रीं कुरु यदि तदा सर्वं समीहितं भविष्यति एव । ततस्तासामङ्गस्पर्शं सितोपलाद्राक्षादिमाधुर्याधिकं ज्ञात्वा तस्य  
वनफलास्वादसुखं विस्मृतम् । ततस्तेनोक्तं—तिष्ठत यूयमत्र क्षणं, अहं यावत्तापसोपकरणानि संगोप्य छन्नं तत्रायामि ।  
ततो यावत्तापसोपकरणादि संगोप्य यावद्देव्यापार्श्वे वल्कलचीरी समायाति । इतः सोमचन्द्रं राजर्षिमागच्छन्तं दृष्ट्वा  
ज्ञापात्र भीता दिशोदिशं नष्टाः । ततो वल्कलचीरी तरपृष्ठौ एक एव ता द्रष्टुं चचाल । मृगशाव इव इतस्ततो वने  
अमन् रथिकं पथिकं व्रजन्तं वर्त्मनि वीक्ष्याभिवादयामीति मुनिर्जगौ । रथ्याह क्व गन्ताऽसि ? मुनिराचष्ट—ताताहं  
पोतनतपोवने । रथी प्राह—अहमपि तत्र यास्यामि । ततस्तमेवानुव्रजन् तत्प्रियां वीक्ष्य ताताभिवादयामीति जगौ ।  
ततस्तौ दम्पती दध्यतुः । अयं तापसाश्रमोत्पन्नः, स्त्रीपुंसयोरपि भेदं न वेत्ति । ततो वल्कलचीरी मार्गे गच्छन्  
रथ्यान् वृषान् प्रतोद्यमानान् वीक्ष्य मुनिर्जगौ । एते मृगाः किं वृथा दूयन्ते घातैः । ततो रथ्याह एतैर्वृषैरीदृशं कर्म  
कृतमस्ति, तेन कर्मविपाकेनेदृशी वेदना जायमानास्त्यधुना । रथी तस्यार्जवेन वशीकृतो मोदकान् तस्मै मुनये ददौ ।  
तानपि आस्वाद्य मुनिर्दध्यौ—हुं ज्ञातं तानि फलान्येव सांप्रतं मद्भाग्येन संमुखान्यायातानि । रथी मार्गे एकं तस्करं

अित्ता तस्य त्रितं लात्वा क्रमात्पोतनाश्रममगात् । मुनिनोक्तं--कारि पोतनाश्रमः ? । रथी जगौ--अयं पोतनाश्रमः  
 अयं गुप्तं तिष्ठ । ततो रथी स्वगृहं प्रत्यचलत् । ततः प्रत्यहं प्रतिगृहं गच्छन् मुनिः स्त्रीपुंसयोर्दर्शनेनाभिवादया-  
 गीति जल्पन् वेश्यापाटके गतः । तत्र कामपि वेश्यां वीक्ष्य ताताभिवादयामीति जगौ । ततो वेश्याया मुग्धस्वभा-  
 नोऽयं मुनिर्महत्पुण्यमिदं, अयं मुनिर्यदि मदीयाङ्गस्पर्शं करोति, तदाऽहं कृतार्थो भविष्यामीति ध्यात्वा गृहमध्ये नीत्वा  
 शृङ्गस्पर्शोदिसनानं चक्रे । वेश्या तु बहुपुण्यलाभोत्पादमात्मनि मानयन्ती तत्कृतनखक्षतादि सहते । ततो वेश्याया  
 गृहमालशरीरोऽयं मुनिरिति कुत्वाऽऽत्मपुञ्या समं पाणिपीडनं कारितम् । मुनिर्दधौ । ईदृशमातिश्रयं कुत्रापि न  
 दृष्टम् । तदा तस्या गृहे निवाहृतूयाणि नाचन्ते, चल्कलचीरी तु तस्याः कस्पर्शं परमसुखमयं मेने । इतः पूर्व-  
 नियुक्ताः पण्यस्त्रियोऽभ्येत्य तस्मिन्नेवाहनि प्रसन्नचन्द्रभूपात्रे प्रोचुः--स कुमारोऽस्माभिलोभयित्वा दूस्तो नीतो  
 यागज्ञानस्तोमचन्द्रर्षिरागात् । ततो वयं शाणभयाक्षयः । सोऽपि चल्कलचीर्यपि नष्टः । ततोऽस्माभिः स न  
 प्राप्तः । किं करिष्यतेऽयत इति ज्ञायते पोतनाश्रमफलानि दर्शितानि सन्ति तेनाज्ञागमिष्यते च । राजा  
 निभो वृधो--मया नर्यं न कृतं तस्य तात्तरय विगोगोऽभवत्, ममापि न मीलितः, किं क्रियते हस्तो वग्धः पृथुकोऽपि

न प्राप्तः । ततो राजा शोकतुरोऽखिलं राजकार्यं विसृज्य सशल्यस्तस्थौ । इतः कश्चिद्वेश्यागृहे नवीनं विवाहं जायमानं श्रुत्वा राज्ञोऽग्रे प्राह । राजाऽपि ता एव पूर्वप्रेषिता वेश्याः प्रेष्य स्वभ्रातुरेव विवाहं जायमानं जज्ञौ । ततो राज्ञा वेश्या तत्राकारिता प्रोक्तं च रे मद्भ्रातुः कथं त्वया स्वपुत्री दत्ता । वेश्या जगौ—सदनं स्वयमासाय, कुमारमुनये मया । सुताऽद्य दयितामदायि, देव ! दैवज्ञवार्तया ॥ १ ॥ तदर्थं मत्कृतः सर्वोऽपराधो नरेश्वर ! क्षम्यतां क्रियेतां मय्युपरि प्रसन्नविलोचने । ततो राजा तत्र स्वं सहोदरं प्रियासखं दृष्ट्वा मन्त्रीश्वरान् प्रति जगौ किं करिष्यते तेन भ्रात्रा नीचकुलजा कन्याङ्गीकृता । मन्त्रिणो जगदुः—न दोषोऽत्र नीचकुलादपि भूपाः कन्या वृण्वते । यतः—“विषादप्यमृतं ग्राह्य—ममेध्यादपि काञ्चनम् । अधमादुत्तमां विद्यां, स्तीरतनं दुष्कुलादपि ॥१॥” ततः स्वपट्टहरितिसमारूढं स्वसहोदरं सप्रियं कृत्वा महता महेन भूरिदानं ददानो राजा स्वसौधमानिनाय । तत आवासः तस्य स्थित्यै अर्पितः, श्रीर्बल्ल्ही अर्पिता । सहोदरेण सममेव राजा भुङ्क्ते । यतः—“तत्र विज्ञजनादेषः, संप्रदाय-प्रदायकात् । राज्ञाऽमितैर्दिनैश्चक्रे, व्यवहारबृहस्पतिः ॥ १ ॥ लिपिसंख्यानयादक्षः, पदवाक्यप्रमोदितः । स कला-कुशलो जज्ञे, प्राज्ञो राज्ञोऽभियोगतः ॥ २ ॥ अन्यदा कस्मिन्नन्याये कृते बद्धं रथिनं कुमारो मोचयामास । भुवो-

अङ्गीदृशोर्गौरी, रगनात्रे सरस्वती । हृदयेऽथ दया तस्या-वसन् वल्कलचीरिणः ॥ १ ॥ अन्याभिर्बहुभिः कन्याभिः  
 नमं गङ्गा स कुमारः पाणिपीडनं कारितः, युवराजपदवीं ग्राहितश्च । ततः स्वस्थ भूपत्यावरजोऽत्यन्तप्रीतयेऽभूत् ।  
 तत्र भोमचन्द्रर्षिः कुमारमदृष्ट्वा निजमात्मानमश्रुप्रवाहैरसिञ्चत् । राज्ञा प्रसन्नचन्द्रेण वल्कलचीरिसम्बन्धज्ञापनात्  
 भोमचन्द्रराजर्षिर्निःशोकश्चेक्रे । ततः पारणकं चक्रे । प्रसन्नचन्द्रस्तेन आत्रा समं गोष्ठीं कुर्वन् गतमपि कालं न वेद ।  
 अत्र द्वादशवर्षान्ते भर्तुरेकदा अङ्गुलुत्तीर्थं पुत्रोऽगादङ्कं वल्कलचीरिणः । ततस्तं ललन्तं बालकं दृष्ट्वा वल्कलचीरी  
 स्वस्थेन देशज्ञं सरमार-अहमथमोऽस्मि, यतो जाते मयि माता प्रथमं मृता, वार्षिकत्वे मया यौवनं प्राप्तेन पिताऽपि  
 त्यक्तः । ततः पितुः पालनर्णित्कथं मोक्ष्येऽहं धिग् मम कुत्रिमस्नेहत्वं अहं निष्ठुरो मया प्राप्तसौख्येन कदाऽपि  
 पितुः सागं न कृता । ततोऽहमथमोऽस्मि । यतः-“ इक्षुक्षेत्रं वंशजाली, कदलीविषपादपाः । फले जाते विनश्यन्ति,  
 तदुत्रेण कुलं गथा ॥ १ ॥ आस्तन्यपानाज्जननी पशूनां, आदारलम्भावाधि चाधमानाम् । आगेहकर्मवाधि मध्य-  
 माना-माजीवितात्तीर्भिवोत्तमानाम् ॥ २ ॥ ” एवं ध्यात्वा चिरं वल्कलचीरी पितृमिलनोत्सुकः प्रसन्नचन्द्रपार्श्वे  
 जगौ-शातरक्षमेकदाऽपि पितुः पादनत्यर्थं न गतः, अतः परं मया तातपादनर्तिं विना भोजनं न कर्तव्यं तेन ममा-

देशं देहि तत्र गमनाय । ततो नृपो वल्कलचीरियुतो मुनेः पावनं स० वनं ययौ । वनमध्ये गच्छन् वल्कलचीरी  
 आतुरग्रे इदं जगौ एते बिल्वेक्षुदीमुख्या बहवः पादपाः पुरा आरोपिताः फलान्येव ददते पश्चि गच्छतां, इत्यादि वार्ता  
 कुर्वाणः प्रसन्नचन्द्रराजा तातपादाम्बुजं नत्वा मुमुदेतराम् । सोमचन्द्रमुनिस्तं गौरवयामासाङ्गारोपणात् । तदा  
 सोमचन्द्रऋषेरानन्दश्रुवारिभिस्तौ पुत्रौ स्वकृतं पातकमलं प्रक्षालयामासतुः । ततो वल्कलचीरी गोपितानि  
 तापसोपकरणभाण्डादीनि प्रत्युपेक्षितुमभ्यागात् पर्णशालोटजान्तः । तापसभाण्डं तत्पूर्वमुक्तं रजोऽवगुण्ठितं स्वोत्त-  
 रीयाञ्चलेन प्रत्युपेक्षितवान् वल्कलचीरी यत्नपूर्वम्, तत एवं दध्यौ--मया प्रागपि एवंविधानि यतिपात्राणि कर्हिचित्  
 प्रत्युपेक्षितानि । इत्थूहापोहतः पूर्वभवसम्बन्धिभवं ददर्श जातिस्मरणतः--मया पूर्वं श्रीगुरुरपाश्र्वे चारित्रं जिनसम्बन्धि  
 गृहीतं शुद्धं पालितं. परमल्पायुष्कत्वाद्देवलोकेऽगमं, पुनस्ततश्च्युत्वा कर्मयोगाद्राजपुत्रो भूत्वा जिनधर्मं न  
 प्रापम् । इदं राज्यं गजकर्णचपलं जीवितव्यं च । अन्तराथैरियत्कालं वञ्चितोऽस्मि मुधाऽहं, आसन्नमपि  
 श्रामण्यं न मयाऽबोधि तदा । असारोऽयं भवोऽगाधो, नानादुःखप्रदायकः । गजाश्चक्षीरमामुख्यं, वस्तु सर्वं विनश्च  
 रम् ॥ १ ॥ इत्यादि अमारसंसारस्वरूपं द्वादशभावनात्मकं ध्यायन् क्षणादेव क्षीणाशेषकर्मा वल्कलचीरी कुमारः

केवलज्ञानमाप । नदा दैर्घ्येत्य वतिलिङ्गं ददे । देवत्रिहितकनकमले निविश्य सोमचन्द्रप्रसन्नचन्द्रयोरिति धर्मो-  
 पदेशं ददौ चन्द्रलचीरी । तथाहि—मोहभूतकुलाक्रान्ते, रागद्वेषविभीषिके । क्रोधाख्योच्चात्वेताल्ले, लोभविक्षो-  
 भ्यादरे ॥ १ ॥ प्रेतायतेन्द्रियग्रामे, कर्मायोद्धुषितानले । मिथ्यात्वाद्यमहागृध्रे, मायागोमायुयोषिति ॥ २ ॥ अभि-  
 मानगदाशृङ्गे, मनोभवपिशाचिनि । जरात्लग्मृत्युजात्यादि—शाकिनीकुलसंकुले ॥ ३ ॥ संसारनामानि महा-  
 श्मशानानि महाभवे । कथं नियानिनिश्चिन्ता, रमन्ते हन्तजन्तवः ॥ ४ ॥ अस्माददूरे सर्वज्ञ—शासनं ब्रह्मपत्तनम् ।  
 निर्भयं ततिनिर्माण—पुण्यानौपमं पुरम् ॥ ५ ॥ धर्मं जिनवरप्रेतं, कुर्वाणा मानवाः सदा । लभन्ते परमं सौख्यं,  
 सर्वहर्षभाषाया ॥ ६ ॥ श्रुत्वैति धर्मसंज्ञां, महोदययियासया । मुनिभूषणभूतां तौ, जैनशासनवासनौ ॥ ७ ॥  
 तदा श्रीगोत्रजिनः पौनपुन्यं उपासे नान्ना मनोगमे समवासाप्रीति । तदा स वत्कलचरी स्वयंयुद्धः केवली आवृष्टि-  
 मुनिः श्रीगौरं नन्तु ययौ । नतो जिनोऽयम्—भो केवल्यसि । त्वया मम शेषसाधूनामपि न प्रणामः कार्यः ।  
 नतः त्वया केवल्यभंगमदि गतः । गोगचन्द्रणिः परमेश्वरेण स्थविरपार्श्वे क्रियां शिक्षितुं मुक्तः । तदा जिनेन धर्मदेशने-  
 ति वृत्ता । आनुराग्युत्तलं मुग्धधनुर्लोलं बलं गौननं, विद्युद्दण्डतुलं धनं गिरिनीकल्लोलवच्चगलम् । स्नेहं कुञ्जर-

कर्णतालचपलं देहं च रोगाकुलं, ज्ञात्वा भव्यजनाः सदा कुरुत भो धर्मं महानिश्चलम् ॥१॥ इत्याकर्ण्य धर्मदेशनां प्रबुद्धः प्रसन्नचन्द्रभूपोऽसारसंसारतां विभावयन् गृहेऽभ्येत्य बालमप्यङ्गजं राज्ये निवेद्य प्रमुपार्श्वे चारित्रं पोतानाधिपो ललौ । विश्वाम्भोजाम्भोजिनीपतिना श्रीजिनेन सह पर्यटन् क्रमादशपूर्वधारी जज्ञे । जिनमापृच्छयैकाकी पर्वतशृङ्गगुहादि-विषमस्थानेषु कायोत्सर्गं कर्मक्षयनिमित्तं करोतिस्म । अन्यदा राजगृहासन्नवनमार्गे कायोत्सर्गे प्रसन्नचन्द्रर्षिः परमात्मध्यानपरः एकाग्रचित्तस्तस्थौ । तदा श्रीवीरो वैभारगिरिपार्श्वे समवासासीत् । श्रेणिकराजा जिनं नन्तु चचाल । तं तादृशं याति ध्यानलीनचित्तं वीक्ष्य श्रेणिकभूपो नत्वा तस्य प्रशंसां कुर्वन्नग्रतोऽचालीत् । समवसरणे गत्वा जिनं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य यथास्थानमुपविष्टः । कृताञ्जलिः श्रेणिकः पप्रच्छ—मया मार्गे आगच्छता प्रसन्नचन्द्रराजर्षिर्ध्यानैकाग्रचित्तो वन्दितः । स यद्यधुना कालं करोति तदा क गच्छति ? । स्वामी प्राह—सप्तमीं नरकभुवं याति राजा दध्यौ—एवंविधस्य साधोरीदृशी गतिः कथमादिष्टा परमेश्वरेण । मया स्वामिप्रोक्तं सम्यङ् नावगतं पुनः पृच्छामीति ध्यात्वा पुनराचष्ट राजा—भगवन्नधुना म्रियते तदा स राधुः कां क्षितिं याति ? प्रभुः प्राह—[ षष्ठीं भुवमित्यादि ] सर्वार्थसिद्धिविमानं यावत् पृष्टोत्तरदाने प्रभुभूपयोजीयमाने तं भावमबुद्ध्वा श्रेणिको जगौ—भगवंस्त्वयैवं

भन्निदं कथं जल्पितं ? यावत् प्रसुप्तं ददाति तावत् तस्मिन् दिग्देशे दुन्दुभिः श्रुतो भूनेन । पुनः पृष्ठं भगव-  
 ज्ञं देवदुन्दुभिः कुत्र वायमानोऽस्ति । प्रसुणोक्तं—प्रसन्नचन्द्रर्पेः केवलज्ञानमुत्पन्नं तेन तत्र देवैः केवलमहोत्सवः  
 क्रियमाणोऽस्ति । श्रेणिको जगौ—भगवन् ! भवता सन्दिग्धं कथं प्रोक्तम् ? प्रसुणोक्तं यदुक्तं मया तत्सत्यमेव ।  
 मनःपण्डितो विद्यते जीवानाम् । यदा त्वया स ऋषिर्नतस्तस्य शुभपरिणामोऽभूत्तदा । त्वदग्रतश्चलन्नादौ  
 मुमुक्षुर्न तस्मैव केन स ऋषिर्नतः प्रोक्तं च धन्योऽसौ, इदमज्ञं मुक्त्वा व्रतं ललौ । एतच्छ्रुत्वा तस्य ऋषेस्तदा  
 शुभपण्डितोऽभूत् । ततः पृष्ठे त्वत्सेवको दुर्मुख आगच्छन् ऋषिं वीक्ष्य जगौ । अहोऽयं पाखण्डी व्रतं लप्त्वा  
 श्रितोऽस्ति । अस्य महत्पातकं लगति । यतोऽनेन बालपुत्रं राज्ये निवेश्य व्रतं गृहीतमस्य किं पुण्यं भविष्यति ।  
 तस्मात् नरपेशद्विवाहनादिभूयः शत्रुभिरस्य पुरी वेष्टिताऽस्ति । क्षणमात्रेणास्य पुत्रं हत्वा राज्यं गृही-  
 तं नैः । इदं दुर्मुखोक्तिभिर्ध्यानाच्चलितः । तैः सह मनसा युद्धं चकार । यदा त्वया तस्य  
 मनिः पृष्टा तयोक्तं मया सप्तमनस्कगतिस्तस्य । यदा द्वितीयवारं पृच्छा कृता त्वया तस्य युद्धं कुर्वतः  
 नार्थयानां नमानिरभूत् । सर्वं वैरिणो हताः पुनरेकस्तिष्ठति । ततस्तं रिपुं हन्तुं शिरस्केनेच्छन् प्रसन्नच-



न्द्रर्षिः क्रोधव्यासः शीर्षं हस्तं चिक्षेप, ततो मस्तकं मुण्डितं ज्ञात्वा दध्यौ-मया किं युद्धं कृतं मुधा, अहं तु यतिः सर्वसङ्गत्याग्यस्मि । यतो यतीनां सर्वत्र पुत्रमित्रवैरिषु सममेव चित्तं विलोक्यते । यतः “शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रेणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि । भवे मोक्षे भविष्यन्ति, साधवः समचेतसः ॥ १ ॥” एवं ध्यायन् सप्तम्यादिगतिं क्षिपन् सौधमादिस्वर्गगतिमर्जयन् सर्वार्थसिद्धिगतिं यावदागतस्तावत् द्वितीयवारं पृच्छा कृता । अधुना केवलज्ञानमपि जातं तस्यैर्षेः । ततः प्रभुं प्रणम्य तत्र प्रसन्नचन्द्रकेवलिनं नत्वा गतो गृहे श्रेणिकः । ततश्चिरकालं भव्यजीवान् प्रबोध्यायुषः क्षये प्रसन्नचन्द्रराजर्षिर्मुक्तिं ययौ । इति प्रसन्नचन्द्रराजर्षिकथासमाप्ता ॥ २७ ॥

भव्यजीवाँल्लसद्वाण्या, बोधयन् भविकोऽङ्गवान् । लभते स्वर्गसौख्यादि, श्रीयशोभद्रसुरिवत् ॥ १ ॥

तथाहि-श्रीशय्यंभवसरयश्चतुर्दशपूर्वधारिणो भव्यजीवान् प्रबोधयन्तो महीपीठे ग्रामे पुरे विहारं चक्रुः । पाटलीपुरपत्तने ययुः श्रीगुरवः तदा तत्र विप्रो यशोभद्रनामा श्रीगुरुपार्श्वे समागात् । तत्रेति धर्मे शुश्राव-भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भवः, तत्त्वस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः श्रुतचेष्टितैः । आशापाशशतोपशान्ति-विशदं चेतः समाधीयतां, काप्यात्यन्तिकसौख्यधाम नियतं श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥ १ ॥ संसारंमि असारे, नस्थि सुहं

न्द्रर्षिः क्रोधव्याप्तः शीर्षे हस्तं चिक्षेप, ततो मस्तकं मुण्डितं ज्ञात्वा दध्यौ-मया किं युद्धं कृतं सुधा, अहं तु यतिः सर्वसङ्गत्याग्यस्मि । यतो यतीनां सर्वत्र पुत्रमित्रवैरिषु सममेव चित्तं विलोक्यते । यतः “शत्रौ मित्रे तृणे श्वेणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि । भवे मोक्षे भविष्यन्ति, साधनः समचेतसः ॥ १ ॥” एवं ध्यायन् सप्तम्यादिगतिं क्षिपन् सौधर्मादिस्वर्गगतिमर्जयन् सर्वार्थसिद्धिगतिं यावदागतस्तावत् द्वितीयवारं पृच्छा कृता । अधुना केवलज्ञानमपि जातं तस्यर्षेः । ततः प्रभुं प्रणम्य तत्र प्रसन्नचन्द्रकेवलिनं नत्वा गतो गृहे श्रेणिकः । ततश्चिरकालं भव्यजीवान् प्रबोध्यायुषः क्षये प्रसन्नचन्द्रराजर्षिर्मुक्तिं ययौ । इति प्रसन्नचन्द्रराजर्षिकथासमाप्ता ॥ २७ ॥

भव्यजीवाँल्लसद्वाण्या, बोधयन् भविकोऽङ्गवान् । लभते स्वर्गसौख्यादि, श्रीयशोभद्रसूरिवत् ॥ १ ॥

तथाहि-श्रीशय्यंभवसूर्यश्चतुर्दशपूर्वधारिणो भव्यजीवान् प्रबोधयन्तो महीपीठे ग्रामे पुरे पुरे विहारं चक्रुः । पाटलीपुरपत्तने ययुः श्रीगुरवः तदा तत्र विप्रो यशोभद्रनामा श्रीगुरुपार्श्वे समागत । तत्रेति धर्मे शुश्राव-भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तेरेव चायं भवः, तत्त्वस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः श्रुतचेष्टितैः । आशापाशशतोपशान्ति-विशदं चेतः समाधीयतां, काप्यात्यान्तिकसौख्यधाम नियतं श्रेष्ठेयमस्मद्वचः ॥ १ ॥ संसारमि असारे, नत्थि सुहं

जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि । शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥ १ ॥  
घनापायः कायः प्रकृत्तिचपला श्रीरपि चला, महारोगा भोगाः कुत्रलयदृशः सर्पपरादृशः । गृहावासः पाशः प्रणयिषु  
सुखं स्थैर्यनिमुखं, असारः संसारस्तदिह निपुणा जागृत जनाः ॥ २ ॥ ” एवं विमृश्य द्वौ भ्रातरौ मातरमापुञ्छय  
श्रीयशोभद्रपार्श्वे दीक्षां जगृहतुः । श्रीयशोभद्रसूरिभिरितथा भाणितौ तौ यथा द्वादशार्जुनं ज्ञातवन्तावभूताम् । क्रमात्  
श्रीयशोभद्रसूरिभिर्भद्रबाहोः सूरिपदं विश्राणितम् । श्रीयशोभद्रसूरयः श्रीशत्रुञ्जयादिषु यात्रां चक्रुः । श्रीयशोभद्र-  
सूरयः शुद्धं चारिन्माराधयामासुः । आयुःक्षयावसरे सम्यग् [ गुरुपार्श्वे ] आराधनां चक्रुः । ततः क्रमादायुषः क्षये  
यशोभद्रसूरिपादाः गच्छभारं श्रीभद्रबाहौ मुक्त्वा स्वर्गे जग्मुः ॥ इति यशोभद्रकथा समाप्ता ॥ २८ ॥

नात्येऽपि केऽपि वैराग्याद् गृहीत्वा धर्ममादरात् । जम्बूकुमारवन्पुत्रिसातभाजो भवन्ति हि ॥ १ ॥

तथाहि—मगधदेशे भूमिविभूषणे गुग्राम इति विश्रुतो भासतेतराम् । तत्र राष्ट्रकूटाभिधस्य कौटुम्बिकस्य  
रेवतीनाम्ना पत्न्यभूत् । एतयोः क्रमान्नवदत्तभवदेवाहौ सुतावभूताम् । क्रमाद्धर्मानौ धर्मकर्मपरो जातौ च तौ ।  
अन्यदा सुस्थितसूरिपार्श्वे वैराग्यवासितो भवदत्तो जगृहे व्रतम् । अनुसूरिपदद्वन्द्वं शाल्वाणि पठन् गीतार्थीभूयान्यदा

भवदत्तयतिः कृतान्नलिङ्गौ । सांसारिकवन्दापनेच्छाऽस्ति । प्रभो ! आदेशं देहि । गुणोद्देशं प्राप्य सुग्रामग्रामे  
गतो भवदत्तः । इतो नागिलायाः पाणिग्रहणं कुर्वणेन भवदेवेन भवदत्तो नोपलक्षितः । ततो गुरुपार्श्वं गतो हसितो  
भवदत्तः साधुभिः—स्वां रक्षति रक्षोर्यित्वा आतृप्रवेनार्थं गतः, तत्र त्वं चोपलक्षितोऽपि न । मयाऽसौ दीक्षां ग्राहयि-  
नव्यो भ्रात्रेति प्रतिज्ञां कृत्वा पुनर्भवदत्तो भवदेवं वन्दापरितुं चालितो गतस्तत्र यावत्तावन्नागिलाया मण्डन-  
मणोरगवे जायमानेऽर्द्धमण्डिता नागिलाऽभूत् । तावत्तत्रागतो भवदत्तः । आतरमागतं प्रेक्ष्योत्थाय भवदेवो ननाम  
भक्त्या । शुद्धादायनेन भ्रात्रा भवदत्तः प्रतिलाभितः । ततो भवदत्तो ब्रजन् भवदेवं कियन्तीं भूमिं सार्द्धमाकार्य  
पथि प्राह—नन्योऽसि त्वं यस्य साधवीदृशी भक्तिरित्यादिवाग्भिस्तं प्रीणयित्वा तस्य हस्ते धृतभृतं पात्रं ददौ । अपर-  
मज्जनं सर्वं विसृज्य भवदत्तो भवदेवेन समं बाल्यक्रीडादिवातीं कुर्वणो गुरुपार्श्वं जगाम । गुरुं नत्वा भवदत्तः  
प्राह—भगवन्नायं भ्राता मया भवत्पार्श्वमानीतोऽस्ति । दीक्षां जिघृक्षुरस्ति । तेन दीक्षां भवदेवं ग्राहय । ततो दाक्षिण्येन  
भवदेवेन आनुत्परोयतो दीक्षा गृहीता । एकेन मुनिना भ्रात्रा च समं गुरुं नत्वाऽन्यत्र भवदत्तो गतः । आतृवचसा  
संगमं पालयन् नागिलां करिणीमिव हस्ती भवदेवः सस्मार । कालेन भवदत्तस्तपस्तीव्रं तप्त्वा स्वर्गं ययौ । आतरि स्वर्गं

गतेऽन्येद्युः साधुश्रेणीं सुप्तां मुक्त्वा नागिलां स्मरन् निशि निस्ससार भवदेवः । यतः—“रागी बध्नाति कर्माणि, नारी-  
लक्ष्मीविमोहितः । नीरागो लभते सौख्यं, मानवोऽमलमानसः ॥ १ ॥ उल्लो सुको य दो छुड्डा, गोलया मट्टया मया ।  
दोवि आवड्डीआ कुट्टे, जो अल्लो सोवि लग्गइ ॥ २ ॥” अथ चलन् भवदेवः सुग्रामसिमनि क्वचित् प्रासादे गत्वा स्थितः ।  
तदा तत्रैकया वृद्धया सुश्राविकया साकमेका स्त्री समायाता । सैव नागिला नाम्नी । तत्रापृच्छत् भवदेवस्तस्याः  
पार्श्वे नागिला कथं तिष्ठतीति ? प्रतितो नागिलया भवदेवं मत्वा प्रोक्तं—त्वं नागिलापतिरसि किं ? भवदेवोऽवग-  
अहं तस्याः पतिरस्मि, परं भ्रात्रा स्वसङ्गतः छद्मना गुरुपार्श्वे दीक्षितोऽहं मनो विना । मया नागिलास्मरणेनैवं व्रतं  
पालितं द्वादशवर्षाणि । अथ सा विद्यते न वा । एवं भवदेवे जल्पत्यकस्माद्द्वैवयोगान्नागिलासख्याः पुत्रस्तत्रागतोऽ-  
भूत् । स प्राग् शिक्षितः साधौ शृण्वति प्रकटमेव मातुरग्रे प्राहेति । मातरहमासन्नग्रामे भोजनार्थं निमन्त्रितोऽस्मि,  
दक्षिणार्थं च गमिष्यामि, वेला तु न क्षमते, गेहमेहि त्वं, अहंपूर्वभुक्तं दुग्धमुच्छालयित्वा भाजने क्षिप्त्वा तत्र  
गत्वा मुंक्त्वा च दक्षिणां गृहीत्वा पश्चादागत्य पुनस्तद्दुग्धं पास्यामि । एतच्छ्रुत्वा भवदेवो हसन्नवादीत्—एवं कथं  
वामितमन्नं जुगुप्सितं बालकोऽयं भक्षयिष्यति ? । ततोऽवगन् नागिला—अहमेव तव प्रियाऽस्मि, त्वया पूर्वं वान्ताऽ-

गतेऽन्येषुः साधुश्रेणीं सुसां मुक्त्वा नागिलां स्मरन् निशि निरससार भवदेवः । यतः—“रागी बध्नाति कर्माणि, नारी-  
लक्ष्मीविमोहितः । नीरागो लभते सौख्यं, मानवोऽमलमानसः ॥ १ ॥ उल्लो सुको य द्रो हृद्द, गोलया मट्टया मया ।  
दोवि आवडीआ कुट्टे, जो अल्लो सोवि लगगह ॥२॥” अथ चलन् भवदेवः सुग्राससिमानि क्वचित् प्रासादे गत्वा स्थितः ।  
तदा तत्रैकया वृद्धया सुश्राविकया साकमेका स्त्री समायाता । सैव नागिला नाम्नी । तत्रापृच्छत् भवदेवस्तस्याः  
पार्श्वे नागिला कथं तिष्ठतीति ? प्रतितो नागिलया भवदेवं मत्वा प्रोक्तं—त्वं नागिलापतिरसि किं ? भवदेवोऽवग-  
अहं तस्याः पतिरस्मि, परं आत्रा स्वसङ्गतः छद्मना गुरुपार्श्वे दीक्षितोऽहं मनो विना । मया नागिलारमरणेनैवं व्रतं  
पालितं द्वादशवर्षाणि । अथ सा विद्यते न वा । एवं भवदेवे जल्पत्यकस्माद्देवयोगात्रागिलासख्याः पुत्रस्तत्रागतोऽ-  
भूत् । स प्राग् शिक्षितः साधौ शृण्वति प्रकटमेव मातुरग्रे प्राहेति । मातरहमासन्नग्रामे भोजनार्थं निमन्त्रितोऽस्मि,  
दक्षिणार्थं च गमिष्यामि, वेला तु न क्षमते, गेहमेहि त्वं, अहंपूर्वभुक्तं दुग्धमुच्छालयित्वा भाजने क्षिप्त्या तत्र  
गत्वा मुंक्त्वा च दक्षिणां गृहीत्वा पश्चाद्गगत्पुनस्तदुग्धं पार्यामि । एतच्छ्रुत्वा भवदेवो हसन्नवादीत्—एवं कथं  
वसितमन्नं जुगुप्सितं बालकोऽयं भक्षयिष्यति ? । ततोऽवगन् नागिला—अहमेव तव प्रियाऽस्मि, त्वया पूर्वं वान्ताऽ-

दत्तेति नामाऽजनि तस्य । क्रमाद्धर्ममानः पित्रा सहस्रशः कन्याः परिणायितः । ताभिः कन्याभिः समं भोगान्  
भुञ्जन् सागरदत्तो गतमपि कालं न जानाति । एकदा सागरदत्तः सप्तभूमिधवलगृहोपरिस्थो जलदं सर्वदिग्ग्यापिनं  
गर्जितविद्युतशालिनं दृष्ट्वा क्षणादुद्धतेन वातेनापसारितं प्रेक्ष्य समस्तभावेषु भङ्गुरीभावं व्यचारयत् । वज्र-  
कायशरीराणामर्हतां यद्यनित्यता । कदलीसारतुल्येषु, का कथा शेषजन्तुषु ॥ १ ॥ इत्यादि । अहो अनित्य-  
मिदं जगदिति चिन्तयन् प्रतिबुद्धः सागरदत्तः संयमं गुरुपाश्वे जग्राह भावतः । इतः तत्रैव विजये वीतशोकायां  
पुर्यां पद्मरथभूपतेः वनमालायाः पत्न्या उदरे भवदेवजीवो दिवश्च्युत्वा शिवकुमारनामा पुत्रोऽभूत् । क्रमाद्धर्ममानः  
पित्रा कुमारीः सुकुमाराङ्गीः परिणायितः शिवकुमारः । अन्येद्युस्ताभिर्महेलाभिः सह सदनस्योपरि स्थितः शिवः  
कामसमृद्धस्य सार्धवाहस्य सद्मनि मुनिसागरदत्तमात्तभिक्षं व्यलोकयत् यदा तदाऽकस्मात् सुरैः कृतां पुष्पवृष्टिं  
तत्र मुनेरुपरि वीक्ष्य शिवकुमारो हृष्टोऽभवत् । अथ तस्य स्वस्थानगतस्य कृतपारणस्य मुनेः पार्श्वे धर्मं श्रोतुं  
शिवकुमारोऽगात् । तदा कथामध्ये शिवकुमारपूर्वभवकथां न्यवेदयन्मुनिः । ततः शिवकुमारो वैराग्यरङ्गपूर्णमना  
यतिं नत्वा गृहेऽभ्येत्य पितरौ व्रतं याचते स्म । पितृभ्यामुक्तं यदि त्वं दीक्षां गृहीष्यसि, तदाऽऽवयोर्मृतिरवश्यं भवि-

गतेषु । त्वं तु कठणापरोऽसि । मातापितृहत्यां कोऽपि न लाति । पुत्रः प्राह—यद्भवद्भिरुक्तं तत्सत्यं परमनन्तेषु  
 भवेत् भियो जीवानामनन्ताः सम्बन्धा जाताः सन्ति । तेन मया त्वं सहस्रशो जनितोऽसि, त्वया त्वहं सहस्रशः ।  
 जनः—“मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च । मिथो जातानि च केषां, पिता वा तनयो भवेत् ॥ १ ॥” पिता  
 प्राह—तैवैवं वक्तुं न युज्यते । त्वमेवाधरोऽसि आवयोः इत्यादिना पर्यवसायितः शिवकुमारः स्वीकृतभोजनग्रहणं  
 पशुनपपरतस्थौ । गृहे दृढधर्मेण श्राद्धेन समं धर्मकर्मकुर्वन् द्वादशवर्षपर्यन्ते कृतानशनः स्वायुषः क्षये निर्व्यूढभाव-  
 नारित्रः शिवकुमारो ब्रह्मलोके विद्युन्माली देवोऽभूत् । इतः श्रीश्रीरे जिनेन्द्रे राजगृहे समवसते चन्दितुं विद्युन्माली  
 सूरः समागन् । सर्वेषु देवेषु अतीवभासुरकान्तिं देवं विद्युन्मालिनमालोक्य विस्मितः श्रेणिकम्पः प्रभुं प्रणम्य  
 पप्रच्छ—अनेन देवेन किं तपः पूर्वभवे कृतं येनेदम् रूपवानभूत् ? प्रभुणा पूर्वभवसम्बन्धिस्वरूपं प्रोक्तं, पुनः पृष्टं  
 श्रेणि केन । दिवश्च्युतस्यास्य कागतिर्भविव्यति । प्रभुः प्राह—अतः सप्तमे दिनेऽत्रैव पुरे ऋषभदत्तपुत्रो जम्बूनामा  
 कुमारो भविष्यति, केवलज्ञानी भूत्वा मुक्तिं गमिष्यति । ततः परं कोऽपि केवली न भविष्यति । ततो विद्युन्मालिनः  
 मुग्ध नन्नसः कान्ताः प्रभुं प्रणम्य पप्रच्छुः—अस्माकं का गतिर्भविव्यति ? । प्रभुः प्राह—ययमपि श्रेष्ठिनां पुत्री



भूत्वाऽस्य च योषितो भविष्यथ । एतत् श्रीवीरजिनोक्तं श्रुत्वा तदा स देवो विद्युन्माली तत्प्रियाश्च प्रभोः पुरो-  
नृत्यं व्यधुः । ततो विद्युन्माली रात्रियो हृष्टः प्रभुं नत्वा स्वर्गमगात् । इतोऽन्येद्युर्वैभारगिरौ समायातं सुधर्म-  
स्वामिनं नन्तुं गताऽभूद्वधमप्रिया । व्याख्यानान्ते जम्बूवृक्षविचारं कथ्यमानं गणभृता श्रुत्वा धारिणी पप्रच्छ—  
भगवन् ! मम पुत्रो भविष्यति न वा ? सुधर्मा जगौ—महासति साधूनां सावद्यमुपदेशं वक्तुं न युज्यते । तथापि  
महापुण्यलाभं वीक्ष्य निरवद्यं प्रोच्यते साधुभिः । तेनाष्टोत्तरशतमाचाम्लानि कुरु तेन ते जम्बूस्वप्नसूचितः पुत्रो  
भविष्यति इत्युक्तं श्रुत्वा धारिणी स्वगृहमागत्याचाम्लतपो गुरुप्रोक्तमकरोत् । ततो विद्युन्माली सुरः स्वर्गोच्च्युतो  
जम्बूस्वप्नसूचितो धारिणीकुक्षाववतीर्णः । क्रमाद्धारिणी पुत्रं प्रासूत । जम्बूस्वप्नावलोकनान्मातापितृभ्यां जम्बूकुमार  
इति नाम दत्तम् । इतः समुद्रस्य श्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी समुद्रश्रियं सुतामसूत १, समुद्रदत्तस्य श्रेष्ठिनः कमलमाला पत्नी  
पद्माश्रियं पुत्रीमसूत २, सागरदत्तश्रेष्ठिनः पत्नी विजयश्रीः पद्मारोनाहं सुतामसूत ३, कुबेरदत्तस्य जयश्रीः प्रिया  
कनकसेनाहं सुतामसूत ४, एताश्चतस्रोऽपि दिवश्च्युता विद्युन्मालिसुरवह्मभा अवतीर्णाः । कुबेरसेनस्य कमलावती  
नभसेनाहं पुत्री प्रासूत ५, श्रमणदत्तश्रेष्ठिपत्नी सुपेणा कनकश्रियं पुत्री प्रासूत ६, वसुपेणप्रिया वीरमती

भूत्वाऽस्य च योषितो भविष्यथ । एतत् श्रीवीरजिनोक्तं श्रुत्वा तदा स देवो विद्युन्माली तत्प्रियाश्च प्रभोः पुरो  
नृत्यं व्यधुः । ततो विद्युन्माली सप्रियो हृष्टः प्रभुं नत्वा स्वर्गमगात् । इतोऽन्येद्युर्वैभारगिरौ समायातं सुधर्म-  
स्वामिनं नन्तुं गताऽम्बूदृषभप्रिया । व्याख्यानान्ते जम्बूदृक्षविचारं कथ्यमानं गणभृता श्रुत्वा धारिणी पप्रच्छ—  
भगवन् ! मम पुत्रो भविष्यति न वा ? सुधर्मा जगौ—महासति साधूनां सावद्यमुपदेशं वक्तुं न युज्यते । तथापि  
महापुण्यलाभं वीक्ष्य निरवद्यं प्रोच्यते साधुभिः । तेनाष्टोत्तरशतमाचाभ्यानि कुरु तेन ते जम्बूस्वप्नसूचितः पुत्रो  
भविष्यति इत्युक्तं श्रुत्वा धारिणी स्वगृहमागत्याचाभ्यलतपो गुरुप्रोक्तमकरोत् । ततो विद्युन्माली सुरः स्वर्गान्व्युतो  
जम्बूस्वप्नसूचितो धारिणीकुक्षववर्तीर्णः । क्रमाद्धारिणी पुत्रं प्रासूत । जम्बूस्वप्नावलोकनान्मातापितृभ्यां जम्बूकुमार  
इति नाम दत्तम् । इतः समुद्रस्य श्रेष्ठिनः पद्मावती पत्नी समुद्रश्रियं सुतामसूत १, समुद्रदत्तस्य श्रेष्ठिनः कमलमाला पत्नी  
पद्माश्रियं पुत्रीमसूत २, सागरदत्तश्रेष्ठिनः पत्नी विजयश्रीः पद्मसेनाह्वां सुतामसूत ३, कुबेरदत्तस्य जयश्रीः प्रिया  
कनकसेनाह्वां सुतामसूत ४, एताश्चतस्रोऽपि दिवश्च्युता विद्युन्मालिसुरवह्मभा अवतीर्णाः । कुबेरसेनस्य कमलावती  
नभसेनाह्वां पुत्रीं प्रासूत ५, श्रमणदत्तश्रेष्ठिपत्नी सुषेणा कनकश्रियं पुत्रीं प्रासूत ६, वसुषेणप्रिया वीरमती

अदीयमाने संयमे स्वयं शीलव्रतं जिघृक्षुर्जम्बूः स्वगृहे आगच्छन् मार्गे वैरिभी राजगृहे वेष्टिते सति पुरप्रस्थे राजपुरुषैर्दुकनिकायन्त्रैः प्रस्तरान् मोच्यमानान् वीक्ष्य स्वस्मिन् विघ्नमवगत्य पश्चाद्रुपाशे गत्वा शीलव्रतं लात्वा स्वगृहे समागात् । ततो मातापितरौ प्रति प्राह भो मातापितरौ ! अनुज्ञां मयं ददतं, अहं दीक्षां गृहीष्यामि । मातापितरावचतुः--एकस्त्वमेवावयोः पुत्रोऽसि । त्वां विनाऽत्वां निराधारौ कथं भविष्यावः । एकशो मनोरथोऽष्टवधूपरिणयनोत्सवेन पूरणीयस्त्वया । ततः पितृवचोऽनुरोधतोऽवग् जम्बूः । अहं पूज्ययोर्वचनानुरोधान् कन्यां विवाहेनाङ्गीकरिष्यामि । यदि ताः प्रतिबोधयिष्येऽहं, तदा दीक्षा गृहीतव्या, नो चेद्गृहवारो भवतु मम । ततो ज्ञापितं जम्बूस्त्वामिनेदं कन्यापित्रादिपार्श्वे । अहं दीक्षां गृहीष्यामि । ततस्तैः श्रेष्ठिभिः स्वस्वपुत्रीणामग्रतः प्रोक्तं जम्बूकुमारो विवाहानन्तरं भवतीः प्रतिबोध्य दीक्षां गृहीष्यति । ततः कन्यास्ता जम्बूपाशेऽभ्येत्य जग्मुः--अस्माभिरस्त्वमेव वरितोऽसि । यदि अस्मिन् भवे त्वमस्माकं पतिर्भविष्यसि तदा भव्यं नो चेत् संयमो भवतु । यदि वयं त्वां कथाभिः संसारासक्तं करिष्यामः तदा त्वमेवपतिरस्माकं नो चेत् त्वया सह संयमो गृहीतव्य एव । ततः स जम्बूर्लम्बादिने गजाधिरूढः शिरसि घृतातपवारणः प्रकीर्णप्रकरवीज्यमानोभयपार्श्वः ता अष्टावपि श्वसुरगृहेषु

अदीयमाने संयमे स्वयं शीलव्रतं जिघृक्षुर्जम्बूः स्वग्रहे आगच्छन् मार्गे वैरिभी राजगृहे वेष्टिते सति  
पुरप्रस्थे राजपुरषैर्दुकनिकायन्त्रैः प्रस्तरान् मोच्यमानान् वीक्ष्य स्वस्मिन् विभ्रमवगत्य पश्चाद्गुरुपार्श्वे गत्वा शीलव्रतं  
लज्जया स्वग्रहे समागात् । ततो मातापितरौ प्रति ग्राह भो मातापितरौ ! अबुजां मह्यं ददत्, अहं दीक्षां गृही-  
ष्यामि । मातापितरवचतुः एकस्वमेवावयोः पुत्रोऽसि । त्वां विनाऽऽवां निराधारौ कथं भविष्यावः । एकशो मनो-  
रथोऽष्टवहूपरिणयनोत्सवेन पूरणीयस्त्वया । ततः पितृवचोऽनुरोधतोऽयम् जम्बूः । अहं पूज्ययोर्वचनानुरोधाल् कन्या-  
विवाहेनाङ्गीकरिष्यामि । यदि ताः प्रतिबोधयिष्येऽहं, तदा दीक्षां गृहीतव्या, नो चेद्गृहवासो भवतु मम । ततो  
ज्ञापितं जम्बूस्वामिनेदं कन्यापित्रादिपार्श्वे । अहं दीक्षां गृहीष्यामि । ततस्तैः श्रेष्ठिभिः स्वस्वपुत्रीणामग्रतः प्रोक्तं  
जम्बूकुमारो विवाहानन्तरं भवतीः प्रतिबोध्य दीक्षां गृहीष्यति । ततः कन्यारता जम्बूपार्श्वेऽभ्येत्य जग्मुः अस्मा-  
न्मित्रस्वमेव वरितोऽसि । यदि अस्मिन् भवे त्वमस्माकं पतिर्भविष्यति तदा भव्यं नो चेत् संयमो भवतु । यदि वयं  
त्वां कथाभिः संसारसक्तं करिष्यामः तदा त्वमेवपतिरस्माकं नो चेत् त्वया सह संयमो गृहीतव्य एव । ततः  
स जम्बूर्लम्बदिने गजाधिरुढः शिरसि धृतातपवारणः प्रकीर्णप्रकरवीज्यमानोभयपार्श्वः ता अष्टावपि श्वसुरगृहेषु

प्यामि । प्रभवः प्राह—किमेवंविधभोगान् प्राप्तान् त्यक्त्यासि ? । जम्बूः प्राह—मधुबिन्दुरिव भोगसुखं नृणां विद्यते,  
प्रभवः प्राह—भो जम्बुकुमार ! को मधुबिन्दुरुच्यते ? जम्बूरुवाच—कश्चिद् दरिद्रो भीमाभिधसार्थेन समं लक्ष्म्यर्थं  
विदेशं प्रत्यचलत् । मार्गे चैरैः लुण्ठिते सार्थे स दरिद्रो नष्टोऽग्रे गच्छन् गजमापतन्तमालोक्य भयभ्रान्त इव ततो  
नश्यतिस्म । गजं पृष्ठावागच्छन्तमालोक्य कूपे झम्पामदात् । कूपमध्ये पतन् दरिद्रः कूपकण्ठस्थवटशाखां कूपमध्य-  
गतामवलम्ब्यान्तरे तस्थौ । कूपतले प्रसारितमुखमजगरं चतुर्षु कोणेषु सर्पचतुष्टयं वटपादपं च श्वेतकृष्णमूषकाभ्या-  
मुत्कर्ष्यमाणं स्वदेहं मधुमाक्षिकालक्षविलक्षीकृतं च सिन्धुरेण वटवृक्षं चाल्यमानं [ हस्ति १ मूषक २ सर्पा ३ जगर  
४ ] वीक्षणात् दुःखं जानाति । तावन्मधुबिन्दुं मुखे पतितमास्वाद्य सुखं मन्यते । यतः—“विषयगणः कापुरुषं,  
करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् । बध्नाति मशकमेव हि, लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ १ ॥ ददति तावदिमे विषयाः  
सुखं, स्फुरति यावदियं हृदि मूढता । मनसि तत्त्वविदां तु विचारके, क्व विषयाः क्व सुखं क्व परिग्रहः ॥ २ ॥”  
इतः कोऽपि विद्याधरो व्योम्नि ब्रजन् तं तथाविधे कष्टे पतितमालोक्य करुणयाऽवग्—भो महानुभाग ! अस्मिन्  
मद्धस्ते विलग्न्य बहिरागच्छ । ततः स दुःस्थोऽवग्—क्षणमेकं तिष्ठ, अयं मधुबिन्दुरतीवमधुरः पतन्नस्ति मुखे मदीये ।

प्यामि । प्रभवः प्राह—किमेवंविधभोगान् प्राप्तान् त्यक्ष्यसि ? । जम्बूः प्राह—मधुबिन्दुरिव भोगसुखं नृणां विद्यते,  
प्रभवः प्राह—भो जम्बुकुमार ! को मधुबिन्दुरुच्यते ? जम्बूसवाच—कश्चिद् दरिद्रो भीमाभिधसार्थशेन समं लक्ष्म्यर्थं  
विदेशं प्रत्यचलत् । मार्गे चौरैः लुण्टिते सार्थे स दरिद्रो नष्टोऽग्रे गच्छन् गजमापतन्तमालोक्य भयआन्त इव ततो  
नश्यतिस्म । गजं पृष्ठावागच्छन्तमालोक्य कूपे झम्पामदात् । कूपमध्ये पतन् दरिद्रः कूपकण्ठस्थवटशाखां कूपमध्य-  
गतामवलम्ब्यान्तरे तस्थौ । कूपतले प्रसारितमुखमजगरं चतुर्धु कोणेषु सर्पचतुष्टयं वटपादपं च श्वेतकृष्णमूषकाभ्या-  
मुत्कीर्यमाणं स्वदेहं मधुमाक्षिकालक्षविलक्षीकृतं च सिन्धुरेण वटवृक्षं चाल्यमानं [ हस्ति १ मूषक २ सर्पा ३ जगर  
४ ] वीक्षणात् दुःखं जानाति । तावन्मधुबिन्दुं मुखे पतितमास्वाद्य सुखं मन्यते । यतः—“विषयगणः कापुरुषं,  
करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् । बध्नाति मशकमेव हि, लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ १ ॥ ददति तावदिमे विषयाः  
सुखं, स्फुरति यावदियं हृदि मूढता । मनसि तत्त्वविदां तु विचारके, क्व विषयाः क्व सुखं क्व परिग्रहः ॥ २ ॥”  
इतः कोऽपि विद्याधरो व्योम्नि व्रजन् तं तथाविधे कष्टे पतितमालोक्य करुणयाऽवगू-भो महानुभाग ! अस्मिन्  
मद्भस्ते विलम्ब्य बहिरागच्छ । ततः स दुःस्थोऽवगू-क्षणमेकं तिष्ठ, अयं मधुबिन्दुरतीवमधुरः पतन्नस्ति मुखे मदीये ।

पुत्री गृहीता द्वितीयेभ्येन पुत्रो गृहीतः । अङ्गुलीयकनामतः कुबेरदत्तकुबेरदत्ता इति नाम जातं तयोः । अथ ताभ्या-  
मिभ्याभ्यां विमृश्य मिथस्तावेयपरिणयितौ । ततः परिणयनादनन्तरं देवगृहे मिथो वरकन्ये रममाणे पणीकृतमुद्रादर्शनात्  
कुबेरदत्तया पत्या सह मिथो आतृभावः प्रतर्कितः । तथा कुबेरदत्तस्यापि ज्ञापितो आतृभावः । ताभ्यां मृथग् पृष्टौ जनी-  
जनकौ प्रोचतुः । यमुनायां पेठामध्यस्थौ युवां लब्धौ । ततः कुबेरदत्ता विरक्ता व्रतं जग्राह । कुबेरदत्तस्तु भूरिक्रयाणक-  
युतो मथुरायां व्यवसायार्थं ययौ । कुबेरसेनायां पत्नीकृतायां कुबेरदत्तः पुत्रमजनयत् । कुबेरदत्ताऽपि गोपितमुद्रिका  
क्रमादन्येद्युर्जातावधिज्ञाना गुरुणीमापृच्छ्य कुबेरसेनाप्रतिबोधाय कुबेरसेनागृहाऽऽसन्नोपाश्रये तस्थौ । तयोर्मातृसहोद-  
रयोः प्रतिबोधाय पालनकस्थं बालमित्याल्लाप कुबेरदत्ता-आताऽसि-इत्यादि विरुद्धं यतिनीवचो निशम्य कुबेरदत्तोऽभ्येत्य  
पप्रच्छ किं त्वयेदं विरुद्धं वचः प्रोच्यते ? ततस्तया सनामाङ्कितं मुद्रारत्नं दर्शितं प्रोक्तं च—तत्रैयं वेश्या माता अहं च भगिनी  
तेन मयाऽष्टादशनात्रकसम्बन्धोऽस्य सनोः प्रोचे । ततः स्वमात्मानं निन्दन् लज्जितः स्वचरित्रेण कुबेरदत्तो वित्तं सप्तक्षेत्र्या-  
मुत्त्वा गुरुपार्श्वे व्रतं जग्राह । ततस्तीव्रं तपस्तप्त्वा कुबेरदत्त आयुरन्ते त्रैदिवं धाम जगाम । कुबेरसेनाऽपि स्वन्दुश्चेष्टितं चिन्त-  
यन्ती भववासविरक्ता स्वकुलोचितं धर्मं त्यक्त्वा श्रावकधर्मं प्रतिपाल्य स्वर्गं गता । जम्बूस्वामिप्रोक्तामित्थं कथां श्रुत्वा

पुत्री गृहीता द्वितीयेभ्येन पुत्रो गृहीतः । अङ्गुलीयकनामतः कुबेरदत्तकुबेरदत्ता इति नाम जातं तयोः । अथ ताभ्या-  
मिभ्याभ्यां विमुद्रय मिथस्तावेवपरिणायितौ । ततः परिणयनादनन्तरं देवगृहे मिथो वरकन्ये रममाणे पणीकृतमुद्रादर्शनात्  
कुबेरदत्तया पर्या सह मिथो आतृभावः प्रतर्कितः । तथा कुबेरदत्तस्यापि ज्ञापितो आतृभावः । ताभ्यां मृधन् मृष्टौ जनी-  
जनकौ प्रोचतुः । यमुनायां पेटासध्यस्थौ युवां लब्धौ । ततः कुबेरदत्ता विरक्ता व्रतं जग्राह । कुबेरदत्तस्तु भूरिकयाणक-  
युतो मथुरायां व्यवसायार्थं ययौ । कुबेरसेनायां पत्नीकृतायां कुबेरदत्तः पुत्रमजनयत् । कुबेरदत्ताऽपि गोपितमुद्रिका  
क्रमादन्येद्युर्जातावधिशाना गुरुणीमापृच्छथ कुबेरसेनाप्रतिबोधाय कुबेरसेनागृहाऽऽसन्नोपाश्रये तस्थौ । तयोर्मर्तुसहोद-  
रयोः प्रतिबोधाय पालनकरयं बालसित्याललाप कुबेरदत्ता-आताऽसि इत्यादि विरुद्धं यतिनीवचो निशम्य कुबेरदत्तोऽभ्येत्य  
पप्रच्छ किं त्वयेदं विरुद्धं वचः प्रोच्यते ? ततस्तथा सनामाङ्कितं मुद्रारत्नं दर्शितं प्रोक्तं च—तत्रेयं वेदया माता अहं च भगिनी  
तेन मयाऽष्टादशनामकसम्बन्धोऽस्य सनोः प्रोचे । ततः स्वमात्मानं निन्दन् लज्जितः स्वचरित्रेण कुबेरदत्तो वित्तं समक्षेऽग्रा-  
शुस्वा गुरुपार्श्वे व्रतं जग्राह । ततस्तीव्रं तपस्तप्त्वा कुबेरदत्त आयुरन्ते त्रैदिवं धाम जगाम । कुबेरसेनाऽपि स्वं दुश्शोषितं चिन्त-  
यन्ती भववासविरक्ता स्वकुलोचितं धर्मं त्यक्त्वा श्रावकधर्मं प्रतिपाह्य स्वर्गं गता । जम्बूव्याधिप्रोक्तमिदं कथां श्रुत्वा



पठितः । श्रेष्ठी प्राह—यत् त्वया प्रोक्तं तत्र कः प्रत्ययः १ ततः मुनिः प्राह—अन्तर्गृहं शुनी नीता, जातजाति-  
स्मृतिः सती । रत्नजातं तद्देवा तन्नि—खातं दर्शयिष्यति ॥ १ ॥ इत्युदित्वा मुनौ याते तथा कृते श्रेष्ठिना  
शुन्या निधानं दर्शितम् । ततो महेश्वरदतः पिण्डदानमनर्थकं मत्वा साधूक्तं जैनधर्मं प्रपेदे । श्रुत्वैतत् कथानकं  
प्रबुद्धः प्रभवः पञ्चशतचौरयुतो वैराग्यवासिताचित्तोऽजनि । ततस्तदानीं समुद्रश्रीः जम्बुकुमारं प्रति प्राह—  
नाथ ! पते ! कान्त ! वह्नुभ ! बककार्षुक इव त्वमेवं भोगान् प्राप्तांस्त्यजन् पश्चात्तापभाजनं माभूः ।  
तथाहि—पुरा सुसीमाह्वे ग्रामे बकनामा कृषीवलोऽभूत् । वर्षाकालेऽन्यदा कङ्कुकोद्रवचीणकबंरद्विकाचपलमुद्रा-  
दीनि धान्यानि क्षेत्रे उप्रवा कार्यवशात् मालवके पुत्रीगृहे गतः कृषीवलः । तदा पुत्र्या गुडमण्डकादीनि भोजितः  
पिताऽवग्—एते गुडादयः कथं निष्पद्यन्ते ? ततः पुत्र्यादिस्वजनैः कूपखनादिगोधूमेध्वारोपणादिवृत्तान्तः कथितः  
ततो गोधूमबीजमादाय पश्चात् स्वगृहे त्वरितमागत्य प्रागुत्तानि सस्यान्युत्पाटयितुं लग्नः कृषीवलः स्वजनैरुक्तमेवं  
कथं निष्पन्नं सस्यमुत्पाटयसि ? बकोऽवग्—यूयं मौनं कुरुथ । अत्र क्षेत्रे गोधूमादयो निष्पत्स्यन्ते । तेषां मधुरा-  
हाराणां भोजनं करिष्यते । चपलादि खादं खादमुदराणि कथितानि [ चपलादिभिः पूर्वम् ] । ततः स्वजनैरुक्तं एवं

पठितः । श्रेष्ठी प्राह-यत्र त्वया प्रोक्तं तत्र कः प्रत्ययः १ ततः मुनिः प्राह-अन्तर्गृहं शुनी नीता, जातजाति-  
स्मृतिः सती । रत्नजातं तदेषा तन्नि-खातं दर्शयिष्यति ॥ १ ॥ इत्युदित्वा मुनौ याते तथा कृते श्रेष्ठिना  
शून्या निधानं दर्शितम् । ततो महेश्वरदतः पिण्डदानमनर्थकं मत्वा साधूक्तं जैनधर्मं प्रपेदे । श्रुत्वैतत् कथानकं  
प्रबुद्धः प्रभवः पञ्चशतचौरयुतो वैराग्यवासितचित्तोऽजनि । ततस्तदानीं समुद्रश्रीः जम्बुकुमारं प्रति प्राह-  
नाथ ! पते ! कान्त ! बहुभ ! बककार्षुक इव त्वमेवं भोगान् प्राप्तांस्त्यजन् पश्चात्तापभाजनं माभूः ।  
तथाहि-पुरा सुसीमाह्वे ग्रामे बकनामा कृषीवलोऽभूत् । वर्षाकालेऽन्यदा कङ्कुकोद्रवचीणकबरंहिकाचपलमुद्रा-  
दीनि धान्यानि क्षेत्रे उप्लवा कार्यवशात् मालवके पुत्रीगृहे गतः कृषीवलः । तदा पुत्र्या गुडमण्डकादीनि भोजितः  
पिताऽवग-एते गुडादयः कथं निष्पद्यन्ते ? ततः पुत्र्यादिस्वजनैः कूपखनादिगोधूमेक्ष्वारोपणादिवृत्तान्तः कथितः  
ततो गोधूमबीजमादाय पश्चात् स्वगृहे त्वरितमागत्य प्रागुप्तानि सस्यान्युत्पादयितुं लग्नः कृषीवलः स्वजनैरुक्तमेवं  
कथं निष्पन्नं सस्यमुत्पादयसि ? बकोऽवग-यूयं मौनं कुरुथ । अत्र क्षेत्रे गोधूमादयो निष्पत्स्यन्ते । तेषां मधुरा-  
हाराणां भोजनं करिष्यते । चपलादि खादं खादमुदराणि कथितानि [ चपलादिभिः पूर्वम् ] । ततः स्वजनैरुक्तं एवं

इत्युपगवात् । कथं त्रिधे ! न भजामि, सोऽहं मोहामुधाविन ॥ १ ॥ ” इति द्वितीया कथा जम्बूस्वाम्युक्ता ॥ २ ॥  
अथ पद्मश्रीरभाषिष्ट—वानर इवोभयतो अश्रयसि । तथाहि—हस्तिनागपुरत्रामी अरिकेसरी राजा अनेकभूपालैः सहितोऽटव्यां जगाम । वनाह्ननं भ्रमन् राजा वर्षसु जलदेपुं कचिन्निकुञ्जे स्थित्वाऽचलत् । कस्मिंश्चिज्जलाशयोपान्तस्थवने काचिन्नारी देवकुमारीसन्निभामालोक्य हृष्टो ललौ । तां स्त्रियं निशिष्ठत्रस्त्राभरणभूषितां तृत्या राजा सुमहोत्सनपूर्वं पुरमध्ये समागात् । पट्टराज्ञीं तां कन्यां चकार । भूपस्तया कन्यया सह भोगान् भुजानो वासन इनेन्द्राण्याऽन्येषुर्गोधतस्त-  
गृहमध्यस्थाचित्रशालायामुपाविशत्, तावत् कथितं पुमान् ग्रामे पुरे पुरे लोकान् रक्षयन् वानरनर्तनकारकस्त-  
न्नागात् । वानरस्तदा नारीं नृपोत्सङ्गसङ्गिनीमालोक्य नर्तितुं नोत्सहते । तदा तेन पुंसा बहुशरत्ताडितो वानरो नृपपिया-  
मुखाभोजदत्तं भृशं रोदिति स्म । विलक्षे भिक्षुके तं वानरमनृत्यन्तं रुदन्तं च वीक्ष्य नृपपत्न्यगम्—अये वानर !  
मया निषिद्धस्त्वं तदा लोभेन नामंस्थाः इदानीं मा रुदिहि । यतः—“ गते शोको न कर्तव्यो, भविष्यं न च चिन्त-  
येत् । वर्तमानेन कालेन, धर्तयन्ति विचक्षणाः ॥ १ ॥ खेदं मुक्त्वाऽधुना संघ, स्वं नृत्यं कुरु वानर ! । यादृशं  
क्रियते कर्म, तादृशमिति मानवः ॥ २ ॥ ” इत्यादिना बोधितो वानरो नर्तनेनानृत्येन निवर्गजं राजानं रक्षयायास ।

उरुगवान् । कथं प्रिये ! न मज्जासि, सोऽहं मोहाबुधाविव ॥ १ ॥ ” इति द्वितीया कथा जम्बूस्वाम्युत्ता ॥ २ ॥  
अथ पद्मश्रीरभाषिष्ठ—वानर इवोभयतो अग्रयसि । तथाहि—हरितनागपुरस्वामी अरिकेसरी राजा अनेकभूपालैः सहि-  
तोऽटव्यां जगाम । चनादनं अमन् राजा वर्षसु जलदेष्टुं कचिन्निकुञ्जे स्थित्वाऽचलत् । कस्मिंश्चिज्जलाघायोपान्तस्थवने  
काञ्चिन्नारी देवकुमारीसन्निभामालोक्य हृष्टो ललौ । तां स्त्रियं विशिष्टवस्त्राभरणभूषितां कृत्वा राजा सुमहोत्सवपूर्वं पुरमध्ये  
समागात् । पट्टशर्ीं तां कन्यां चकार । भूपरतया कन्यया सह भोगान् भुञ्जानो वासव इवेन्द्राण्याऽन्येह्युर्ध्वावतरन्-  
गृहमध्यस्थाचित्रशालायासुपाविशत्, तावत् कश्चित् पुमान् ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे लोकान् रञ्जयन् वानरनर्तनकारकस्त-  
त्रागात् । वानरस्तदा नारीं नृपोत्सङ्गिसङ्गिनीमालोक्य नर्तितुं नोत्सहते । तदा तेन पुंसा बहुशरताडितो वानरो नृपप्रिया-  
मुखाभोजदत्तदंष्ट्रा भृशं रोदिति स्म । विलक्षे भिक्षुके तं वानरमनृश्यन्तं रुदन्तं च वीक्ष्य नृपपत्न्यवग्न-अये वानर !  
मया निषिद्धस्त्वं तदा लोभेन नामंस्थाः हृदानीं सा खदिहि । यतः—” गते शोको न कर्तव्यो, भविष्यं न च चिन्त-  
येत् । वर्तमानेन कालेन, धर्तयन्ति विचक्षणाः ॥ १ ॥ खेदं मुक्त्वाऽधुना सद्यः, स्वं नृत्यं कुरु वानर ! । यादृशं  
क्रियते कर्म, तादृशाप्नोति मानवः ॥ २ ॥ ” इत्यादिना बोधितो वानरो नर्तनेनारूढतेन निर्वर्जं राजानं रञ्जयार्यास ।

अथ जम्बूः प्राह—बहून् भोगान् भुञ्जानस्तृप्तो न भवत्यङ्गारकारक इव । तथाहि—चंद्रपुरे चन्द्रनामाऽङ्गार-  
कारको ग्रीष्मसमये वारि समादायाटव्यामङ्गारान् कर्तुं ययौ । अङ्गारान् कुर्वतस्तस्य रात्रौ जलं त्रुटितं तृषाऽत्यन्तं  
लम्बा तालुशोषः समजनि । रात्रौ सुप्तस्तृषया बाधितो वापीकूपतडागनदीहृदादिजलाशयस्थं पानीयं सर्वं पीत्वा क्वापि  
मरुस्थलीकूपेऽङ्गारकारकः समागात् । ततस्तृषयाऽत्यन्तपीडितो वटोपान्तस्थो वरत्राबद्धपूलकेन बिन्दुमात्रं तज्जलमाकृष्य  
जिह्वाग्रे लिहानो न तृप्तोऽङ्गारकारकः । एवं जीवाः सर्वे स्तन्यपानस्त्रीभोगवर्यवस्त्राभरणपरिधानादिसुखमनुभवन्तो न तृप्ताः  
स्युः, तथा नाहमतृप्तोऽस्मि सांसारिकसुखेषु ४॥ अथ पद्मसेनोवाच—हे नाथ मुक्तवर्त्थी त्वमैहिकां प्राप्तां श्रियं विसृजन्  
गोमारुरिवात्यन्तमुभयअष्टां मा भज । तथाहि कस्यांश्चिदटव्यां शृगाल एकः पिशितखंडं प्राप, तमादाय मरिच्चीरे  
गतः । तं मांसं भोक्तुकामो नदीतीच्या बहिः क्षिप्तं मीनं दृष्ट्वा लौल्याज्जिघृक्षुरभूत् मांसखंडमधो मुक्त्वा शृगालो  
यावन्मीनं गृहीतुमधावत् तावन्मीनः पयोमध्ये प्रविष्टः । मांसखंडं शकुनिको गृहीत्वाऽऽकाशे गतः । ततः शृगाल  
उभय अष्टो भूत्वा पश्चात्तापं दधौ चित्ते । एवं त्वमिमां श्रियमुज्झन् पारत्रिकीमीहमान उभयअष्टो जम्बुक इव भविष्यसि ।

अथ पद्मसेनां प्रति जम्बूः प्राह—नाहं विद्युन्मालिविद्याभृदिव रागग्रहिलो भविष्यामि । त्वयाऽपि रागग्रहिलया

अथ जम्बूः प्राह—बहून् भोगान् सुञ्जानस्तृप्तौ न भवत्यङ्गारकारक इव । तथाहि—चंद्रपुरे  
कारको ग्रीष्मसमये वारि समादायाटव्यामङ्गारान् कर्तुं ययौ । अङ्गारान् कुर्वतस्तस्य रात्रौ जलं त्रुटितं तृषाऽत्यन्तं  
लम्बा तालुशोषः समजनि । रात्रौ सुप्तस्तृषया बाधितो वापीकूपतडागनदीहृदादिजलाशयस्थं पानीयं सर्वं पीत्वा कापि  
मरुस्थलीकूपेऽङ्गारकारकः समागात् । ततस्तृषयाऽत्यन्तपीडितो वटोपान्तरस्थो वरत्राबद्धपूलकेन बिन्दुमात्रं तज्जलमाकृष्य  
जिह्वाग्रे लिहानो न तृप्तोऽङ्गारकारकः । एवं जीवाः सर्वे स्तन्यपानस्त्रीभोगवर्यवस्त्राभरणपरिधानादिसुखमनुभवन्तो न तृप्ताः  
स्युः, तथा नाहमतृप्तोऽस्मि सांसारिकसुखेषु ४॥ अथ पद्मसेनोवाच—हे नाथ मुक्त्यर्थी त्वमैहिं प्राप्तां श्रियं विमृजन्  
गोमायुरिवात्यन्तमुभयअष्टां मा भज । तथाहि कस्यांश्चिदटव्यां शृगाल एकः पिशितखंडं प्राप, तमादाय सरित्तीरे  
गतः । तं मांसं भोक्तुं कामो नदीतीच्या बहिः क्षिप्तं मीनं दृष्ट्वा लौल्याज्जिघृक्षुरभूत् मांसखंडसंधो मुक्त्वा शृगालो  
यावन्मीनं गृहीतुमधावत् तावन्मीनः पयोमध्ये प्रविष्टः । मांसखंडं शकुनिको गृहीत्वाऽऽकाशे गतः । ततः शृगाल  
उभय अष्टो भूत्वा पश्चात्तापं दधौ चित्ते । एवं त्वमिमां श्रियमुज्झन् पारत्रिकीमीहमान उभयअष्टो जम्बुक इव भविष्यसि ।  
अथ पद्मसेनां प्रति जम्बूः प्राह—नाहं विद्युन्मालिविद्याभूदिव रागग्रहिलो भविष्यामि । त्वयाऽपि रागग्रहिलया

मस्याः स्त्रिया दृश्यते । ततो विष्णुमाली लज्जितोऽभ्योमुखोऽभूत्, पुनर्नीर्षं मार्गितं विप्रासाधनाय परिधयान्ते पुनरागतो  
आता तथैन मोहे ममं आतारं ददर्श मेघरथः । ततो आतारं म्लेच्छकुले ममं वीक्ष्य मेघरथः पश्चात् समुहं गतः ।  
मेघरथो निःस्पृहो निष्कामी भूत्वा राधो विष्णुगगतोऽभूत् । विष्णुमाली तु म्लेच्छकुले तिष्ठन् क्रमात्तया चाण्डाल्या  
किङ्करीकृतो निःशङ्कं ननिगनीचं चान्देशं करोति स्म । तादृशो दुर्गन्धे गृहे तिष्ठन् दुःस्वयभूत् । पुनर्मूर्ता विद्युन्माली  
नरके दुःखभागभूत् । पुनमहं विष्णुमालिवत् रंसारे ममो न भविष्यामि । तथा त्वमपि रंसारसुखे रस्ता मा भव ॥ ६ ॥

कनकरोनाऽनर्-मवीयं वचो गानय । शंखभगक दन लोभयान् मा भव । तथाहि—पुरा शालिग्रामे कणकुटाभिधः  
कौटुम्भी नराति । कणकुटः कस्यनित् कौटुम्भिकस्य क्षेत्रक्षन्कोऽभवत् । क्षेत्ररथः सा राया शंखनादेन रास्यभक्षकान्  
जीवान् दूरं नाशयामास । एकदा शंखयुतो निशायुखे प्रागस्य क्षेत्रक्षाने गयो । निशीथरागने कस्यनित् आमस्य  
भोधनं भूरि अपहृत्य चलगानास्तस्य क्षेत्रस्य रांभीणे चौरा आययुः । अत्रान्तरे तेन क्षेत्रक्षणेण कम्बुः पुरितो हेलभा ।  
तथा ते चौराः शंखशब्दमाकर्ण्य पृथगतवाह्रक्षकशङ्कया गोभनं मुत्तना दूरतो भीता नेशुः । तत्र चौरमुक्तं गोभनं  
ज्ञात्वा प्राहगोभनः प्रगे स्वराग्रान्तः राया शंखं पूरयामास एकदा पुनस्तत्रागताश्चौरास्तथैन शंखमापूर्यमाणं श्रुत्वा

दध्युः । सदाऽयं शंखको न वाद्यते । ततः सम्यग् विलोकितां चौरैः, ज्ञातश्च स शंखवादकः । ततो वयमनेन वाहिताः पूर्वमिति वदन्तस्तत्रागत्य तं शंखवादकं बद्ध्वा दृढं मुष्टिभिस्ताडयामासुस्तथा, यथाऽचेतनीभूय पतितः शंखो भग्नः तद्धनं सर्वमपहतम् । एवं त्वमपि प्रिय ! लोभेनाधिकां श्रियं वाञ्छन् शंखवादक इव दुःखी भवतीति १ ॥

अथ जम्बूस्तां प्रियां प्रति प्राह—कपिवदहं सुमूर्धुनीस्मि । तथाहि—विन्ध्याभिधधराधरे अनेकश्चापदसंकुले कोऽपि वानरः प्रियाभिः सह क्रीडां कुर्वणोऽनुवेले विद्यते । कपिः कोऽपि बलिष्ठमन्यस्तत्प्रियाभिः सह भयोञ्जितो रमते । क्रमाद्वानरी तमुपपत्तिमङ्गीकृत्य रमते । स्वपतिं तृणमपि न मन्यते वानरी । पार्श्वस्था वानर्योऽवोचन्—अयं वृद्धो वानरोऽभूत् तत्त्यक्तुं योग्योऽयमेवं विमृश्य सर्वा अपि वानर्यो युववानरं श्रिताः । यतः—“वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः, पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः । निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका अष्टं नृपं सेवकाः, सर्वः स्वार्थवशाज्जनोऽभिरमते नो कस्य को वल्लभः ॥ १ ॥” वृद्धो वानरो यूना समं युद्धं कुरुते । ततो यूना वानरेण स्त्रीदृष्टिपुष्टेन वृद्धो वानरो भग्नः । ततो नश्यत्कपिस्तृषाक्रान्तो जलार्थी शिलाजतुनि जलभ्रान्त्या मुखमक्षिपत् यावत्तावद्धानरवानरौ पृष्ठावागतौ वानरो मुखं कण्ठमुग्रतनौ पादौ प्रथमं क्षित्वा पश्चात् पश्चातनावपि पादौ चिक्षेप वानरः । ततः कीलितसर्वाङ्गः



कपिर्मृत्युमाप । स वानरोऽक्षिसपदः पूर्वं वदनं चेदाकृषेत् तदा मरणं नाभविष्यत्तस्य । ततो भवाद्दशां नारीणां वाञ्छया संसारसुखशिलाजतुनि न मज्जामि ८ ॥ अथ नभसेनाऽऽचष्ट--अधिकेन लोभेन त्वं बुद्धिसी इव हास्यतामनर्थं च प्राप्स्यासि । तथाहि--नन्दिग्रामे सिद्धिबुद्धिनाग्न्यौ वृद्धस्त्रियौ वसतः स्म । एकस्तत्र भोलिको नाम यक्षो मनोऽभीष्टप्रदाता बहिस्तिष्ठतिस्म । सिद्धिः सदा सत्पुष्पपूजादिभिर्यक्षं तथाऽऽराराधयथा दीनारं द्वयं प्रतिदिनं तस्यै अदात् । ततः सिद्धिः सा काष्ठपात्राणि मुक्त्वा हेमपात्रे मुक्ते, महासौधं तथा क्रमात् कारितम् । यक्षप्रसादात्तां सिद्धिं लक्ष्मीवतीं वीक्ष्य प्रीत्या रहसि बुद्धिः पप्रच्छ । कुलक्रमागतं स्वामी, दारिद्र्यं तावदावयोः । कुतो विभवपाथोधिः, जलदेवीव वर्तसे ॥ १ ॥ सा सिद्धिराचष्ट--भोलिको यक्ष आराधितः सन् प्रतिदिनं दीनारद्वयं दत्ते मद्यम् । एतदाकर्ण्य बुद्धिरपि भक्तिभरात्तं यक्षमाराराध । ततो यक्षोऽवगू--भो बुद्धे ! किं तव विलोक्यते । बुद्धिराह--सिद्धिर्यल्लभते तव पार्श्वीत्तद्विगुणं मद्यं देहि । ततो बुद्ध्यै चतुरो दीनारान् दत्ते । बुद्धियाचितं ज्ञात्वा सिद्धिरपि ततो द्विगुणं मार्गयामास दीनारान् । ततो बुद्धिरपि द्विगुणं याचतेस्म । ततः सिद्ध्या चिन्तितमिदम् । असौ द्विगुणं सदा याचते मम स्पर्धया । ततस्तथा कुर्वे यथा स्पर्धाकृतं फलं लभतेऽसौ बुद्धिः । ततः सिद्ध्या

यक्षाग्रे रहसि प्रोक्तं—मदीयमेकं नेत्रं त्वं लाहि । ततो यक्षेणैकं नेत्रं तस्या गृहीतम् । ततो बुद्धिरपि यक्षपार्श्वे याचते स्म  
सिद्धय त्वया यददायि तद्द्विगुणं मह्यं देहि । ततो यक्षवरात् बुद्धिरन्धीभूता । नोऽकारणरुषां सङ्ख्या, सङ्ख्याताः  
कारणाः क्रुधः । कारणेऽपि न कुप्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः ॥१॥ तं नत्थि घरं तं नत्थि, राउलं देउलं पि तं नत्थि जत्थ  
अकारणकुविया दो तिन्नि खला न दीसंति ॥२॥ ईर्ष्या लभते जन्तु—रन्धत्वं परवश्यताम् । इहैवासुत्र नरकादि, पुनर्दुःखम-  
नुत्तरम् ॥३॥ एवं पते! त्वमपि अधिकाधिकामृद्धिं वाञ्छन् अनर्थं पतिष्यसि ॥८॥ अथ जम्बूः प्राह—हे कान्ते ! नाहमन्यथागामी  
जात्यश्च इव भाविष्यामि, तथाहि—देवानां प्रिये एनां कथां शृणु—वसन्तपुरे जितशत्रुनृपो न्याधी धर्मवान् राज्यं कुरुते स्म ।  
अन्यदा राजाऽवगू—कोऽस्ति मे राज्ये यो वाजिपर्क्षां सम्यग् जानाति । ततोऽश्वविद्याविशारदाः बहुषु घोटकेषु एकं  
जात्यश्चरमानीय जगुः । यस्य राज्येऽयं बाहो वर्तते तस्य राज्यं सर्वथा वर्धते । भूपाः नमन्ति तं परैर्न जीयते स राजा ।  
राजा तं घोटकं पृथग् कृत्वा दध्यौ । जिनदासस्यायं घोटको वर्द्धनायार्प्यते तदा वरम् । स तु निर्लोभी दया-  
वानस्ति । ततो राज्ञा जिनदासायार्पितः सोऽश्वः । ततस्तं वाजिनं नृपदत्तं पालनाय प्राप्य वर्यां भूमिं चतुःशालिकां  
च कारयित्वा तत्र जिनदत्तो मुमोच । वर्यान्नपानादिदानेन जिनदासरतं वर्द्धयामास । यथा यथा घोटको वर्द्धतेस्म, तथा

तथा राजा घोटकेभादिसम्पदा वर्द्धते स्म । श्रेष्ठी प्रातस्तं वाजिनं स्वयमारुह्य रारसि पयः पाययित्वा प्रत्यावृत्तः सन् श्रीवृषभदेवप्रासादे प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नत्वा प्रभुं श्रीनाभेयं गृहमुपैति । एवं स घोटको जलाशयं जिनगृहं जिनदासगृहं मुक्त्वाऽन्यत्र कुत्रापि न याति । तेभ्योऽन्यं मार्गं न जानात्यश्वः । इतः प्रत्यर्थिभूमेन तं राज्यवर्द्धनकारकं घोटकं ज्ञात्वा स्वसभायां प्रोक्तम्—कोऽस्त्यत्र यस्तं घोटकमत्रानयति । तस्मै ग्रामपञ्चकं दास्याम्यहम् । ततः एकः सेवको राजप्रसादमासाद्य कपटश्रावकीभूय वसन्तपुरे गतः । चैत्यदेववन्दनमिषेण जिनान् पुरमध्ये वन्दते गुरुंश्च । जिनदासेन तं वर्यं श्रावकं मत्वा स्वगृहे भोजितः । रात्रौ ततो जिनदासेन धर्मगोष्ठीं कुर्वता स्वपार्श्वे स्थापितः । अन्यदा कस्मैचित् कार्याय जिनदासो गतः । स कपटश्राद्धो हृष्टस्तं हयमारुह्य स्वपुरं प्रति चचाल । स घोटकः पयःस्थानकं देवगृहं जिनदासगृहं च मुक्त्वाऽन्यत्र कुत्र न याति । रारसि चैत्ये गृहे पुनः पुनर्गच्छन् । ततः कपटश्राद्धः खिन्नः सन् प्रातर्घोटकं मुत्कलं मुमोच । नष्टः स श्राद्धः स्वस्थानके गतः घोटकवृत्तान्तं राजाग्रे प्रोक्तवान् । घोटको मार्गत्रयं मुक्त्वाऽन्यत्र स्थानमजानानः स्वस्थाने गतः । प्रातः घोटकं स्वयमागतं वीक्ष्य सेवकैर्घोटकापहरणवृत्तान्तं ज्ञात्वा च जिनदासाग्रे प्रोक्तः । ततोऽश्वो विशेषतो राज्ञा श्रेष्ठिना च सम्मानितः सुखमभूत् । एवमहमपि ज्ञानदर्शन-

चारित्ररूपान्मार्गादन्यत्र मार्गे सर्वथाऽनभिज्ञोऽस्मि । अथ कनकश्रीराह—हेमपुरात् पुरा द्वौ बान्धवौ देशान्तरं  
 प्रति चेलतुः । मार्गे गच्छन्तौ तौ क्वापि स्थाने पञ्चशिखरं वल्मीकं दृढशतुः । तस्य वल्मीकस्य एकस्मिन् शृङ्गे-  
 खनिते पयो निस्ससार । तत्पयः पीत्वा तौ मुदितौ बभूवतुः । अथ ज्यायसा लघुरभिदधे—द्वितीयं शृङ्गं विलोक्यते ।  
 ततस्तस्मिन् शृङ्गे विलोकिते द्रव्यं तृतीये रूप्यं चतुर्थे स्वर्णे निर्गतं, पञ्चमे शृङ्गे खन्यमाने ज्यायसा आत्रोक्तं,  
 अतिलोभो न क्रियते । यतः—“सूलं मोहविषदुमस्य सुकृताभोरशिकुम्भोद्भवः, क्रोधान्नेरणिः प्रतापतरणिप्रच्छा-  
 दने तोयदः । क्रीडासह्य कलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी—सिन्धुः कीर्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयताम्  
 ॥ १ ॥ महीयसापि लाभेन, लोभो न परिसूयते । मात्रा समधिकः कुत्र, मात्राहीनेन जीयते ॥ २ ॥” एकं शृङ्गं  
 तिष्ठतु । ततः स मात्रा वारितोऽपि लघुभ्राता लोभार्थं पञ्चमं शृङ्गं खनति यावत्तावत् ज्यायान् भ्राता पश्चाद् व्यावृ-  
 त्योपविष्टः पञ्चमे शृङ्गे खनिते दृग्विषाहिना निर्गतेन स भस्मीकृतः चिरकालं दुःखी जातः । तथाऽतिलोभात् त्वमपि  
 मुक्तिमुखं वाञ्छन् कुषिकलघुभ्रातृतुल्यतां मा गच्छ ॥ ११॥ जम्बुकुमारोऽवग—प्रिये शुक्रनिकरोपमो न भविष्यामि ।  
 तथाहि—कस्मिंश्चिद्भ्रामे लोकैः क्षेत्रक्षार्थं नलिकयन्त्राणि मण्डितानि । अन्यथा तत्रोपविष्टः शुक्रनिकरः । भ्रमता च

नलिकायन्त्रेणाधः कृतः । तत्र दृढं स्वचरणग्रहं पतनभयात् कुर्वन् आत्मानमबद्धमपि बद्धं मन्यमानो नचोत्प-  
तति । अहं बोधाऽसिना छिन्नमोहपाशः स्वेच्छयोत्पत्य गच्छामि तत्पक्षितुल्यो नास्मि ॥ १२ ॥ अथवाऽत्रेयं कथा  
च वाच्या-विन्ध्याद्रौ सरोवरं पयःपूर्णमभूत् । तस्मिन् जलाशये काश्चित् कमठः स्थितः पुत्रपौत्रादियुग् । कदा-  
चित् शीवालपटलापसरणात् पूर्णेन्दुमाकाशे विलोक्य रात्रौ मुमुदे । ततश्चिन्तितं तेन-कुटुम्बस्य दर्शयिष्यामि ।  
ततः कञ्चपः पयोमूले गतः स्वकुटुम्बं तत्रानिनाथ तावत्तच्छिद्रं गतम् । ततो भ्रामं भ्रामं  
चलच्चक्षुर्विलोकयन् पूर्णेन्दुं नापश्यत् । तद्वदिमं जिनधर्मं संयमप्राप्तिस्वरूपं गुरुसामग्रीं च प्राप्य न त्यक्ष्यामि ॥ १३ ॥

जयश्रीर्जगौ-नागश्रीरिव मां किं विप्रतारयसि । तथाहि पद्मपुरे केलिप्रियो राजा राज्यं करोतिस्म । दिनं  
प्रति नवां नवां कथां वारकेण लोकमुखात् शृणोति । अथ कस्यचिद् द्विजस्य वारक आगतः । तस्य मौल्यं  
विद्यते । ततो द्विजोऽचिन्तयत्-किं कथ्यते मया क्षोणिपतेरग्रे यदि नव्या कथा न कथयिष्यते तदा दुष्टो भूषो  
मां कारागृहे क्षेप्स्यति पितरं चिन्तापतितं कालमुखमालोक्य दौहित्र्या कुमार्योक्तं-त्वं चिन्तां मा कुरु । अहं  
कथां कथयिष्ये । ततः सा कन्या राजपार्श्वे गत्वाऽवग-राजन्नद्याहं कथां कथयिष्यामि स्वसोदरार्थम् । राजाऽवग-

तर्हि कथय त्वमेव । ततः कन्याऽवग् अत्रैव पुरे नागशर्मा माहणोऽस्ति, तस्य सोमश्रीः पत्नी, नागश्रीनिन्दिनी ।  
 सा कस्मैचिद् द्विजवराय दत्ता पितृभ्याम् । विवाहसामग्र्यर्थं गतौ मातापितरौ ग्राममध्ये । एकाकिनी कन्या गृहे  
 ऽभूद्यावत्तावत् स चट्टद्विजस्तत्रागात् । उपलक्ष्य भाविनं पतिं तथा भोजितः पतिः । सतूलिके पल्यङ्के शायितस्तथा  
 ध्यातं—मही तु विस्तीर्णा विद्यते । परिणयनं विनाऽस्य हस्तेनापि सङ्गो न कार्य इति ध्यात्वा पर्यङ्कस्याधः सुप्ता  
 कन्या निर्विकारा । अकस्मात् कन्याया उपरि पतिः पतितः सुप्तो द्विजः । ततो लज्जाक्षोभात्तस्य प्राणा गताः । तत-  
 स्तथा ध्यातं—अहं पापिनी मयाऽयं हतः । किं करिष्ये लोको ज्ञास्यति । ततस्त्वं पतिं द्विजं खण्डशः कृत्वा खातं  
 भूमौ कृत्वा गतीयां क्षिप्त उपरि धूलिं दत्वा कर्दमेन गोमययुक्तेन लिम्पयित्वा गतीं पुष्पैर्गन्धैर्धूपैश्च धूपयित्वा यावत्  
 स्थिता कन्या तावत् पितरावाच्चविवाहसामग्रीकावागतौ । इत्युक्त्वा कन्या तूष्णीं तस्थौ राजा जगौ—अग्रतः  
 कथय किं जातम् । कन्याह—अतीतः कालोऽहं यास्यामि राजावग्—तामहं कथं द्रक्ष्यामि । सा  
 जगादाऽहमेव सा स्त्री । संसारनटिकानटने नटी । राजाऽवग्—कुमरि ! त्वया यदुक्तं तत्सत्यम् ।  
 साऽवग्—याः कथास्त्वं पुराऽश्रौषीर्लोकपाश्वै ता यदि तथ्यास्तथेयमपि तथ्या । सैवमुक्त्वा स्वस्थानं गता ।

यथा तथा नागश्रिया भूपो विप्लावितः । तथा त्वमपि किं कथाभिर्विप्लावयसि माम् ॥ १३ ॥ जम्बूः प्राह—ललि-  
ताङ्गवदहं न भोगमुखे तथाऽऽसक्तोऽस्मि । तथाहि—कन्दर्पकोशपुरे शतायुधो राजा राज्यं करोति । तस्य लीलावती  
श्रिया । सा कदाचित् सर्वाभरणभूषिता गवाक्षोपरि उपविष्टा ललिताङ्गख्यं नरं तुरगारूढं मनोभवावतारं गच्छन्तमा-  
लोक्य लीलावती पञ्चनाणबाणैस्ताडिता । तदा च ललिताङ्गस्तां वीक्ष्य पद्मेषुबाणैस्ताडितः । भूपतनी दुर्लभा भवतीति  
ध्यात्वा ललिताङ्गकुमारः स्वगृहे गतः । राजपत्नी कामशरपीडिता भूताती इवाऽभवत् । दास्या स्वाभिन्या मनोऽभिप्रायो  
ज्ञातः, कथितं चानिष्यते सोऽत्र मया । सा दासी समुद्रप्रियेभ्यनन्दनं ललिताङ्गं ज्ञात्वा तत्र रहोऽभ्येत्योवाच ।  
मत्स्वामिनी त्वामिच्छति भोगाय । सोऽवग—पुराऽपि मम तस्या इच्छा विद्यते । यदाऽवसरो भवति तदा प्रोक्तव्यमह-  
मागमिष्यामि । दासी स्वामिन्यग्रे प्राह—राजा तु स्तोकं गृहद्वाराग्निःसरति । ततश्चैकदाऽनसरं प्राप्य यावद्दासी तं  
ललिताङ्गं कृतस्फारशृङ्गारमानयामास स्वाभिनीपार्श्वे तावद्राजापि तत्रागतः । ततस्तया बिभ्यत्या दासीपार्श्वीत् संचाराभिधे  
खाले क्षिप्तः प्रोक्तं च त्वया न जल्पनीयम् । राजाऽगतोऽस्ति, यदि ज्ञास्यति भूपस्त्वामन्नागतं तदा शूलाभिरोपणात्  
हनिष्यति । ततः रा ललिताङ्गकुमारो बिभ्यत् संलीनाङ्गोऽस्थात् । ततस्तत्रस्थस्य तस्थानुकम्पया राज्ञी भोजनं दत्ते ।

स ललिताङ्गस्तत्रैव भुङ्क्ते हृदति च । दौर्गन्धेन तत्रत्यं दुःखमनुभवन् गृहसुखं स्मरन् महादुःखी जातो ललिताङ्गः ।  
 अथ प्रावृषि कूर्मोर्द्धगामिभिर्मलवारिभिः प्रवाह्य प्रणालिकया बहिः कर्षितो ललिताङ्गो वप्रखालप्रान्ते पतितो धात्र्या  
 दृष्टः । तादृग्संमूर्छितो गृहे आनीतः । सज्जीकृतोऽङ्गप्रक्षालनादिना । कुत्रास्थास्त्वमित्यन्तं कालमितिस्वजनैः पृष्टो  
 न जाने इति लज्जयाऽवग्-स्वस्थीभूतो ललिताङ्गः । यदि कथंचिन्निःसृतो ललिताङ्गस्तया पुनराकारितः कदाचि-  
 त्तत्र याति, अहं तु तादृशानशुचिप्रायान् भोगसुखादिकान् स्त्रीसंगत्या न वाञ्छामि मनागपि । यदि तादृशे स्त्रीभोग-  
 सुखे पतिष्यामि तदा मम नरकपात एव भवति । उपनयोऽत्र कूपसदृशात् गर्भवासान्निर्गतो भूयो विषयसुखास्वा-  
 दासक्तस्तत्र याति । अहं ललिताङ्ग इव पुनस्तान् भोगान् न समीहे १४ । अथ कन्याऽवग्-मासाहसशकुनाभः  
 मा त्वं साहसिको भव । तथाहि-एकस्मिन् गिरिगह्वरे सुप्तः सिंहः । तस्य सिंहस्य व्यात्ते मुखे प्रविश्य कोऽपि  
 पक्षी मासाहसनामा दन्तान्तरलभ्मानि मांसखंडानि चञ्चूपुटेनादत्ते मा साहसं कार्षीरिति गाढस्वरमुच्चरति  
 च । अत्रान्तरे केनचित् पुरुषेण प्रोक्तं-भो पक्षिन् त्वं मुखेन मासाहसमिति ब्रूषे । व्याघ्रास्यादाकृष्य मांसं  
 भक्षयसि च । ततस्त्वं मुग्ध एव दृश्यसे अतः स्त्रवचनानुरूपं न कुरुष्वे, एवं त्वं साक्षात् सुखं हित्वा मासाहसपक्षीव



स्वयं त्वयाङ्गीकरणे साहसं मा कुरु । यथा स सिंहो जागरितः सन् तं हन्त्येव । तथा संयमोऽपि हरिसदृशोऽङ्गीकृतः कदाचिद्धनिष्यति त्वाम् ॥ १५ ॥ जम्बूः प्राह—अहं कुसङ्गतिं भुक्त्वा सोमशर्मपरोहित इव सत्सङ्गतिं करिष्यामि । तथाहि—क्षितिप्रतिष्ठिते पुरे जितशत्रुराजा राज्यं करोतिस्म । तस्य सोमशर्मोति पुरोहितोऽभूत् । नित्यमित्राभिधो मित्रः १, द्वितीयः पर्वमित्रोऽभूत् २, तृतीयः—प्रणाममित्रोऽभूत् पुरोहितस्य । तेन एकः सहपांशुकीडितो वयस्यः प्रतिपत्त्या स्वसमानो व्यधाधि, द्वितीयः पर्वमित्रः २, तृतीयस्तु प्रणाममित्रः । अथ कदाचित्तस्य पुरोहितस्य राजा रूष्टोऽभूत् । ततः पुरोहितः सहजमित्रस्य सदनं गत्वाऽवगू—मयि भूयो रूष्टोऽस्ति किं करिष्यते । सहजमित्रेणोक्तं—भूयोरूष्टोऽस्ति यदि भवत उपरि तदा प्रथममत्र त्वां द्रष्टुं राजपुरुषाः समेष्यन्ति । तेनात्र स्थातुं तव न युक्तं गच्छाऽन्यत्र । ततः पुरोहितः पर्वमित्रगृहे गत्वा तथैवाह । तेनाऽप्युक्तं यदि त्वामत्र स्थितं राजा ज्ञास्यति, तदा मां त्वां च सकुटुम्बं घाणके क्षेप्स्यति । ततोऽन्यत्र प्रच्छन्नाभूय तिष्ठ । ततस्तृतीयस्य प्रणाममित्रस्य गृहे गत्वा तथैवो-  
वाच । मित्रद्वयेन नाहं रक्षितः । प्रणाममित्रोऽवगू—न भेतव्यं त्वया, आवामेकीभूय स्थास्यावः राजा किं करिष्यति ? । राज्यांतरे गमिष्यावः । ततस्तावन्यस्मिन् राज्ये गतौ । तत्र पुरोहितः प्रणाममित्रसांनिध्यान्मानितः सुख्यभूत् ।

दृष्टान्तोपनयश्चैवं । कर्मपरिणामतुल्यो भूः, जीवः पुरोहिततुल्यः, सहजमित्राभो देहः, सर्वे बान्धवाः पूर्वमित्र-  
 तुल्याः, प्रणाममित्रतुल्यो धर्मः । यतो जन्मान्तरे जीवेन सह धर्मो गच्छति । जीवस्य यः परत्रापि, श्रियं  
 यच्छति वाञ्छिताम् । ज्ञातिदेहौ विहायाहं, धर्ममाराद्भुमुद्यतः ॥ १ ॥ अतः कारणादहं संयमश्रीरूपं धर्मं मुक्ति-  
 सुखदातारमङ्गीकरिष्यामि । ततो जम्बुकुमारस्य संवेगामृतसोदरैर्वचोभिः सर्वचौरयुतस्य प्रभवस्य चाष्टानां कन्यानां  
 वैराग्येण मनोवाञ्छितं जातम् । अष्टावपि कन्या ऊचुः—प्रमुखे सुखदैः स्वामिन् ! परिणामेऽतिदुःखदैः ।  
 इयत्कालं हहा कष्टं, विषयैर्वञ्चिता वयम् ॥ १ ॥ आपदां प्रथितः पन्थाः, इन्द्रियाणामसंयमः । तज्जयः  
 सम्पदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ २ ॥ यस्य हरतौ च पादौ च, जिह्वा च सुनियन्त्रिता । इन्द्रियाणि सुगुप्तानि, रुष्टो  
 राजा करोति किम् ॥ ३ ॥ तच्चद्विवाहसंबन्धा-दन्धे तमसि मज्जनात् । उद्धृताः स्मरस्वया यद्वा, श्रेयसे सङ्गतं सताम् ॥ ४ ॥  
 आस्थितरतत्त्वया एषः, श्रितोऽस्माभिरपि त्वयम् । सदैव नेतर्नेताऽसि, त्वमस्मान् शिवपत्तनम् ॥ ५ ॥ प्रभवोऽपि  
 दूधौ—धिगरमाकं ये वयं परधनहरणायोद्यताः स्मः । मया चौर्यद्यूतादिसेवाभिर्बहुपापमर्जितं तेन न ज्ञायते का गति-  
 र्भविता यतः—“चौर्यपापद्रुमस्येह, वधबन्धादिकं फलम् । जायते परलोके तु, चिरं नरकवेदना ॥ १ ॥” असौ

तु जम्बुरेवंविधः सुकुमाराङ्गः एवंविधां श्रियं कन्यायुतां त्यक्ष्यति । ततो योऽसौ मार्गमङ्गीकरिष्यति, स एव मया-  
श्रयितव्यः । एवं विमृश्य जम्बूपार्श्वे प्रभवोऽवगन्- । उवाच प्रभवोऽप्युच्चैर्भहासत्त्व ! भवद्गुणैः । कृष्टस्त्वामनुयास्यामि,  
स्वकानापृच्छय निश्चितम् ॥ १ ॥ ततो वैराग्यवारिताशयाः प्रभवादयः तत्क्षणात् शासनदेव्या बन्धनान्मुक्ताः  
प्रोचुः जम्बूकुमारं प्रति । वयं स्वकुटुम्बं मुत्कलयित्वा प्रभाते दीक्षां ग्रहीतुं भवता सार्द्धसागमिष्यामः । जम्बूः  
प्राह-भो प्रभव ! जीवानां मनांसि चञ्चलानि सन्ति । यतः-“क्षणं सक्तः, क्षणं मुक्तः, क्षणं क्रुद्धः, क्षणं क्षमी ।  
सोहाद्यैः कीडयेवाहं, कारितः कपिचापलम् ॥ १ ॥ एकाग्रमनसा ध्याता, देवा अश्मसया अपि । अचिरेणैव  
तुष्यन्ति, किं पुनश्चेतनो जनः ॥ २ ॥” तेन प्रमादो न करणीयः । “मज्जं विसयकसाया, निद्धा विकहा ॥”  
जल्पितं पालनीयं त्वया, भवदीयं वचः प्रमाणमित्युक्त्वा प्रभवश्चौरयुतः स्वस्थानं गतः । ततो जम्बूकुमारं सदारं  
दीक्षां जिघृक्षुं ज्ञात्वा श्वसुराः पितरौ च तमेवानुयियासवोऽभवन् । अथ जम्बूकुमारोऽपि विधिवज्जिनपूजां कृत्वा  
सप्तक्षेत्र्यां स्वधनं व्ययित्वा तुरङ्गारूढस्तामिः प्रियाभिः समं विशिष्टाभरणभूषिताङ्गः स्वमातापितृयुतः श्रीसुधर्म-  
स्वामिपार्श्वे ययौ दीक्षां ग्रहीतुम् । इतः प्रभवः स्वकुटुम्बं मुत्कलाप्य पञ्चशतीचौरयुतो दीक्षां ग्रहीतुं तत्रागात् त्रिःप्रदक्षि-

णीकृत्य पञ्चमगणधरं श्रीसुधर्मस्वामिनं प्रणम्य जम्बूवर्धजिज्ञप्त्—संसारसागरोत्तार !, कर्णधार ! सुनीश्वर ! मां सकु-  
 टुम्बं चारित्र-यानपत्रेण तारय ॥१॥ ततः स्वपाणिपद्मेन, गणधारिधुरन्धरः । स्वजनैरन्वितं जम्बू-कुमारं तमदीक्षयत् ॥२॥  
 दीक्षां पञ्चशतसप्तविंशतिश्राद्धानां दत्त्वा सुधर्मस्वामीति धर्मोपदेशं ददौ । तथाहि—एके जीवाः संयमं सिंहतुल्या  
 भूत्वा गृह्णन्ति शृगाला इव पालयन्ति, एके जीवाः शृगाला इव भूत्वा संयमं गृह्णन्ति शृगाला इव पालयन्ति,  
 एके पुनः जीवाः शृगाला इव संयमं गृह्णन्ति सिंहा इव पालयन्ति, एके पुनः जीवाः सिंहा इव शूरवृत्त्या संयमं  
 गृह्णन्ति सिंहा इव पालयन्ति । तेन भवद्भिश्चतुर्थमङ्गस्थैः संयमो निरतिचारः पालनीयस्तथा यथा करतलगता-  
 मुक्तिरपि भवति । प्रमादो न करणीयः, प्रमादेन संसारे अमणं भवति गृहीतसंयमानामपि । यतः—“ चउहसपुवञ्जी  
 आहारगावि मणनाणी वीयरगा य । होति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगइआ ॥ १ ॥ ” ततो जम्बूविशेषतस्तपः  
 परोऽभूत् । तत्रैव तस्य सुनीश्वरस्य स्तुतिः क्रियते यतिभिः । “ नवणवई कंचणकोडीउ, जेणुज्झिया अहु य बालियाओ ।  
 सो जंबूस्वामी पढमो मुणीणं, अपच्छिमो नंदउ केवलीणं ॥ १ ॥ ” जम्बूस्वामिप्रभृतिभिः शिष्यैः कलितः कलभैरिव-  
 यथनाथः श्रीसुधर्मस्वामी विहरन् चम्पानगर्या बहिरुद्याने समवासार्षीत् । तदा तदीयपादारविन्दं नन्तु धर्मं श्रोतुं

च बहवो जनाः समाययुः । लोकं गच्छन्तं दृष्ट्वा श्रीसुधर्मस्वामिनं वन्दितुं तदा श्रेणिकभूपुत्रः कोणिकोऽपि  
तत्रागात् । त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य श्रीसङ्घो धर्मं श्रोतुमुपविष्टः कोणिकयुग् । धर्मोपदेशमाहेति गुरुः—माणसखित्त-  
जाई, कुलरुवारुगामाउअं बुद्धी । सवणं गहणं सच्चा, रंजमो लोगंमि दुलहाइं ॥ १ ॥ कौशेयं कुमिजं सुवर्णमुप-  
लाइं दूर्वा च गोलोमतः, पङ्कात्तामरसं शशाङ्कमुदधेरिन्दिवरं गोमयात् ॥ २ ॥ इत्यादिदेशनान्ते कोणिकः श्राद्ध-  
धर्ममङ्गीकृत्य जम्बूमुनिप्रभृतिशिष्यवर्गमभ्युत्तमालोक्य पप्रच्छ । श्रीसुधर्मगुरो ! कोऽयं, द्विपेष्विव सुरद्विपः ।  
सुधांशुरिव धिणेषु, त्रिविवाद्रिवाद्रिषु ॥ १ ॥ शालिधान्यमिवास्त्रेषु, कल्पद्रुम इव द्रुषु । अम्भोधिष्विव  
दुग्धाब्धि—श्रम्पकं बुसुमेष्विव ॥ २ ॥ हिरण्यमिव लोहेषु, रसेष्विव सुधारमः । अञ्जुतस्तव शिष्येषु,  
सविशेषः प्रदीप्यते ॥३॥ त्रिभिर्विशेषकम् । ततः सुधर्मस्वामी गणभृत् जम्बूस्वामिनः प्राग्भवतः समन्धमशेषतः प्राह—  
पूर्वभवाजितेन तपसा ईदृशी संपदश्च ऋषेर्जाताऽस्ति । एतदाकर्ण्य राजा हृष्टश्चम्पापुरीं ययौ । लोका अपि प्राप्ताजिन-  
धर्मा गुरुं प्रणम्य खगृहं ययुः । सुधर्मस्वामी जम्बूभृतिसाधुसमन्वितो विहरन् श्रीमहावीरं नन्तुमगात् । सुधर्म-  
स्वामिपार्श्वे पठन् जम्बूयतिरेकादशाङ्गौ चतुर्दशपूर्वा च सूत्रार्थाः पपाठ । श्रीवीरनिर्वाणात् सुधर्मस्वामी दशमे

वर्षे जम्बूस्वामिने सारिपदं ददौ । विंशतितमे च वर्षे गच्छभारं धुरन्धरजम्बूस्वामिने वितीर्य मुक्तिपुरीं सुधर्मस्वामी  
ययौ । ततःश्रीजम्बूगणधरः प्राप्तकेवलज्ञानोऽनेकभव्याङ्गिनः प्रबोध्य प्रभवस्य सूर्येच्छभारं वितीर्य सूरिपददान-  
पुरसरं श्रीवीरनिर्वाण।त वर्षचतुःषष्ट्यां गतायां क्षीणाक्षेपकर्मा मुक्तिनगरीं ययौ । मनःपराऽवधी श्रेण्या, पुलाका-  
हारकौ शिवम् । कल्पत्रिसंयसा ज्ञानं, नासन् जम्बूमुनेरनु ॥ १ ॥ यतः—सणपरमोहि पुलाए, आहारगखवगउवसमे  
कप्पे । संजमतिथकेवलिसिऽक्षणा थ, जंलूमि वुछिञ्जा ॥ २ ॥ घनागैमेकप्रभवानि यस्य, माधुर्यधुर्याणि वचःफलानि ।  
निषेव्य भव्या भवतापमौऽञ्जन्, मुदे स जम्बूतररुद्धितीयः ॥ ३ ॥ इति जम्बूस्वामिप्रभवस्वामिदीक्षाकथा सप्तासा ॥ २८ ॥

भवभीरुर्विमुञ्चेत्, नाङ्गीकृतमभिग्रहम् । प्रतिकूलनिपातेऽपि, वंकचूलकुमारवत् ॥ १ ॥

तथाहि—विराटदेशे पृथ्वीभालविभूषणे पेढालपुरमस्ति । श्रीचूलराज्ञः पृथ्वीं पालयतः पुष्पचलाभिधपुत्रोऽभूत् ।  
पुष्पचूला पुत्री च । सम्प्राप्तयौवनः क्रमाद् द्यूतव्यसनी बभूव । चौर्यं कुर्वाणः पुष्पचूलो वक्रगमनेन लोकान्  
वञ्चयतिरम । तता लोकैर्वंकचूल इति नाम दत्तं तस्य । ततोऽन्यायीति कृत्वा पित्रा निष्काशितः । यतः—“ वैरवैश्वा-  
नरव्याधिवादव्यसनलक्षणाः । महानर्थाय जायन्ते, वकाराः पञ्च वर्द्धिताः ॥ १ ॥ द्यूतं सर्वापदां धाम, द्यूतं दीव्यन्ति

दुर्द्धियः । धृतेन कुलमालिन्धं, धृताय श्लाघ्यतेऽधमः ॥२॥ राज्यच्युतिं वल्लभया वियोगं, धृतान्नलः प्राप गतोऽरुभोगम् ।  
प्रचण्डतामण्डितबाहुदण्डा-रते पाण्डवाः प्रापुरण्यवाराम् ॥ ३ ॥ भार्योभगिनीभ्यां सह भिह्रीहल्लीराकसमलंकृतां कामपि  
पल्लीं वंकचूलो ययौ । तत्र पल्लीपतौ मृते तत्र वंकचूलोऽभूत् पल्लीपतिः । वंकचूलो बहुचौरपरिवृतो ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे  
रतैन्यार्थं याति । ज्ञानतुङ्गाचार्या विहरन्तोऽन्यदा वर्षाकाले वर्षति मेघे तत्रागताः । पल्लीपतिः प्राह—यदि यूयं कस्यापि  
धर्मोपदेशं न दत्त तदाऽत्र तिष्ठत । गुरुभिरुक्तमत्र कस्यापि धर्मोपदेशो न दास्यते स्वाध्यायाध्ययनतीव्रतपश्चरणकरणोद्यताः  
श्रीज्ञानतुङ्गसूरयो वंकचूलदत्ते गृहे स्थिताः । चतुर्गोरीं स्वाध्यायाध्यापनादिना नीत्वा पारणकदिने गुरवश्चलितु-  
कामा वंकचूलं प्रति जगुः—चतुर्गोरी गता चलिष्यामो वयम्, श्रीगुरुणां पृष्टौ तदा संप्रेषयितुं वंकचूलः कियत्प-  
रिवारपरिवृत्तश्चाल । वंकचूलग्रामसीमामतिक्त्व गुरुभिरुक्तं—भो वंकचूल ! इयं कस्य सीता ? । वंकचूलोऽत्रग-  
इयं सदीया भूमिर्न । ततो गुरवो जगुः—महानुभाग ! वयं निष्प्रत्यूहं स्वाध्यायाध्ययनादिपरास्तव ग्रामे स्थिताः ।  
अद्य यावत् कस्यापि उपदेशो न दत्तः । अधुना किमपि अग्रिग्रहं गृहाण । अभिग्रहेण जीवाः सुखिनो भवन्ति ।  
यतः—“नियमोऽखिललक्ष्मीणां, नियन्त्रणमशूखलम् । दुरितप्रेतभूतानां, रक्षामंत्रो निरक्षरः ॥ १ ॥” वंकचूलो

जगौ-भगवन् दीयताम् । ततो गुरवो जगुः-अज्ञातफलं १ काकमांसं च न भक्षणीये २, अनुरक्ताऽपि नृपपत्नी  
परिहार्या ३, प्रहारदानकाले च सप्तपदानि पश्चादपसर्तव्यं ४ इति नियमचतुष्टयं गृहाण । ततो वंकचूलेन गुरु-  
प्रोक्तं नियमचतुष्टयं गृहीतं प्रणम्य पश्चादागाढंकचूलः । स वंकचूलः कदाचित् कस्मिन् ग्रामे अवस्कन्दं दत्त्वा  
व्याघ्रुटितो मार्गे भ्रष्टोऽभूत् । अटव्यामटतस्तस्य लङ्घनत्रयं जातम् । ततो मनोहराणि फलानि दृष्ट्वा सेवकैः श्रैः  
प्रोक्तं-फलानि सन्त्यत्र तानि भक्ष्यन्ते । वंकचूलस्तानि फलानि वीक्ष्य पप्रच्छ-किं नामैषां फलानां तैरुक्तं नाम  
न ज्ञायते, वंकचूलेनोक्तं समाज्ञातफलभक्षणे नियमोऽस्ति, ततस्तैरुक्तमस्माकं नियमो नास्ति वयं भक्षयिष्यामः ।  
वङ्कचूलोऽवगू-अज्ञातफलानि नास्वाद्यन्ते । ततो वार्यमाणा अपि ते चौराः सश्रीकानि तानि फलानि बुभुजिरे ।  
ततः सद्यस्तेषु चौरेषु विपक्षेषु दध्यावेतानि विषफलानि, येषां भक्षणे मम गुरुमिर्नियमो दत्तोऽस्ति । ततः एका-  
व्येव निशि स्वपक्षीं प्राविश्य निशीथकाले स्वगृहे गतो वंकचूलः । वंकचूलो दधौ योऽयं नियमो यदि मम नाम-  
विष्यत्तदा समापि मरणमभविष्यत् । यतः-“सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य, जायन्ते जन्मिनः खलु । यो गृहीतं व्रतं नैव,  
मुञ्चते शुद्धमानसः ॥१॥” एकदा कस्मिंश्चिद् ग्रामे गते वंकचूले वंकचूलस्य वैरिनैर्कैर्नाटकमारब्धम् । ततो वंकचूल-



माकारयितुं तत्रागता नर्तिका गृहे । ततो वंकचूलभगिन्या ध्यातं—यदि वंकचलं ग्रामान्तरे गतं ज्ञास्यन्ति, ततो न सम्यक्  
इत्यादि विमृश्य आतुर्वेषं परिधाय तत्र गत्वोपविष्टा । नृत्यं विलोक्य दानं दत्त्वा स्वगृहे समेत्य आतृपत्नीयुता पुष्कचूला  
पुरुषवेषेण युता सुप्ताप । इतो वंकचूलो गृहमागतः । स्वां प्रियामन्यपुरुषयुतां पत्यङ्के सुप्तां वीक्ष्य क्रोधारुणलोचनः  
तयोर्द्वयोर्वधाय कृपाणमाकुष्य नियमस्मरणाच्च सप्तपदान्यपसृत्य यावत् प्रहारं दत्ते, तावत् संचलितखड्गप्रहार-  
प्रतिशब्देन जागरिता संभ्रान्ता पुष्पचूला जीवतु आता मम वंकचूल इत्यादि उच्चरन्ती उत्तरथौ । ततः प्रणामपूर्व  
वंकचलेन पुरुषवेषकारणं भगिनी पृष्टा रिपुनटानां समागमादि जगौ । ततो वंकचलो हृष्टो गुरुदत्तं नियमं ग्रहा-  
शंसेति—अहो ते गुरवो ज्ञानिनः । एकदा वंकचूलो वणिगृहे पितापुत्रयोर्लेखके कलहं वेक्ष्याणुहे वेक्ष्यां कुष्ठिनमपि  
कामयन्तीं वीक्ष्य कस्यापि भूपतेरन्तःपुरे भित्तिं विद्वार्यन्तः प्रविष्टो निशि राज्ञ्या हस्तो लग्नः । ततो राज्ञी तं कुमारं  
प्राह—मया सह भोगान् मुंक्ष्व बहूनि रत्नानि दारयामि तुभ्यम् । वंकचलो गुरुदत्तं नियमं स्मरन् प्राह—त्वं मम  
माता । ततस्तया विरक्त्या अयमुपपत्तिरिति पूकृते राजपुरुषैर्निबध्य प्रातर्भूपपार्श्वे नीतः । राज्ञा पृष्टः स वंकचूलो  
यथानुभतं रात्रिवृत्तान्तं जगौ । ततो राज्ञा कुट्यन्तस्थितेन रात्रिवृत्तान्तवेदिना तद्गुणरञ्जितेन स सामन्तीकृतः ।

राइयाः स्वरूपं जानन्नपि न प्रकटीचक्रे । स्वगृहस्वरूपं कस्याप्यग्रे न कथ्यते । यतः—“स्वचिन्तितं कुतं छद्मं,  
 गृहदुश्चरितं पुनः । वञ्चनं चापमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥ १ ॥ राजोपदेशेन वंकचूलश्रौर्यं मुत्तवा  
 सन्मार्गगामी बभूव । भूषादेशादन्येद्युः कमपि दुर्दान्तं वैरिणं जित्वा प्रहारविधुरो वंकचूलः स्वपुरमागात्  
 चिकित्सा क्रियते वैद्यैस्तस्य । तस्मात् प्रहारघाताद्व्यथयाऽन्येऽपि रोगा जाताः । उपचारे बहुक्रियमाणेऽपि  
 तस्य गुणो नाभूत् प्रत्युत दिनं दिनं प्रति क्षीयते शरीरं पथ्यं च न रोचते । ततस्तस्य रोगस्फेदनार्थं राज्ञा पटहोद-  
 घोपणा कारिता । योऽमुं जीवयति तस्मै यथेष्टं राज्यादि ददामि । तदा केनाप्यन्नागत्य वैद्येन (काक) मांसो-  
 षधं प्रोक्तम् । काकमांसं वैद्यैः कथ्यमानं वंकचूलः श्रुत्वा ऊचिवान्—अमध्यं काकमांसं ततो नाहं भक्षयामि ।  
 ततो राज्ञा जिनदासारव्यश्राद्धं धर्मकर्मभिन्नमाकारयितुं वंकचूलप्रबोधाय जनः प्रेषितः । यतः जीवस्य मित्रोक्तं  
 दुर्लङ्घ्यं भवति । जिनदासो वंकचूलपार्श्वे समागात् पप्रच्छ । बन्धो ! वंकचूल ! तव देहे समाधिरस्ति ? । वंकचूलो  
 जगौ—स्वागतं भवतो धर्मबन्धो ! समस्ति । देहे समेदृशं जातम् । यतः—“रोगायत्तमिदं देहं, कर्मपापं च जीवितम् ।  
 आराधना तवायत्ता, कुरु मित्र ! यथोचितम् ॥ १ ॥ अथोक्ते जिनदासोऽपि, तदाशयदिदृक्षया । काकमांसौषधं भुङ्क्व,

देहपाटवहेतवे ॥ २ ॥ साक्षेपं वंकचूलोऽथ, स्माह साहसिकाग्रणीः । कण्ठोपकण्ठनिश्रान्त-जीवितोऽथ सतां वरः ॥ ३ ॥  
देहश्चलाचलो रोगैः, सभरैरिव वारिदः । कः कृती तत्कृते कुर्यान्निजाभिग्रहखण्डनम् ॥ ४ ॥ प्रशंसापूर्वकं प्राह,  
शृणु मित्र ! यथोचितम् । एकत्वं सर्वथा जन्तोः, सर्वे भावा न निश्चलाः ॥ ५ ॥ तस्माद्विहे कुटुम्बे च, यौवने विभवे  
भवे । जीविते च प्रतिबन्धमकृत्ये मा कृथा वृथा ॥ ६ ॥ प्रतिपद्य चतुःशरणं, परमेष्ठिपरायणः । उत्तमार्थनिधिं  
कुत्राऽच्युते चूलो गतः सुधीः ॥ ७ ॥” ॥ इति वंकचूलकथा समाप्ता ॥ २९ ॥

उपसर्गान् सहमानो, जनः प्राणान्तगरकान् । लभते निर्वृतिं गज-सुकुमालयतीशवत् ॥ १ ॥

तथाहि—गजसुकुमालकथां सुलसानागश्रोष्ठिकुष्णआतृकथां विना न कथितुं शक्यते । तेनादौ तेषां रामबधः  
प्रोच्यते । भद्रिलपुरे नागश्रेष्ठी बभूव, तस्य प्रिया सुलसा । वसुदेवपार्श्वे कंसेन याचितानां सप्तानामपत्न्यानां मध्यात्  
षट् पुत्रा देवेन केनचित् नागपत्नीनिन्दुसुलसानाङ्गीगृहे मुक्ताः । सुलसया वद्धिताः क्रमेण तान् देवकीसुतान् षडपि  
द्वात्रिंशत् कन्याः परिणायिताः प्रत्येकम् । पडपि श्रीनेमिपार्श्वे प्रबुद्धा दीक्षां जगृहुः । रार्वे चरमशरीरिणो द्वाद-  
शाङ्गीभाजोऽभूवन् । स्वामिना सह द्वारिकां गताः ते षडपि यतयः षष्ठपारणेऽन्यदा युगलिनी भूत्वा त्रिधा द्वारका-

पुरीमध्ये विहर्तुं जग्मुः । प्रथमं साधुयुगलं श्रीकृष्णगृहे भिक्षायै गतं, तदा देवक्या वन्दित्वा मोदकैर्लाभितम् ।  
 तस्मिन् गते द्वितीयं साधुयुगलमागतं तदैव देवक्या प्रतिलाभितं मोदकदानात् । ततस्तृतीये साधुयुगले तादृशेन  
 रूपेण समागते देवकी विस्मिता मोदकैस्तत् प्रतिलाभ्य प्राह—मुहुर्मुहुः किं युवां विहर्तुमत्रायातौ दिङ्मोहो  
 जातोऽस्ति, अथवा पुरमध्ये भिक्षाऽलभ्यमानाऽस्ति, अथवा किं वम विभ्रनोऽभूत् । तत्साधुयुगलं प्राह—  
 महासति ! न तव दिङ्मोहोऽस्ति, वयं षडपि बान्धवाः सदृशाकाराः । भद्विलपुरवास्तव्यनागमुलसाश्रविकापुत्राः  
 स्मः । श्रीनेमिपार्श्वे दीक्षा गृहीताऽस्माभिः । द्वौ साधू पृथक् पृथक् तत्र गृहे विहर्तुमायाताः स्मः ।  
 ततो देवकी दृष्ट्यै—षडपि साधवोऽमी कृष्णस्य तुल्या दृश्यन्ते । तिलमन्त्रेणापि एतेषां कृष्णस्य चान्तरं न दृश्यते  
 अतिमुक्तमुनीन्द्रेण, जीवदृष्टसुताः पुनः पुराख्याताः स्म तत्किं तु, ममैवामी षडङ्गजाः ॥ १ ॥ इति संशयापन्ना  
 देवकी द्वितीयेऽहि श्रीनेमिपार्श्वे स्वसंशयापनोदाय गता । यात्रदेवकी प्रभुं प्रणम्य यावज्जल्पति तावत् । आवज्ञेऽथ  
 प्रभुः स्माह—पडमी सूनवस्तव, जीवन्तः शत्रुसेनाद्या वर्द्धिताः सुलसया ॥ १ ॥ तत् उत्प्रसवस्तनी देवकी साधून्  
 षडपि वन्दते स्म । ततो देवकी प्राह स्वामिन् ! मयैकोऽपि नन्दनो न ललितस्तेनातीव दुःखं विद्यते मे । जगौ-

स्वामी-देवकि ! किं तास्यसि, तव प्रागुक्तं कर्मात्र फलितम् । त्वया सपत्न्याः सप्त रत्नानि हतानि प्राग्भवे । तस्या रुदन्त्याः पुनरप्येकं रत्नं प्रपञ्चेन समर्पितम् । ततः प्रभुं प्रणम्य प्राप्तुं कर्म निन्दन्ती देवकी स्वगृहे गत्वा कृष्णास्याऽस्थात् । मातरं दुःखितां वीक्ष्य कृष्णाऽवगू-मातः ! किं तव दुःखमस्ति । देवक्यवगू-पुत्र ! निष्फलं मम जीवितम् । त्वज्ज्येष्ठान् सुलसा बाल्ये, यशोदा त्वामपालयत् । अपूर्यत न मे बाल-लालनस्य मनोरथः ॥ १ ॥ वत्स ! तस्मादहं पुत्रभीहे वाञ्छितपूर्तये । बाललालनहर्षो हि, देवानामपि दुर्लभः ॥ १ ॥ विष्णुराचष्ट-मातः ! खेदो न कार्यस्त्वया । देवं वासवध्वजिनीपतिमाराध्य तव मनोरथः पूरयिष्यते मया । कृष्णेनाराधितो देवो हरिणेगमेषी प्रकटीभयावग-देवक्याः पुत्रो भविष्यत्यष्टमः, परं प्रासतारुण्यः प्रव्रजिष्यति । ततः कियत्यपि काले गते कोऽपि महर्द्धिदेवः स्वर्गाच्च्युत्वा सुखप्रसूचितो देवक्याः कुक्षाववतीर्णः । क्रमाद्देवकी पुत्रमसत । पुत्रजन्मोत्सवं कारयित्वा वसुदेवो गजसुकुमालेतिनामादात् । ततो निरन्तरं देवकी स्तन्यपानदानोत्सङ्गरोपणादिना वर्धयामास । मातुर्भ्रातुश्च नेत्राणि प्रमोदयन् क्रमाज्जल्पन् मनोहरं प्रमोदं ददानो गजसुकुमालो व्यवर्धत । प्रासथौवनो गजसुकुमारो द्रुमम-हीपतेः प्रभावत्याख्यां कन्यां परिणिन्ये पितुराज्ञया । अथ सोमशर्माद्विजस्य पुत्री सोमाह्वामनिच्छन्नपि गजसुकुमालो

माताभ्रातृभ्या परिणायितः । अथ तस्मिन्नेव दिने श्रीनेमिनाथो बहिरुद्याने समवासासार्धितः । तदा श्रीसमुद्राविजयराजा  
 कृष्णश्च सपरिवारो धर्मोपदेशमाकर्णयितुं श्रीनेमिनाथपार्श्वे ययौ । भगवांस्तत्रेति धर्मोपदेशं ददातिस्म । “ निर्दन्तः  
 करटी हयो गतजवश्चन्द्रं विना शर्वरी, निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरुः । भोज्यं निर्लवणं सुतो गत-  
 गुणश्चारिन्नहीनो यति—निर्देवं भुवनं न राजति तथा धर्मं विना पौरुषम् ॥ १ ॥ इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा गजसुकु-  
 मालो वैराग्यवासितस्वान्तः पितरावापृच्छय भार्यायुग्ं दीक्षां जग्राह । यतः—“ जह चयइ चक्कवट्टी, पवित्थरं  
 तत्तिथं मुहुत्तेण । न चयइ तहा अहन्नो, दुबुद्धी खप्परं दमओ ॥ १ ॥” ततः प्राप्तसंयमो गजसुकुमालो वैराग्य-  
 वासितो नित्यं षष्ठाष्टमदशमादितपः कुर्वाणो नगराद्बहिः कायोत्सर्गं स्थितो ध्यानपरः परमात्मलीनोऽभूत् । अन्येद्युः  
 प्रभुमापृच्छय इमशाने सायं प्रतिमया गजसुकुमालं दृष्ट्वा सोमशर्मणा द्विजेन ध्यातं—अयं पापी मदीयां पुत्रीं परिणीय  
 तत्कालमेवं चकार । ततः स द्विजाधमः क्रुद्धो गजसुकुमालमूर्ध्नि शकटीं मुक्त्वा [घटीकंठं च मुक्त्वा] तदुपरि चितातो  
 उवलदद्गारकालानीय ममोच । तैरङ्गारैर्गजसुकुमालस्य कर्मेन्धनानि सर्वाणि तथा दग्धानि, यथा क्षणमात्रात्केवल-  
 ज्ञानमुत्पन्नं मुक्तिरप्यभूत् । अथ कृष्णः प्रभुं नन्तुं गतो गजसुकुमालमसमीक्ष्य क्व मे आताऽस्ति इति प्रभुं पप्रच्छ ।

प्रभुणोक्तं—द्विजान्निर्वाणमभूत्तस्य । हरिस्तत्प्रभुवनः श्रुत्वा मूर्च्छामाप । पुनः पप्रच्छ कृष्णः—कथं केवलज्ञानं जातम् ? । प्रभुराह—द्विजसाहाय्यात्, द्विजेन मस्तके अङ्गारभृता शकटी मुक्ता, तेन कर्मर्भक्षयोऽभूत् । यदि स द्विजोऽधुना साहाय्यं नाकरिष्यत् तस्य कर्मक्षयविषये तदा नहुकालेन कष्टात् कर्मक्षयोऽभविष्यत् । यथा अद्य त्वया मार्गे आगच्छता विप्र पुकाभेकामिष्टिकां वहन् देवकुलिकार्थे दृष्टः । ततस्त्वया एकेष्टिका तत्र नीता । ततः सर्वेण परिवारेणापि नीता बन्दी ततस्तस्य द्विजस्य प्रासादो निष्पन्नः । क्षणमात्रेण तस्य द्विजस्य इष्टिकावहनकार्यं समाप्तं तव साहाय्यात् । तथा गजसुकुमालस्यापि तस्य द्विजस्य साहाय्यात् सर्वकर्मर्भक्षयोऽभूत् । तस्योपरि त्वया कोपो नानेयः । कृष्णेन प्रोक्तं—किं नाम स द्विजः ? । प्रभुणोक्तं—अद्य त्वां प्रतोल्यां प्रविशन्तं वीक्ष्याकस्माद्यस्योदरस्फोटनान्मृत्युर्भावी स एव ज्ञेयः । ततो मुकुन्देनाग्निसंस्कारः कृतः । प्रभुणा शोक उत्तारितः । ततो विष्णुः प्रभुं नत्वा निरससार । स द्विजो वनादागच्छन् कृष्णमागच्छन्तं वीक्ष्य हृदयस्फोटनान्मृतः । तमकस्माद्विप्रं मृतं दृष्ट्वा विप्र उपलक्षितः । क्रमयोर्दोरिकां बन्धयित्वा पुरीमध्ये भ्रामितो द्विजः । पटहो वादितश्च कृष्णेन । यो यतीनां हन्ता भविष्यति स एवं विगोष्ठो मया । ततो देवक्या अनित्यतादिदर्शनैः प्रभुणा शोक उत्तारितः । ॥ इति क्षमायां गजसुकुमालकथा समाप्ता ॥ ३० ॥

व्याघ्रादिमर्त्यविहिता-नुपसर्गान् बहून् दृढान् । प्राप्नोति चिन्तितं स्थान-मवन्तीसुकुमालवत् ॥ १ ॥  
 तथाहि-अन्येद्युः श्रीसुहस्तिसूरयो भूवल्यं प्रबोधयन्तो देवाधिदेववन्दनार्थमवन्तीं ययुः । तत्र भद्रः श्रेष्ठी  
 वसतिस्म । तस्य भद्रा प्रिया । तयोर्धर्मकर्मकुर्वाणयोरन्येद्युः सत्त्वप्रसूचितो नन्दनोऽभूत् । जन्मोत्सवः पित्रा  
 कारितः । क्रमात्तस्यावन्तीसुकुमालेति नाम पित्रा दत्तम् । मातापितृभ्यां धर्मकर्मशास्त्रं पाठितः पुत्रः । पुनरवसरे  
 द्वात्रिंशन्महेभ्यानां पुत्रीद्वात्रिंशद् देवकुमारीसोदरा अवन्तीसुकुमालः परिणायितः पित्रा । अन्येद्युस्तत्र भद्रमनु-  
 ज्ञाप्य भद्रदत्तोपाश्रये श्रीसुहस्तिसूरयः स्थिताः । तत्र प्रदोषे तेऽन्येद्यु-राचार्या मधुरया गिरा, गुणयन्तिस्म  
 नलिनी-गुल्माध्ययनमादरात् ॥ १ ॥ ललन् भद्रात्मजोऽवन्ती-सुकुमालो निजालये । द्वात्रिंशत्कामिनीजानि-रुन्निद्र-  
 स्तत्तदाऽशृणोत् ॥ २ ॥ अवन्तीसुकुमालोऽध्ययनं तद्गुरुभिर्गुण्यमानं श्रुत्वा दध्यौ-किसिदं गुरुभिरुच्यमानं मया  
 दृष्टमारित नलिनीगुल्मविमानमिति पुनः पुनरुहापोहपरोऽवन्तीसुकुमालो जातिस्मृतिवानभूत् । अहं प्राग्भवे  
 नलिनीगुल्मविमाने देवोऽभवम् । नलिनीगुल्मविमानसुखात्रत्यशर्मणोर्मरुसर्वपयोरिवान्तरं विद्यते । तेन यदि तत्सुखं  
 प्राप्यते तदा वरम् । यतः-“ देवाणि देवलोए, जं च सुखं तं नरो सुभाणिओवि । न भणइ वाससएणवि,



जरस वि जीहासयं दुज्जा ॥ १ ॥ ” एवं विमृश्य गुरुपाश्चै गत्वा गुरुन् भक्त्या नत्वाऽवन्तीसुकुमालो  
जगौ भगवन्तो ! यूयं किं नलिनीगुल्मविमानादत्राधुना समायाताः । येन श्रीपूज्यैः तत्रज्यस्वरूपं कथ्यमानमस्ति ।  
गुरुभिरुक्तं-वयं तत्राधुना न गताः स्मः । किंतु श्रीरिद्धान्तोत्तमधुना श्रीनलिनीगुल्मविमानस्वरूपं गण्यमान-  
मस्ति । तस्मिन् नलिनीगुल्मविमाने सन्ति ये देवास्तेऽतीव सुखिनः सन्ति । अवन्तीसुकुमालः प्राह-अहं तु ततो  
विमानादायुगः क्षयादत्रोत्पन्नोऽस्मि । तस्य विमानस्य सुखस्मरणादहमत्र स्थातुं न शक्नोऽस्मि । अधुना एता वध्वो  
राक्षसीतुल्याः शोभन्ते ताभ्यो देवनारीभ्यः । तेनात्र क्षणं स्थातुं न शक्न्यते । तथा कुसु यथा मयं दीक्षां दत्त्वा  
जन्म कृतार्थं करोमि । एता वध्वो व्याधय इव मम भान्ति । तेन संयमं मयं ददत यूयम् । गुरुभिरुक्तं-माता-  
पितृबन्धनामनुमतिं विना दीक्षां दातुं न शक्न्यतेऽस्माभिः । ततस्त्वरितं तत्र विमाने गन्तुकामेनावन्तीसुकुमालेन  
स्वयं संयमं गृहीत्वा गुरुभूत्वा इमंज्ञानवने गत्वा कायोत्सर्गो स्थितम् । तदा पञ्चाश्रवसम्बन्धिनी  
प्रिया शिवाभूता तत्रागता । अवन्तीसुकुमालं कायोत्सर्गं दृष्ट्वाऽतीव कोपाविष्टा तं तथा खंडशश्च-  
कार शिवा, तदा शुभघ्यानादवन्तीसुकुमारो मृत्वा तदानीं नलिनीगुल्मविमाने गतः । प्रातः मातापितरौ

प्रियाश्चावन्तीसुकुमालस्य मृदुरद्वरूपमवगत्य दुःखिता अभूवन् । ततो गुरुभिरतिशयज्ञानिभिस्तत्राभ्येत्योक्तं—असौ अवन्तीसुकुमालो नलिनीगुल्मविमाने ययौ । अत्रत्यं सुखमस्य न रोचते । ततो यथा तेन दीक्षा गृहीता, यथा कर्म क्षिप्त्वा नलिनीगुल्मविमाने गतः । तथा गुरुभिरुक्तं—यत्रावन्तीसुकुमालः कर्म क्षिप्त्वा स्वर्गं गतः । तत्स्थाने महाकालनाम्ना प्रासादं महान्तं मातापितरौ कारयामासतुः । श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां स्थापयामासतुश्च । ततः सर्वाः

प्रियारता वैराग्याद् दीक्षां ललुः ॥ इति अवन्तीसुकुमालकथासम्बन्धः समाप्तः ॥ ३१ ॥

पात्रे ददाति यो वित्तं, नित्यं शक्त्या सुभक्तितः । सौख्यानां भाजनं स स्या-द्यथा धन्योऽभवत् पुरा ॥१॥  
पश्चात्तापं प्रकुर्वन्ति, दत्त्वा दानं मुनौ च ये । दुःखानां भाजनं ते स्यु-र्यथा धन्याग्रजाः क्षितौ ॥ २ ॥

तथाहि—प्रतिष्ठानाख्ये पुरे अम्रङ्कषजिनचैत्यालङ्कृतं जितशत्रुराजा राज्यं करोतिस्म न्यायाध्वना । य(इ)तः पूर्वं लज्जमानमेकं कुटुम्बकं निःश्रीकं तत्र पुरे आजीविकाकृते समागमत् । तत्रैको बालको दाता, विनयी करुणापरः । वत्सरूपाणि लोकानां, चारयामास वृत्तितः ॥ १ ॥ कस्मिंश्चिदुत्सवे उद्याने लोकान् परमान्नादिप्रवराहारभक्षण-परान् वीक्ष्य वत्सरूपाणि तत्र मुक्त्वा गृहेऽभ्येत्य च मातुरग्रे दारकः प्राह—मातरद्य लोकाः परमान्नं भक्षयन्तः

सन्ति । तेन ममपि तद्देहि । मात्रोक्तं—पुत्र ! द्रव्यं विना कथं मया परमान्नादि तुभ्यं दास्यते । स पुत्रः प्राह—  
मातः ! यथा तथाऽऽनीय तन्मह्यं देहि । यतः—“ चोरा य चौल्लिका विय, गंधी विज्जा य भट्टपाहुणया । वेसा-  
धुत्तनरिंदा, परस्स पीडं न याणंति ॥ १ ॥ ” ततस्तेन पुत्रेण रुदताऽत्यर्थं माता मार्गिता तदप्राप्नुवती सरोद । तां  
रुदन्तीं वीक्ष्य प्रातिवेशमव्यस्तदुःखदुःखिता अप्राक्षुर्दुःखकारणम् । तया च पुत्रमनोरथः प्रोक्तः । ताभिरार्द्र-  
चित्ताभिः प्रातिवेशिमकाभिः पृथक् पृथक् क्षीरादिकं दत्तम् । आन्ना संस्कृत्य परमान्नं खंडादियुतं पुत्रस्थाले परिवेश्य  
कार्येण केनचिदन्यत्र गतम् । इतः सुकृतैराकृष्टस्तस्य गृहाङ्गणे मासक्षपणपारणे विहृत्यर्थमागान्मुनिः ।  
दृष्ट्वा तं मुनिमनम्रवृष्टिमिव रोमाञ्चकञ्चुकितबाल उत्थाय पाणिभ्यां पायसस्थालं गृहीत्वा प्रणम्य चावग-  
भगवन् ! इदं परमान्नं प्रासुकं विद्यते । कृपां कृत्वा समोपरि गृहाण, येनाहं कृतार्थो भवामि । तच्छुद्धमाहारं  
मत्वा मुनिः पात्रमधारयत् । धन्यमन्योऽर्भकः सोऽपि परमान्नं तस्मै ददौ । तस्मात् पात्रदानतः स मनुष्यायु-  
र्बबन्ध । ततो माता समागात्, रिक्तं स्थालं वीक्ष्य पुनः पुत्राय परमान्नं पर्यवेशयत् माता । बहु परमान्नं भक्षितं  
तेन । ततः स एव बालो बहिर्गतो वत्सरूपाणि गवेपयन् महर्षिं प्रणम्य तस्याग्रे उपाविक्षत् । “ दुष्प्रापं प्राप्य

मानुष्यं, कार्यं तत् किञ्चिदुत्तमैः । येनाशु लभ्यते मुक्ति-सातं संसारिणा स्फुटम् ॥ १ ॥ संसारंमि असारं, नत्थि  
 सुहं वाहिवेयणापउरे । जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं ॥ २ ॥ ” इत्यादि तत्पार्श्वे धर्मोपदेशं  
 श्रुत्वा हृष्टो बालस्तस्यामेव रात्रावकस्माद्विशूचिकया मृतः सन् गोपालः तत्रैव पुरे धनसागरस्य श्रेष्ठिनः शीलवती  
 प्रियाया गर्भे पुत्रत्रयोपरि वर्धस्वप्नसचितोऽवततार । ततः क्रमात् सा पुत्रं प्रासूत प्रशस्तेऽहनि उच्चैः स्थितेषु ग्रहेषु, तेषां  
 पुत्राणां नामानि क्रमान्मातापितृभ्यां दत्तानि । धनदत्तः १ धनदेवः २ धनचन्द्रः ३ धन्यः ४ । आद्यत्रयाणां  
 पुत्राणां क्रमात् प्रिया अभवून् । धनश्री १ धनदेवी २ धनचन्द्रा ३ । धन्यजन्मनि तन्नाले इलातले निधीयमाने  
 निधानं निःसृतं तेन धन्योऽयं नाम कृतं तस्य । धन्ये वर्द्धमाने क्रमात् श्रेष्ठिगृहे दिने दिने लक्ष्मर्विवृधे । समये  
 कलाचार्यपार्श्वे सकला धर्मकर्मकला ग्राहितो धन्यो मातापितृभ्याम् । धन्यस्यातीव गौरवे क्रियमाणे त्रयोऽपि सोदरा  
 ज्येष्ठाः पित्रोरग्रे प्रोचुः—एकोदरभवस्यास्य क्रियते किमादरोऽधिकोऽस्मभ्यम् । ततः पितरावचतुः—गुणैरेष पूज्यः, यतः—  
 “ गुणा एव हि पूज्यन्ते, नतु ज्ञातेयडम्बरः । वानेयं गृह्यते पुष्प-मङ्गजस्त्यज्यते मलः ॥ १ ॥ ” भूयो बभूविरे  
 ते भ्रातरः पितरं प्रति-परीक्षा क्रियतामिति । द्वात्रिंशद्रूपकांस्तेभ्यः पृथक् पृथग् दत्त्वा उक्तास्ते । पणायित्वा नौ

लाभं दर्शयिष्यथ यूयम् । प्रवृत्ता व्यवहर्तुं ते तु । धन्यस्तु बलाढ्यं मेढकं लात्वा राजपुत्रमेढकेन सममयोधयत् । दीनाराणां सहस्रं पणीकृतं, यस्य मेढको हारयति सोऽन्यस्मै दीनाराणां सहस्रमर्पयति । तथा धन्यराजपुत्रमेढकयो-  
गुध्यमानयोर्धन्यमेढकेन जितम् । ततो दीनारसहस्रं तत्र धन्येनार्जितम् । धन्यो दीनारसहस्रं लात्वा गृहमाययौ ।  
अपरे सोदराः स्वल्पलाभाः समाययुः । धन्ये प्रशंसिते मातापितृभ्यां पुनस्ते द्वितीयेऽहनि प्रोचुः—एकशोऽधानेना-  
र्जितं धनं तेनास्य वर्णनं क्रियते । अस्माभिस्तु बहुशो धनं पुरा यदार्जितं तद्विस्मृतं किं क्रियते । पुनः परीक्षा  
क्रियताम् । ततः पितृभ्यामर्पिताः षष्ठिः कल्याणमाषकास्तेभ्यः पृथक् पृथक् [ दत्ताः ] । सर्वादरेण व्यवसायं कृत्वा  
अप्राप्तलाभास्त्रयोऽपि गृहमाययुः । धन्यस्तु धीमान् धर्मधुर्य आपणमध्ये गत्वा पणायोपाविशत् । इतस्तत्र  
महाधनः श्रेष्ठी कृपणशेखरो भरिभिरारम्भैर्धनमर्जयामास । दत्ते किमपि नो धर्मे परिवारस्यापि जीर्णवस्त्रान्नदानं  
विश्राणयति, स्वयं जीर्णं वस्त्रं परिधत्ते, धान्यं बर्जरीसंसक्तमन्नं मुञ्चे । घृतस्थाने तैलमेव स्तोकं मुञ्चे । वार्षिकादिपु-  
र्वसु मनागपि धनं न व्ययति स्म । ताम्बूलस्य स्थाने गुंदिकादिपत्राणि भक्षयति स्म । अन्यं पुरुषं धनं व्ययन्तं  
वीक्ष्य शिरोर्त्तिर्भवत्यस्य । लक्ष्मीर्लक्ष्मीरिति कुर्वन् क्षणमपि विश्रामं न गृह्णाति । खनित्वाऽन्यदा गृहस्थान्तर्गतं

द्रव्येण पूर्णचक्रे श्रेष्ठी । खट्वामन्तः शुषिरां कृत्वा रत्नोच्चयेन मध्ये पूरयामास । तां खट्वां गर्तोपरि स्थापयित्वा रात्रौ  
 द्रव्यरक्षायै स्वपिति मूर्छया श्रेष्ठी । न वेत्ति मूढचित्तोऽसौ यद्दानेन लक्ष्मीर्भवति । जराजीर्णज्ञो मृत्युकोटिं गच्छन्  
 सन् श्रेष्ठी सुतैः खट्वाया अधः उत्तारयितुमारेभे यावत् तावच्छ्रेष्ठी जगौ । मां मा उत्तारयत यूयं खट्वाया अधः । अस्या-  
 मेव सुप्तस्य समाधिरस्ति । पुत्रैः प्रोक्तं—तात ! यदीच्छा कस्याश्रिता भवतो भवति सा निवेद्यताम् । ततः स श्रेष्ठी मोहात्  
 धनस्य स्वरूपं नाचीकथत । प्राह च श्रेष्ठी—अपरेण पुण्येन सूतं, सया सार्द्धमेषा खट्वा ज्वालनीया, लोभेनैवं श्रेष्ठी जगौ ।  
 यतः—“तृष्णाखानिरगाधेयं, दुष्पूरा केन पूर्यते । या महद्भिरपि क्षितौ, पूरणैरेव खन्यते ॥ १ ॥ अधः क्षिपन्ति  
 कृपणा, वित्तं तत्र यियासवः । सन्तरतु गुरुचैत्यादौ, तदुच्चैः फलकाक्षिणः ॥ २ ॥” पुत्रैर्हृष्टैरुक्तं—तातैवं करि-  
 व्यतेऽरमाभिर्भवदुक्तम् । ततः श्रेष्ठी विपन्नः । खट्वायुतो रत्नव्यतिकराऽविज्ञैः पुत्रैः श्मशानभूमौ नीतः । श्मशा-  
 नपालकैः खट्वायां याचितायां श्रेष्ठिसुतैः सह कलिरजनि । ततः कलिभीतैः श्रेष्ठिपुत्रैः खट्वा चाण्डालेभ्योऽर्पिता ।  
 सा खट्वा श्मशानेशेन विक्रेतुं चतुष्पथे स्थापिता । तां खट्वां सगर्भां सलक्षणां ज्ञात्वा जग्राह धन्यः । यतः—  
 “तृणत्रल्ल्यादिभिश्छन्नं, भूम्यां दूरगतं निधिम् । अपश्यन्तोऽपि चक्षुर्भ्यां, बुद्ध्या पश्यन्ति धीधनाः ॥ १ ॥” ततस्तां

खट्वां गृहे नीत्वा रत्नानि बहिः कर्षयित्वा जनकायार्पयामास धन्यः । ततः श्रोष्ठिना धन्यः सम्मानितः । ततो धन्यस्य कीर्तिः प्रससार । ततस्तद्भ्रातृणां तदा तीव्रमत्सरोऽभूत् । ततस्ते सहोदरा ईर्ष्यालवस्तं हन्तुमिच्छन्ति सदा । तद्भर्तृचेष्टितं ज्ञात्वा भ्रातृजाया देवराय न्यवेदयन् प्रीत्या, अथ सोऽत्रक्-नापराद्धं मया किञ्चिदमीषां तदमी कथं द्रुह्यन्ति । ता अप्यूचुः-वत्सेदृक्षाः खलाः खलु । यतः-“ नाकारणे रुषां सङ्ख्याताः कारणाः कुधः । कारणेऽपि न कुप्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः ॥ १ ॥ ” ततो धन्योऽध्यासीत्-मयाऽत्र न स्थेयं विमोत्पत्तेः मां दृष्ट्वा भ्रातृणां दुःखं भवति । यतः-“ परपीडां न कुर्वन्ति, महान्तो हि कदाचन । तेन नात्राधुना स्थेयं, मया क्षणमपि स्फुटम् ॥१॥ ” ध्यात्वैति निशि छन्नं धन्य एकाकी असहायः स्वपुरान्निस्ससार । धन्यः ततो ग्रामपुराकरादिसंकुलां विपुलां बभ्राम । वर्याकारः पुमानिति ध्यात्वा क्षेत्रक्षेन भोजनार्थं न्यमन्त्रयत् । आसिनो जेभितुं यावद्धन्यः तावत् कुटुम्बिप्रिया भक्षाहर्त्री समागात् । क्षेत्रक्षेनोक्तं-अमुमतिथिं भोजय, कोऽप्ययं धन्यः पुमान् अस्ति । यतः-“ अपूजितोऽतिथि-र्थस्य, गृहाद्याति विनिश्चितम् । गच्छन्ति विमुखास्तस्य, पितरः सह दैवतैः ॥ १ ॥ ” परमान्नं तथा तस्मै परिवेषितं तदाऽकस्मात् कौटुम्बिकस्य हलं खेटयतो हलं कलशकर्ण्ठेऽलगत । ततः स्वर्णपूर्णं कुम्भं

निर्गतं दृष्ट्वा कौटुम्बिकोऽवग्—भो अतिश्रे ! गृहाण त्वममुं निधिम् । त्वद्भाग्यान्निर्गतोऽयं  
निधिः, यथेच्छं मुंक्ष्व । तत उदारप्रकृतित्वात्तं निधिं तस्मै दत्त्वा ततोऽचलत कृतप्रणामो धन्यः ।  
ततश्चलन् राजगृहपुरवाह्योद्याने गत्वा धन्यो निषेदिवान् । पूर्वं शुष्कं वनं देवानुभावतो धन्यपुण्यप्रभावात्तदा  
पुष्पितं फलितं चाभवत् । धन्यस्य प्रभावात् स्वं वनं फलितं पुष्पितं दृष्ट्वा हृष्टोऽभून्मालिकः । नीत्वा तं गृहे मालिकः—  
सद्भार्तिकं चकार भोजनदानात् । राज्ञोऽथ श्रेणिकस्याभूत् सोमश्रीर्नाम्ना पुत्रिका । स्वसा च शालिभद्रस्य सुभद्रेति कनी-  
यसी बभूव । तथा कुसुमपालस्य पुष्पवत्याहसुताऽभूत् । तार्श्चकदिवसजातत्वात् सर्वा मिथः सख्योऽभवन् । ता  
मिथोऽनुवन्निति कन्याः यदि अस्माकमेकः पतिर्भवति तदा त्रियोगो न स्यात् । अन्यदा पूष्पवत्यूचे सखी-  
पुरः धन्योऽयं गुणवान् दृश्यते, तेनैवायं नो भर्ता भवति तदा वरम् । ततः सोमश्रीः पितुरग्रेऽवग्—धन्यो मे भर्ता  
भवतु । ततो हृष्टेन राज्ञा सोमश्रीर्धन्याय दत्ता । ततो भद्रया मालिकेन च स्वपुत्र्यौ तस्मै दत्ते । ततो राज्ञा  
धन्याय भूरिशो ग्रामा दत्ताः । धन्यो भोगान् मुञ्जे प्राक्कृतपुण्ययोगात् । अन्यदा धन्यो गवाक्षस्थः प्रियाभिस्ताभिः  
समं रममाणो मातापितरौ चातिदुःखितौ राजमार्गे गच्छन्तौ ददर्श । द्वाःस्थेनानाद्य संस्थाप्य तौ पितरौ सहस्र-



भरणैर्भूयसित्वा सप्रियो धन्यः प्रणाम भक्त्या, पुनर्नत्वाऽपृच्छत् धन्यः । क्व गतं तत्सर्वं धनम् ? ।  
तौ पितरावचतुः—त्वद्गमनादनु धनगपि गतम् । कमात्स्वमत्रस्थो भूपादिविश्राणितपुत्रीकः श्रुतोऽस्माभिः । तेनात्रा-  
गमाम नयम् । पुनरपि धन्योऽभ्यधात्—मातर्भे आतरः क्व गताः । साऽवोचत्—ते त्रयोऽपि लज्जमाना बहिः स्थिताः  
सन्ति । धन्यस्तु तान् आतून् तत्रानाश्रय सन्मानदानपूर्वं पृथग् ग्रामान् ददौ तेभ्यः । यतः—“ सन्तः स्वभावतः  
सर्व—शत्रुभिन्नादिषु स्फुटम् । करुणावारितस्वान्ताः, भवन्ति प्रतिवासरम् ॥१॥” ततः सर्वं कुटुम्बं सन्मानदानतः धन्यः  
प्रीणयतिरम । मातापितरौ धन्यं धन्यमिति जल्पतः । यदा ते गोदरा धन्ये मत्सरं कुर्वन्ति धन्यश्लाघामसहमानास्ते  
गृहन्विच विभज्य पृथक् स्थातुं जल्पन्ति । ततः श्रेष्ठी दध्यौ । निर्भाग्यशेखरा एते नन्दना ध्यात्वेति तान् प्रति  
श्रेष्ठी जगौ—धन्ये गत्सरो न क्रियतेऽस्यैव भाग्यं वर्तते । ते प्रोचुः पुनः पुनर्थत्तात ! त्वया धन्यश्लाघा क्रियते नैत-  
द्युक्तम् । यदा पूर्वमात्मनो गृहान्निर्गतः तदात्पीयगृहाद्रत्नानि बहूनि लाल्वा गतः । तेनात्र तैरत्नैर्भह्मिर्ल्लिको जातो  
राज्ञा सम्मानितश्च । तातपादाः प्रकुर्वन्ति श्लाघां धन्यस्य । अद्य पृथग् भवनं विना अस्माभिर्न भोक्ष्यते ।  
इति आतृवचः श्रुत्वा धन्यः पुनः स्वकुटुम्बं पुनं मुक्त्वा रात्रावेव शनैर्निर्गतो दूरदेशं यातुम् । नानादेशान् भ्रान्त्वा

कौशाम्ब्यां ययौ धन्यः । तत्र शतानीको राज्यं करोतिस्म । तस्य कोशे एकरत्नममूल्यमस्ति । परीक्षां तस्य कोऽपि न  
 वेत्ति । ततः पुरे तत्र राज्ञा पठहो वाहितः । ओ रत्नस्यास्य परीक्षां करोति तस्य तुष्टो राजा हस्तिनां शतमेकं  
 वाजिनां शतपञ्चकं सौभाग्यमञ्जरीपुत्रीं आमपञ्चशतीयुतां दास्यति । ततो धन्यस्तं पठहं तदा स्पृष्ट्वा राजसभायां  
 ययौ । ततस्तेन धन्येन तस्य रत्नस्य परीक्षा कृता, यथा सर्वा सभा चमत्कृता । राजा पुत्रीं तस्मै दत्त्वा ग्रामादि  
 पूर्वोक्तं ददौ महोत्सवपुरस्सरम् । ततः साधुरसौ इति तस्य धन्यस्य लोके ख्यातिरभूत् । द्रव्यार्जनकृते नराः तेन  
 धन्येन प्रेषिताः देशेषु भूरिषु । अन्येद्युः धन्येन ख्यात्यर्थं लोकाचारस्वभावतः पुराद्वहिः सरः खानयितुमारब्धम् ।  
 इतः श्रेष्ठीगृहे धन्ये निर्गते धनं सर्वं गतं यतः ततः श्रेष्ठी दुःख्यभूत् धनं विना । यतः—“ सहोदयव्यथाः पञ्च,  
 दारिद्र्यस्यानुजीविनः । ऋणं दौर्भाग्यमालस्यं, वुमुक्ष्वात्यन्तसन्ततिः ॥ १ ॥ तैलं नास्ति ॥ २ ॥ ” ततोऽथ दध्यौ श्रेष्ठी—  
 पुनर्नैव गौरवं लभते नरः पूर्वं धन्यप्रभावेण विख्यातोऽत्र पुरेऽभवम् । सांप्रतं लघुवाणिज्यं कथं कुत्रै विमृश्येति कुटुम्बेन  
 सार्द्धं विचारं कृत्वा श्रेष्ठी सकुटुम्बो द्रव्यार्जनहेतवे विदेशं प्रति विचलिपुरभूत् । श्रेष्ठी धन्यजायाद्वयं जनकगृहे  
 प्रेषयामास । ततः श्रेष्ठी सुभद्रां प्रति ग्राह—याहि वत्से खपितृगृहे । सुभद्रा ग्राह—तात ! युक्तमुक्तं त्वयाऽधुना

एकाग्रचित्तवृत्त्या तु विज्ञाहि मे शृणु त्वं विज्ञाहि मेऽवधारय ॥ यतः—“सुखे च विभवोद्धारो, स्त्रीभिः सेव्यं पितुर्गृहम् ।  
श्वसुरस्य गृहं दुःखे, सुखे मोक्षं न सर्वदा ॥१॥ दुःस्त्री पितुर्गृहं याति, दम्प दुःखं प्रियालये, पितुर्गृहपुरं भुक्त्वा,  
दुःखे तिष्ठन्ति सुस्त्रियः ॥ २ ॥ सुखे दुःखे तथा दौःस्त्र्ये, विदेशगमनेऽपि च । देहच्छायेन तन्नूनं, स्थास्यामि  
श्वसुरालये ॥ ३ ॥ ” तस्मादहं सुखे दुःखे वा श्वसुरालये एव स्थास्यामि नान्यत्र । हृष्टः श्रेष्ठी भनसारः बभूवचः  
श्रवणात् । रापरिवारो गृहद्वारे मुद्रां विधाय निर्ययौ निशि । ग्रामाद् आगं पुरात् पुरं नेशादेशं भगन् भनसारः  
कर्मकरकर्म कुर्वन् कौशाम्नीं पुरं ययौ । श्रेष्ठी नरं कंचित् तत्र दृष्ट्वाऽपृच्छत् । भो भद्र कथां निर्देव्यो योऽत्र  
नरः समेति स कथं निर्वाहं करोति । नरः प्राह—हे श्रेष्ठिन् ! सभना व्यनरागेन निर्वाहं कुर्वन्ति । निर्धनाः कर्म-  
कराः परगृहे कर्म कृत्वा निर्वाहन्ति । मे च निर्धना अत्रागान्ति, ते मन्यराजस्य सारसाः सन्यमानस्य खननद्रव्येण  
निर्वाहं कुर्वन्ति । नराणां तत्र सरसि दीनारद्वयं दीयते, स्त्रीणामेकं प्रवाहेण दीयते । कष्टाहेषु ते भोजनं कुर्वन्ति  
सारःखनकाः । तच्छ्रुत्वा भनसारः सकुटुम्बस्तत्र सरसि गत्वा खननकर्मकरैः सार्जं खननकर्म करोति । तत्र  
खननद्रव्येण च निर्वाहं करोति । अन्येषुर्धन्यः शिरोभृतश्चेतच्छत्रोऽध्वारूढः पद्मतिश्रेणिनेष्टितः सरोनराधिलोकनार्थं

गतः । तदा जीव नन्द जयेत्यादि बिरुदावल्यः बन्दिभिः प्रोच्यन्ते । तदा जय जयेति भाषिणः कर्मकराः सर्वे निजं  
 निजं कर्म त्यक्त्वा धन्यं प्रणमन्ति स्म । तेषां मध्ये स्वकुटुम्बकं वीक्ष्य धन्यो दध्यौ किमेतद्वेनेन कुतस्म । माता चैवं  
 पिता चायं, ममैते सोदरास्त्रयः । आतृजायाः पुनरिमाः, सुभद्रा प्राण वल्लभा ॥ १ ॥ गोभद्रो जनको यस्या, भद्रा  
 यस्या जनन्यहो । शालिभद्रानुजा सेयं, शीर्षे वहति मृत्तिकां ॥ २ ॥ विचिन्त्येति धन्यः प्राह—युयं कुतः समागताः ? ।  
 ततः ते कर्मकराः स्थाननामादि संगोप्य मृषाउत्तरं ददुः इति धन्यो दध्यौ—एते मां नोपलक्षयन्ति । यतोऽहमीदृशीं  
 राज्यावस्थां प्राप । ममैते स्वजना दुःखावस्थायां पतिताः सन्ति । यतः—“केऽपि सहस्रंभरयो, लक्षम्भरयश्च केऽपि नराः ।  
 नात्मम्भरयः केऽपि, फलमेतत्सुकृतदुष्कृतयोः ॥ १ ॥” ततः स्वसेवकानाकार्थं धन्यः प्राह—एतेषां भोजने घृतं  
 देयं, एतेऽतीव दुःस्था दृश्यन्ते । दयास्थानं च वैदेशिका विद्यन्ते । ततस्तैरुक्तं—स्वामिन् ! सर्वेषां घृतं स्यात्तदा  
 वरम् । राज्ञोक्तमेवं भवतु । ततः कर्मकराः सर्वे हृष्टा घृतं भक्षयन्तो जल्पन्ति स्म मिथः—एतेषां प्रसावतोऽस्माकमपि  
 भोजने घृतमभूत् । द्वितीयेऽपि दिने तत्रागतो धन्य आहूय श्रोष्ठिनं प्रति मधुरया गिरा प्रोचे—श्रोष्ठिस्तव कुटुम्बमतीव  
 दुर्बलं दृश्यते । श्रेष्ठी जगौ—तत्राभावात्सर्वस्य कुटुम्बस्य राज्यन्धताऽजनि किं क्रियते, पूर्वकृतकर्मणैर्वन्निधाऽवस्था

व्यश्राणि । ततो धन्योऽवग्—अस्मद्गृहे बह्व्यो गावो महिष्यश्च दुहन्ते, तेन तक्रग्रहणाय त्वथैका वधूर्वारकेण प्रेष्या । ततः श्रेष्ठी जगौ—महान् प्रसादस्ते, अतिप्रणामं चकार । ततो धन्यो दैवगतिं निन्दन् बहुजनपरिवृतः स्वगृहं ययौ । ततः प्रियात्रे प्राह धन्यः—भो प्रिये ! एकः श्रेष्ठी करुणारपदं वहिःसरः खनितुं समागतोऽस्ति । तस्य पुत्रचतुष्टयं विद्यते । तेषां पत्न्यः क्रमादेताश्चतस्रः सन्ति । तासां मध्याद्यदा एकाऽपि वधूरायाति तदा तस्यै महाकुम्भस्तक्रपूर्णः समर्पणीयस्त्वया । यदा लक्ष्मी स्नुषा समेति तदा तस्यै कुम्भकादि धान्यं शाल्यादि देयं त्वया । तेऽतीव दुर्बलाः सन्ति । तेभ्यो दानं ददत्यास्तवापि पुण्यं भविष्यति । दीनेभ्यो दानं दत्तं बहुपुण्याय भवति । यतः—“अभयं सुपत्तवाणं, अणुकंपा लब्धियक्त्तिदाणं च । दोहिवि मुखो भणिओ, तिच्चिवि भोगाइअं दिति ॥ १ ॥” पतिनिर्देशात् सा तस्यै शाटिकां ददौ । स्नुषां शाटिकासहितां बहुतक्रमानयन्तीं वीक्ष्य श्रेष्ठयाह—एषा भाग्यवती स्नुषा । तच्छ्रुत्वा श्रेष्ठिनं प्रति तिस्रो बध्वः प्रोचुः समत्सराः । त्वया व्याख्यातोऽग्रेऽस्माकं देवरो विदेशं गतः । अधुनैवं व्याख्यायमानाऽसावपि गमिष्यति । दिवा च मृत्तिकाग्रहनं कुरुते । रात्रौ च भूमौ स्नपिति । एतावती एषा भाग्यशालिनी विद्यते । अन्यदा धन्यस्तां सुभद्रां समागतां वीक्ष्य पप्रच्छ का त्वं कथमिहागता ? लज्जयाऽधोमुखी साऽवग्—अहं

शालिभद्रस्वसा गोभद्रश्रेष्ठिपुत्री । त्वन्नामाभिधानेन पुरुषेण परिणीताऽहम् । स च गृहकलहे जायमाने विदेशं  
 गतः । धन्योऽवग्-भद्रे तव पतिर्विदेशं गतः सन् त्वां विना मृत एव सम्भाव्यते । ततः पतिव्रतं त्यक्त्वा  
 मया सह भोगान् मुञ्च । साऽपि तद्वचः श्रुत्वा वज्राहतेव हृदि कर्णौ पिधाय तं प्रत्युपशङ्कासारमाह-  
 “ गतियुगलकमेवोन्मत्तपुष्पोत्करस्य, त्रिनयनतनुपूजा वाऽथवा भूमिपातः । विषलकुलभवानामङ्गनानां शरीरं, पति-  
 करजरजो वा सेवते सप्तजिह्वः ॥१॥ ” हे धन्य साधुरसाधुरत्वं दृश्यसे मयाऽधुना । यन्मां वाञ्छसि परस्त्रियम् । परस्त्री-  
 भोगादिह लोके परलोके च दुःखं लभते जनः । यत्-“ विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया । कृत्वा कुलक्षयं  
 प्राप, नरकं दशकन्धरः ॥ १ ॥ ” धन्योऽवक् कुप्य मा भद्रे !, कारणं च निशम्यताम् । परस्त्रीलम्पटो नाऽहं, नाह-  
 मन्यरमाहरः ॥ २ ॥ इदं वचनं त्वां परीक्षितुं मया जल्पितम् । साऽवग्-यदि मम त्वं पतिरसि तदा किमप्यभि-  
 ज्ञानं कथय । सोऽवग्-राजगृहेशस्य धन्यो जामाता बभूव । तत्र प्रियात्रयं मुक्त्वा गात्रमात्रोऽत्र चागमम् । मया  
 तुभ्यमेका मुद्रिका रत्नमयी दत्ता । इत्युक्ते तेन सा प्रियं मत्वा धन्यमन्या त्रपापरा अधो विलोकयामास । ततो  
 जीर्णवत्सपरित्यागाद्दर्यवत्साभरणभूषितां प्रियां कृत्वा धन्यश्चक्रे स्वगृहस्वामिनीं ताम् । इतः तामनागतां लब्ध्वा

वधूं वीक्ष्य वृद्धो वृद्धवधूं प्रत्यवक्—क गता गुमद्रा विलोक्यतां बली चेला जाता । वृद्धा नधूः ग्राह—तत्क्रदोहिनीं  
गृहीत्वा गृहीत्वा धनसाधुगृहे गता दारीव तस्य गृहे तिष्ठति । रा परिवृद्धो वर्थमाहारादि तस्यै दापयामारा । तेना-  
तिलोभात् स्थिता तत्र रांभाव्यते । ततस्तत्र गत्वा वृद्धा वधूस्तां दिव्याभरणभूषितां वीक्ष्य पश्चात्त्वरितं रामेत्य  
श्रमुराग्रे ग्राह—मयोक्तं—एषा तत्र आन्ती कदाचिद्विरूपं करिष्यति । अद्य तत्र गता सती तस्य धन्यसाधोः प्रियाऽजनि ।  
स्त्रीणां चरित्रं को जानाति । यतः—“अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च, स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यता च । अवर्षणं चापि  
सुवर्षणं च, देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः ॥ १ ॥ ग्राप्तुं पारमपारस्य, पारावारस्य पार्थते । स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां,  
दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥ २ ॥” तच्छ्रुत्वा श्रेष्ठी वज्राहत इव क्षणं भूत्वा व्यचिन्तयत् । अनया स्नुषया किं कृतं, हा  
धिक, कुलद्वयेऽपि कलङ्कः कृतः । ततः श्रेष्ठी तं वृत्तान्तं, स्नुषाद्वरणकृतं व्यवहारिणां पुरः ग्राह । व्यवहारिणः प्रोचुः—  
धन्यसाधोरस्य न कदाचित् कुमार्गे प्रवृत्तिर्दृष्टा । धन्योऽसौ गीयते परनारीसहोदरः । अधुना तु यद्विपरीतं कृतं तत्र  
हेतुरस्माभिः सम्यङ् न ज्ञायते । एष गूढमना विद्यते । तथापि तस्याग्रे भवत्स्नुपाछोटनविषये नश्यतिष्यते । तस्मिन्  
श्रेष्ठिनि स्वस्थाने गते दृभ्या धन्यराधोरन्ते गत्वा प्रोचुः । धन्यस्त्वं राजजामाता, धन्यस्त्वं साधुशेखरः । तवेदं युज्यते

नैतत्, परस्त्रीहरणं शुभम् ॥ १ ॥ तेषामिति वचः श्रुत्वा वार्तामपरां कर्तुं धन्यो लघ्नः । ततो धन्यस्यानीदृशमभि-  
 प्रायं मत्वा ते इभ्याः स्वं स्वं गृहं ययुः, मिथो निमन्त्रयन्तिस्मेति । एषः पूर्वं वर्यो ज्ञातोऽधुना तु प्रकृतिरस्य परा-  
 वृताऽभूत् । यतः “ बहुश्री राजसन्मानं, महाकुलजनिः पुनः । एतानि पुरुषं सद्यो, नयन्ति विकृतिं सदा ॥ १ ॥ ”  
 ततः श्रेष्ठी घनावहो धन्यसाधोः पुरो गत्वा जगाद—अन्यायं कुरुतेस्म योऽत्र तस्य दण्डं कुरु त्वम् । तदन्यायं  
 परित्यज्य मम स्तुपां मुञ्च । ततो धन्योऽवगु—भो भटा एष वधूं मार्गयति, तेनाऽयं गर्भागारे क्षिप्यताम् । ततस्तै-  
 र्भटैरुत्पाट्य धनावहो गर्भागारे क्षिप्तः । ततस्तत्र गत्वा धन्यः कृताञ्जलिः पितरं प्रणम्य प्राह—क्षन्तव्यो मेऽपराध-  
 स्त्वया । मया बालकवच्चापल्यं कृतम् । अहं तु तत्र पुत्र एव । तत्र श्रुत्वा श्रेष्ठी हृष्टः । ततो धन्योऽवक्—स्वयोच्चैर्न  
 वक्तव्यमधुना । तत्रस्थः पिता गौरवितः । श्रेष्ठिनः पत्न्यादिकं विस्मृतं तदा । ततो मातापि तत्रैत्य प्राह—भो  
 धन्यसाधो त्वया कथं मम स्तुपा पतिश्च रक्षितः । ताभ्यां कोऽन्यायः कृतः । ततो गर्भागारे तां मातरं स्थापयित्वा  
 मध्ये गत्वा प्रणम्य पूर्ववत् धन्यो मातरं क्षमयामास । एवं आतरोऽपि रावां कर्तुं समागताः स्थापिताः । ततो  
 भ्रातृजायाः पूत्कारं कुर्वन्त्यो धन्यद्वारे समेत्य प्रोचुः—असौ राजा अन्यायं कुरुते, अस्मदीयाः पतयोऽपि धृताः अनेन



धन्यसाधुनाऽधुना कस्याञ्चै पृच्छारः करिष्यते । ततस्ताः प्रहरमेकं द्वारे स्थित्वा स्वकुटीरे गताः । प्रातस्ताः स्त्रियः शतानीकभूपसभायां रावां कर्तुं ययुः । चिरं जीव चिरं नन्देति जल्पन्त्यः प्रोचुश्च ताः--वयं कर्मकरत्वेन भवतो नगरे समागताः स्मः । भवतः पुरेऽधुना धन्येन साधुना प्रथमं देवरप्रिया पश्चात् श्वशुरः ततः श्वश्रस्ततोऽस्मदीयाः पतयश्च हताः कारागारे क्षिताश्च । त्वमेव राजा प्रजापालोऽसि । हतं कुटुम्बमस्माकं वयं कथं स्थास्यामः । उत्तरमपि स धन्यो न दत्ते । तासामिति वचः श्रुत्वा राजा धन्यपार्श्वे स्वसेवकं प्रेष्य निवेदयामास । एतासां स्त्रीणां कुटुम्बं सुखं । अन्याथो न क्रियते । धन्योऽवक्--भो राजसेवक ! अहं नान्यायं करोमि । कदाचित् यद्यहमन्यायं करोमि तदा किं सिद्ध्यते राज्ञा । ततः स राजसेवको राजपार्श्वे गत्वाऽवगू- धन्यो जल्पति--अहमेवंविधमन्यायं करोमि चेत्तदा किं करोति राजा । ततः क्रुद्धो राजा शतानीकस्तं जामातरं हन्तुं सकलसैनिकान् प्रेषीत् । राकोपं भूपं मत्वा धन्यस्तदा तत्क्षणात् संनद्य शकटेषु स्नुषादियुतं सर्वं वस्तु क्षिप्त्वा स्थितो यावत् तावद्राजसेवका युद्धं कर्तुं समागताः । मिथो युद्धे जायमाने शतानीकसेवकैर्भग्नं नष्टं च । ततो भग्नं स्वबलमाकर्ण्य शतानीको रणाय समागात् । अत्रान्तरे महामातैरभ्येत्य प्रोक्तं--स्वामिन्नयं तव जामाता,

तेन समं युद्धं कर्तुं न युज्यते । यदा धन्योऽत्रायातस्तदा त्वथैव बहुपरिच्छदः कुतः । बली जातोऽधुना, कुत्रापि  
 विषमकार्यं क्षिप्त्वा हन्यते । अयं दुर्नयं कदापि न करोति । अधुना न ज्ञायते । कस्माद्धेतोरेवं करोति, किञ्चित्  
 कारणं विद्यतेऽत्र । पृच्छयन्तामेताः स्त्रियः । इत्यादि विमृश्य ताः पृष्ट्वा अमात्यैः । भवन्तीनां कोऽस्ति बान्धवो  
 देवरो वा ? । ताः प्रोचुः—अस्माकं धन्याभिधो देवरः पुसन्निसृत्य कुत्रचिद् गतः । अधुना न ज्ञायते जीवन्नस्ति  
 मृतो वा । सचिवैः प्रोक्तं—तस्याङ्गुलक्षणं यूयं विद्य ? येन प्रकटीक्रियते सः । ताः प्रोचुः—अस्माकं देवरस्य पादौ  
 पद्माङ्कितौ हस्तौ च ऊर्ध्वरेखाङ्कितौ । तैस्मात्यैरुच्ये—तर्हि धन्यस्य चिन्हर्वाक्षणे हेतवे पादौ प्रक्षाल्येताम् । ततस्ताः  
 स्त्रियोऽस्मात्यैर्धन्यपार्श्वे प्रेषिताः । परीक्षार्थं आतृजायात्रयमागतं वीक्ष्य धन्योऽब्रवीदिति—यूयं किमर्थमिहागताः,  
 युष्माकं किं प्रयोजनमस्ति । ताः प्रोचुः—देवरोऽसि त्वं नः । धन्योऽवक्—किं भवन्तीनां भ्रमोऽभूत् । अथवा  
 किं यूयमाकाशे सुप्ताः, स धन्यः श्रूयते राजगृहेऽस्य सुतापतिः । लक्षणं विद्यते क्रमयोरस्माकं देवरस्य, तेनैकदा  
 पादौ प्रक्षालयितुं त्वं देहि । ऊच्ये धन्यः परस्त्रीणां स्पर्शात् पातकं भवेत् । नाहं परस्त्रिया सार्द्धं वन्मि । स्पृशे  
 तु का कथा । तेनेत्युक्ते ता मौनेन स्थिताः खेदं दधस्यः सचिवैरुक्तं—खेदं मा कुरुध्वं यूयं स्थिरं तिष्ठन्तु । भो

धन्य ! त्वं मा स्वभ्रातृजायाः खेदं नय । पापं तव लगदस्ति इत्यादि सच्चिवैरुक्तो धन्यो मायां मुक्त्वा भ्रातृजायात्रयं निजनिकेतने प्रैषीत् । ततः संरम्भं मुक्त्वा सर्वं कुटुम्बं प्रकटीकृत्य भक्तिपूर्वं धन्यः प्रणनाम । जेमणकं च चक्रे । ततो धन्यो नृपपार्श्वे नन्तुं गतो यावत्तावद्राजाऽर्द्धासिनं दत्त्वा तस्मै जगौ—भो धन्य ! त्वं धन्योऽसि । त्वया कथमेता भ्रातृजायाः खेदिताः सुचिरं ? धन्योऽवगू—भोभूप श्रूयतां बन्धुप्रिया बन्धूनां मिथो भेदं कुर्वन्ति । यतः—“बन्धूनां रनेह-बद्धानां, विना नारीं नहि च्युतिः । तालकस्य द्विधाभावं, करोति कुञ्चिका क्षणात् ॥१॥” नारीणां वचनैर्देव !, बान्धवाः स्युः पृथक् पृथक् । इति हेतोर्मया भ्रातृ—जायाः रांप्रति खेदिताः ॥ २ ॥ इत्यादि प्रीतिसंलापैः प्रीणयामास भूपं धन्यः ततः क्षोणीशं प्रणम्य धन्यः स्वगृहे गतः । ततो विनयेन पित्रादीन् प्रणम्य पूर्वं संजातं स्वगृहवृत्तान्तमा-पृच्छद्धन्यः । ततः श्रेष्ठी जगौ—यदा त्वं निर्गतस्तदा राज्ञा सर्वस्वं जगृहे । येषु देशेषु यद् द्रव्यं व्यवसायार्थम-भूत् तत्तत्तदा विनष्टम् । दारिद्रे समागते गृहे मुद्रां दत्त्वा आजीविकाकृते वयमत्र समागताः । ततो राज्ञा शतानी-केन समं महाप्रीतिर्धन्यस्याजनि । सुभाषितादिभिर्मिथो राजधन्यो कालं क्षणमिव नयतः । ततः पिता सर्वेषां पुत्राणां पुरः प्राह—भवद्भिर्दृष्टं धन्यस्य भाग्यम् । ततः सर्वे सोदरा धन्येन मानिताः । ततः पत्नीद्वययुतो धन्यो माता-

पित्रादिभिः सह राजगृहपुरं ययौ । श्रेणिकेन तदा महोत्सवपुरस्सरं पुरमध्ये निवेशितो धन्यः । चतस्रो महेभ्यानां  
 वन्यकारतदा धन्यः पर्यैषीत् । प्रियाष्टकं तदा धन्यस्य जज्ञे । तदा धनदस्य धन्यस्य च धर्मेनान्तरं न ज्ञायते ।  
 इतरस्ते आतरो धन्यदत्तग्रामाः सुखेन तिष्ठन्ति स्म । क्रमात् तत्र दुष्काले पतिते सर्वे लोका विदेशं ययुः । तेऽपि  
 धन्यसोदराः क्षीणधना त्यक्तगर्वा अभूवन् । अनिष्पन्नेषु ग्रामेषु निर्धनस्ते स्पृष्ट्वा धन्येन दधाना लोकैर्हक्किता मालवं  
 ययुः । आजीविकाकृते नृपान् बहुभारभरितान् कृत्वा ग्रामाद्ग्रामं गच्छन्तस्ते धनावहपुत्राः खेदं लभन्ते स्म ।  
 निर्भोग्या लाभमिच्छन्तस्ते गोधूमैर्वृषान् भृत्वा वाणिज्यार्थं राजगृहे समाययुः । तेषु चतुष्पथस्थितेषु क्रयविक्रयादिकु-  
 र्यन्तु तुरगारुढो धन्यो नृपमन्दिरात् समाययौ । धन्यस्य श्रियं तथाविधां बान्धवानां तादृशीं च वीक्ष्य जनोऽवदत्—हा दै-  
 वनिर्मितं कीदृग् बान्धवेष्वप्यन्तरं दृश्यते । यतः—“एकोदरसमुत्पन्नाः, एकनक्षत्रजातकाः । न भवन्ति समाः शीलाः, यथा  
 चदरीकण्टकाः ॥१॥” धन्यो लोकवचः श्रुत्वा करुणापरोऽश्वादुत्तीर्य पादयोन्यर्पितत् । अत्यर्थं लज्जितास्ते मौनं दधुरतदा ।  
 ततस्तान् गृहीत्वा स्वगृहं ययौ धन्यः । ततस्तान् वर्यविष्टरे निवेश्य धन्यः प्राह—युष्माकमियं लक्ष्मीर्मद्बृहसम्बन्धिनी  
 स्वेच्छया विलसन्तु भवंतः । यतः—“विपुलापि न सा लक्ष्मी—भुज्यते या न बन्धुभिः । काकोऽपि वर्ण्यते सद्भि—भन्यः

स्वज्ञातिपेषणात् ॥१॥ ” तेऽन्युच्चुर्मातरः—तव गृहे वयं न स्थास्यामः धन्योऽवक्—तर्हि विभज्य तुर्यभागं धनस्य भक्ष्यं ददतु भवन्तः । ततश्चतुर्णां भ्रातॄणां प्रत्येकं हेमः कोटयश्चतुर्दश जाताः । तैर्भ्रातृभिर्धन्यदत्तं धनं गृहीतम् । यतः—  
“दीयमानं न गृह्णन्ति, ये ते जगति पञ्चबाः । स्वकीयं परकीयं वा, धनमिच्छन्ति जन्तवः ॥१॥ ” ततो हेमयुता यावन्ते चलितास्तावद्वित्ताधिष्ठायकया देव्या द्वारे ते स्तम्भिताः । व्यावृत्तास्ते विलक्षाः सन्तो गर्वं मुक्त्वा धन्यपार्श्वेऽभ्येत्योन्नुः । त्वदीयं भाग्यमस्माभिर्द्वष्टं भाग्यविवर्जितैः । मुधा अस्माभिरत्वयि मत्सरः कृतः । अद्य प्रभृति नास्माभिर्मर्मानाक् त्वयि मत्सरः कर्तव्यः । ततो धन्योऽवग—भवन्तः समाधिना भुञ्जन्तु देवपूजादिपुण्यं कुर्वन्तः । ततस्ते तथा देवपूजादिकं कर्म कुर्वाणाः समाधिभाजोऽभवन् । अन्येद्युस्तत्रागताश्चतुर्ज्ञानधारिणो धर्मघोषसूरयः तेषां पार्श्वे धर्मं श्रोतुं धन्यः सकुटुम्बोऽगमत् । स चतुर्ज्ञानी धर्मोपदेशं ददौ । तथाहि—जन्तूनामवनं जिनेशमहनं भक्त्यागमाकर्णनं, साधूनां नमनं मदापनयनं सम्यग्गुरोर्माननम् । मायाया हननं क्रुधश्च शमनं लोभद्रुमोन्मूलनं, चेतःशोधनमिन्द्रियाश्चदमनं यत्तच्छिवोपायनम् ॥१॥” देशनान्ते धन्येन पृष्टं—भगवन् ! केन कर्मणा भ्रातरोऽमी ममाग्रजाः व्यवसाये सत्यपि निर्धनाः । एतेषां गृहे धनं कथं न तिष्ठति ? सूरिन्द्रः प्राह—एतैर्भरितरं दानं न दत्तं

पूर्वमेवे पुनर्न श्रद्धे । तथाहि—लक्ष्मीपुरे एते त्रयोऽपि सोदराः सस्नेहा दारिद्रभाजोऽभवन् । त्रयोऽपि नित्यं काष्ठानि  
 कटेन वनादानीय विक्रीय कुटुम्बं पोषयन्तिस्म । अन्येद्युस्ते सशम्बलाः काष्ठानयनार्थं वने ययुः । मथ्यान्हे ते  
 यावद्भोक्तुमुपविशन्ति, तावन्मुनीन्द्रः शान्तात्मा मासक्षणपारणार्थं तत्रागतः । तं तादृशं यतिमागतं दृष्ट्वा ते प्रोत्थाय  
 प्रमुदिता बहुशम्बलमहमहमिकया विश्राणयन्तिस्म साधवे तस्मै । तेऽथ तस्मिन् साधौ गते पश्चात्तापमिति चक्रिरे ।  
 अत्रायतो मुयाऽस्माकं शम्बलं लात्वा गतः । न दायादो न गोत्रजः । अथवा साधोरस्य किं दूषणम् । वयमेव मूढा  
 यतोऽविमृश्यैव दत्तं शम्बलम् । पश्चात्तापपरास्ते स्वसदनं ययुः । दानस्थानुभावेन तस्मिन् दिने किञ्चिदन्नं  
 सुपात्राय दत्त्वा पश्चात्तापं चक्रुः । तेन पुण्येनाल्पद्विव्यन्तरत्वं प्राप्य तस्माच्च्युतास्त्रयोऽपि आतरो भवदीया अभूवन् ।  
 तादृग्दानप्रभावेणाभीषां लक्ष्मीर्दर्शनप्रदाऽभूत् । योऽन्योऽपि साधुभ्यो दानं दत्त्वा पश्चात्तापं करोति स दानफलं न  
 प्राप्नोति । उक्तं च—“ दत्त्वा दानं ये मुनीन्द्रेषु पूर्वं, पश्चात्तापं कुर्वते पुण्यहीनाः । भाग्याल्लब्ध्वा यानपात्रं प्रधानं,  
 अम्पापातं तन्वते ते समुद्रे ॥ १ ॥ दानस्य पुण्यं बहुभाग्यशाली, संप्रापयत्येव बहुस्थिरत्वम् । न भाग्यहीनाः  
 खलु येन कुक्षौ, न पायसं तिष्ठति कुर्कुसस्य ॥ २ ॥ पश्चात्तापो न तत्कार्यो, दत्ते दाने मनीषिभिः । किन्तु पुण्य-

द्रुमो भाव-जलेन परिसिच्यते ॥ ३ ॥ ” अथ सुभद्रा शालिभद्रभगिन्यपि प्राह-भगवन् ! मया केन कर्मणा मृद् वोढा । गुरवः प्रोचुः-स्वीयं भवं शृणु । यदा धन्यः पूर्वभवे वत्सपालकोऽभूत्, तदा यूयं चतस्रः प्रातिवे-  
दिसक्यो जाताः । गोपेन मार्गिते भक्ष्ये तदा प्रथमया दुग्धं ददे, द्वितीयया तन्दुलाश्च ददिरे, खंडा तृतीयया ददे,  
आज्यं वर्यं चतुर्थ्या ददे । ताभिरप्यर्जितं पुण्यं दानेन । तदा सुभद्रे ! यत्त्वया मृद्वहने कर्म बद्धं तच्छृणु । तथाहि-  
कलहं कुर्वाणा दासी काचिद्वोमयं वहन्ती त्वया हक्कितेति-रे दासि भारमेवोद्वहसि । एवंविधया गिरा सा दासी  
दूनाऽजनि । येन त्वया दानं करुणया गोपालाय दुःस्थाय व्यतारि, तेन शालिभद्रस्वसा त्वमभूः । येन त्वया तस्या  
दास्या मृत्तिकां वहेति शापो व्यतारि पूर्वभवे, ततोऽस्मिन् भवे त्वया मृत्तिका व्यूढा । इत्येवं संशयं भित्त्वा धन्यः  
सपरिवारो धर्ममङ्गीकृत्य स्वगृहं गयौ । ततो दिने दिनेऽधिकामधिकां लक्ष्मीं प्राप्नुवन् राजमान्योऽभूत् । अष्टाभिः प्रियाभिः  
समं दोगन्दुकदेव इव भोगान् भुञ्जानः सुखी बभूव धन्यः । धन्यो यथा दीक्षां ललौ, यथा तपःप्रभृति पुण्यं कृत्वा  
अनुत्तरविमाने गतः । तत्सर्वं शालिभद्रकथानकाज्ज्ञेयम् । इति दानपुण्योपरि धन्यकथानकं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

अनित्यत्वादिकां शुद्धां, भावनां स्मरतो हृदि । इलातीतनयस्येव, पुंसः स्यात् केवली मुनिः ॥ १ ॥

तथाहि—इलावर्द्धने पुरे इलाभूपणे नराधिपशतसेव्यो न्यायी जितशत्रुनामा राजाऽभूत् इभ्यनामा श्रेष्ठी तत्राजनि ।  
 तस्य धारिणीति भार्या शीलदिगुणधारिणी बभूव । तयोर्मुञ्जानयोः सौख्यमपत्याभाव इति दुःखमभूत् तत इलादेव्याः  
 श्रीजिनाधिष्ठायिकायाः पुत्रार्थमाराधनं कृतं ताभ्यां प्रोक्तं च यद्यावयोः पुत्रो भविष्यति, तदा त्वन्नामाङ्कितं नाम तस्य करि-  
 ष्यते । तयोः सूनुः क्रमाज्जज्ञे तस्य जन्मोत्सवकरणपूर्वं इलातीपुत्र इति नाम कृतं ताभ्याम् । स ततो धात्रीभिर्लोल्य-  
 मानः क्रमादष्टवर्षिकोऽभूत् । ततः पितृभ्यां पाठाय लेखाचार्यसंनिधौ मुक्तः । विषमाण्यपि शास्त्राणि इलातीपुत्रः पपाठ  
 सूत्रार्थभ्याम् । यौवनं प्राप्तः स तरुणीजने न मनाग् मनो दत्ते किन्तु साधुजनस्येव सम्यक् शास्त्रविचारणे । यतः—  
 “सन्तोषासिषु कर्तव्यः, स्वदारे भोजने धने । त्रिषु चैव न कर्तव्यो, दाने चाध्ययने तपे ॥१॥ पण्डितेषु गुणाः सर्वे,  
 मूर्खे दोषास्तु केवलाः । तस्मान्मूर्खसहस्रेण, प्राज्ञ एको न लभ्यते ॥२॥ ” ततस्त्रिचर्गशून्योऽयं माभवदिति ध्यात्वा  
 जडधीः पिता दुर्ललिताख्यां गोष्ठ्यां तं पुत्रं मुमोच । अत्रान्तरे वसन्तसमये समायाते नानाप्रकाराशोकचम्पकचूत-  
 जम्बूभृतिवृक्षफलपुष्पादिशालिनि वने इलातीपुत्रो जगाम । लंखिकाख्यस्य नटस्य कन्यका नृत्यन्ती तेन दृष्टे ।  
 तत इलातीपुत्रस्तामङ्गीकर्तुकामः पुनः पुनर्ध्यायन् निश्चेष्टः कीलित इवाजनि । इङ्गिताकारकुशलास्तस्सेवकास्तं



वीक्ष्य वयस्या इलातीपुत्रं प्रति जगुः—तव पिता त्वां विना अधृतिं करिष्यतीति । स्वगृहे गम्यते । तैरिलातीपुत्रः स्वगृहे नीतः । तत्र शयने सुप्तः क्षणमपि समाधिं न लभते । तं तथाऽवस्थं पुत्रं वीक्ष्य पिताऽवग्—भो वत्स ! तव किं मन ईदृशं दृश्यते । तव केनापराधः कृतः । त्वत्तुल्योऽपरः कोऽपि विचारवान्नास्ति । ततः पुत्रे मौनं श्रिते वयस्याः प्रोचुः । अस्य लंखकनटस्य कन्यायां परिणेतुं मनोऽस्ति । ततः पिताऽवग्—भो पुत्र ! त्वं कुलीनोऽकुलीनामिमां किं परिणेतुमीहसे । इति पितृवचः श्रुत्वा इलातीपुत्रो बभाषे । तात ! जानाम्यहं सर्वं सन्मार्गप्रवर्तनादि परं किं क्रियते, मनो मदीयमस्यामेव मममस्ति । तस्यां लंखकन्यायां रक्तं पुत्रवचो मत्वा श्रेष्ठी दध्यौ—मयैवैतत् कृतमविचारितं पुत्रस्य कुसङ्गतिकरणात् । अथ वारितुं न शक्यते । मया निषिद्धः सन् कदाचिन् म्रियेत तदा मम का गतिः । इतो व्याघ्र इतस्तदीति न्यायः । यदि तामसौ न परिणेष्यति तदा मृत एव इत्यादि ध्यात्वा श्रेष्ठा-लंखकं प्रति जगौ—मम सनवे स्वसुतां त्वं देहि । ततो लंखकोऽभाषिष्ट स्पष्टं—त्वत्सूनोर्येदि वाञ्छा स्यात्ततोऽस्माकं मिलत्वसौ । ततः श्रेष्ठी खिन्नोऽपि प्राह सुताग्रे-वत्स ! भवत्वियं ते लंखपुत्री । पित्रोदितं श्रुत्वा दध्याविति इलातीसुतः । तातेन मत्कृते विरुद्धमपि वाञ्छितं प्रतिपन्नम्, अहं तु तां विना न क्षमो जीवितं धर्तुं, विचिन्त्यैवं गुरुजनोपदेश-

मवगणय्य मुक्कलाप्य मिलितुं लंखकपाटकेऽगादिलातीपुत्रः । तदा लंखकोऽवग्—यदि त्वमस्मदीयां नृत्यकलां  
शिक्षिष्यसे । तदा तुभ्यमियं कन्या दास्यते । तंतः शिक्षितुं स लभः कामार्थी । “यतः कामाशुगैः स्वान्त—कुम्भे  
जर्जरिते सति । स्तोकमप्युपदेशाम्भः, क्षितं सन्तिष्ठते कथम् ॥ १ ॥ प्राणानपि विमुञ्चन्ते, स्त्रीशस्त्रीदीर्ण-  
वक्षसः । मर्त्यारवृण्णाविगानस्य, त्यागे तु किमदुष्करम् ॥ २ ॥” प्रज्ञाप्रकर्षवशान्नृत्यकलासु कोविदोऽभदिलाती-  
पुत्रः । ततो लंखकोऽवक—स्वविज्ञानं प्रकाशय त्वं द्रव्यमर्जय । ततो महामहोत्सवेन कन्येयं तुभ्यं दास्यते । ततो  
वेनातटपुरे लंखकादियुतः इलातीपुत्रो गत्वा महीपालं भूपं व्यजिज्ञपत्—स्वामिन् ! अद्य वयं नाटकं दर्शयिष्यामः ।  
नाटकं दर्शय त्वमियुक्ते भूपेन इलातीपुत्रः प्रेक्षणं नानाभिनयवन्धुरं तथा चक्रे यथा लोकाः सर्वेऽत्यन्तं चमत्कृताः ।  
तदानीं राजा लंखकसुतां वीक्ष्य मोहितो हर्तुकामोऽभूत् । ततो राजा जगौ—भो इलातीपुत्र ! वंशोपरि सुप्तस्तन्तन्  
चद्ध्वा तेषु विलम्बो नृत्यं कुरु । ततस्तथा नृत्ये कृते तेन राजाऽवग्—निराधारो भव । निराधारे व्योम्नि स्थिते  
तस्मिन् राजा दधौ—असौ तु न मृतः कथं लंखकपुत्री मम भविष्यति । एवं द्वित्रिवारं स भूपेन नृत्यं कारितः ।  
चतुर्थे वारके वंशोपरि स्थितो राजानं लंखकसुतासक्तमनसं ज्ञात्वा इलातीपुत्रो दधौ—अहो विषयवैषम्यं, रक्तोऽयं

॥ श्रीसरते-  
श्वर वृत्तिः ॥

॥ १५९ ॥

राजा नीचकुलोत्पन्नायां नटयामप्यभूत् । मां मारयितुं पुनः पुनः नृत्यं कारयति । स्वःस्त्रीतुल्येऽन्तःपुरे सत्यपि अस्यां स्त्रियां मनः कुरुते राजा । ततो धिगु मामिमं भूपं च । यतः—“स्वाधीनेऽपि कलत्रे, नीचः परदारलम्पटो भवति । सम्पूर्णेऽपि तटाके, काकः कुम्भोदकं पिबति ॥ १ ॥” मया यन्मातापित्रोर्वचनमुल्लङ्घ्य एवंविधमकार्यं कृतम् । मया निर्मलमपि कुलं कलङ्कितं—इत्यादिवैराग्यवासिताशय इलातीपुत्रः कस्यचिन्महेभ्यस्य गृहे शान्तचित्तान् मुनीन् भिक्षायै प्रविष्टान् दृष्ट्वा दध्यौ—धनपतेरेता वधू रूपजितरम्भा दृष्ट्वा एते साधवो मनागपि न संमुखं विलोकयन्तिस्म । एते वन्दनीया एव । यतः—“ते कह न वंदणिज्जा, रूवं दड्डुण परकलत्ताणं । धाराहयव्व वसहा, वच्चंति महीपलोअंता ॥ १ ॥ अलसा होइ अकज्जे, पाणित्रहे पंगुला सया होइ । परतत्तीसुयबहिरा, जच्चंधा परकलत्तेसु ॥ २ ॥ अहं त्वस्यां नीचकुलोत्पन्नायां नार्यो मनोऽकार्षम् । एवं ध्यायतः स्वकर्मभेदतः इलातीपुत्रस्य वंशोपरिस्थितस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । ततो देवतादत्तलिङ्गो दिव्यस्वर्णाम्बुजस्थितो भूपग्रे धर्मोपदेशमेवं दत्तवान् । भो भव्या इह संसारे, मानुष्यमतिदुर्लभम् । लब्ध्वा पाथोनिधौ ममं, चिन्तारत्नमिवामलम् ॥ १ ॥ इत्यादि धर्मोपदेशमाकर्ण्य राजा पृष्टं—भवतोऽस्यां स्त्रियां कथं रागोऽभवत् । ततः केवली जगौ—पूर्वं वसन्तपुरपत्तने भूपुरोहितो मदननामा

द्विजोऽमृत, मोहनी बहूभा प्राणेभ्योऽप्यतिबहूभाऽऽसीत् । अन्येद्युः धर्मोपदेशं श्रुत्वा सुगुरोः पार्श्वे व्रतं ललतुः । निविडेन निगडेनेव, रागेण तयोर्विद्वयोस्तत्रापि प्रीतिः सर्वथाऽन्योऽन्यं नानुवृत् । मोहनी मूढात्माऽन्यदा जातिमदं मनाग् चक्रे । तत्कर्म अनालोच्य मोहनी गुरोरेवे कमादिवि गता । द्विजोऽपि मृतः स्वर्गे गतः । ततो दिवश्च्यु-  
त्वाऽऽद्युःक्षये इलावर्द्धनपुरे श्रेष्ठिपुत्रोऽभूद्देवः सोऽहमिलातीपुत्रः । मोहन्यपि स्वर्गञ्च्युत्वा जातिमदकरणाह्लेषपुत्र्यभूत् । तत्र पूर्वभवसम्बन्धिना मोहेनास्मिन् भवे मम तस्यामभूत् स्नेहः । तच्छ्रुत्वा वैराग्यवासिता राजराज्ञीनटात्मजादयो  
धर्मं प्रपेदिरे । ततः शुक्लध्यानात् प्राप्य केवलज्ञानं मुक्तिं ययुः । इति इलातीपुत्रकथा समाप्ता ॥ ३३ ॥

कृतपापोऽपि संसारान् मुच्यते भूरिकर्मभिः । चिलातीपुत्रवत् स्वर्गा-दिसुखैर्व्रियते पुनः ॥ १ ॥

तथाहि—क्षितिप्रतिष्ठितपुरे ज्ञमन्यो यज्ञदेवाहो द्विजो जिनमतनिन्दां दीर्घसंसारदायिनीं करोतिरम । रथं पण्डितमन्यो द्विजोऽन्यदा वादाय केनचित् क्षुल्लकैनाहुतः । ततस्तेन द्विजेनोक्तं यो मां जयति तस्याहं शिष्यो भवामि । ततः क्षुल्लकेन निग्रहस्थानं नीतः क्षणादीक्षां ग्राहितो द्विजः । अथान्यदा शासनदेवी द्विजं प्रति प्राह—  
यथा तराणे विना चक्षुष्मानपि न पश्यति, तथा जीवो ज्ञानवानपि शुद्धं चारित्रं विना मुक्तिं न पश्यति, यतिवत् ।

ततो द्विजः शुद्धं चारित्रं पालयति । द्विजप्रिया श्रीमती तस्य वश्यतां कर्तुं तपःपारणके कर्मणं ददौ प्रियाय । तेन कर्मणेन क्लिश्यमानतनुर्द्विजो मृत्वा स्वर्गं गतः । ततः सा ब्राह्मण्यपि तद्गुःखदुःखिता व्रतं लप्त्वा स्वर्गं गता । पतिविषये कृतं कर्मणं नालोचितं तथा । ततः स्वर्गोच्च्युत्वा यज्ञदेवो राजगृहपुरे धनसार्थवाहस्य चिलात्या दास्या उदरेऽवततार । क्रमात् पुत्रो जातः, तस्याभिधानं चिलातीपुत्र इति मातुर्नामानुरारेणाभूत् । यज्ञदेवप्रिया स्वर्गोच्च्युत्वा धनपत्न्यां भद्राक्ष्यां पुत्री सुंसुमाऽभूत् । पञ्च पुत्राश्च पूर्वं गन्ति तस्य । धनेन सुंसुमाख्याया दुहितु रक्षार्थं चिलातीपुत्रो मुक्तः । यदा यदा सुंसुमा रोदिति तदा तदा तस्या योनौ अङ्गुलीक्षेपं करोति । ततः सा न रोदिति, अतीव सुखं मन्यते । तं चिलातीपुत्रं तथा कुर्वाणं ज्ञात्वा राजदण्डभीत्या तं स्वर्गोच्चिरकाशयत् । यतः—“ शिष्याणां हि गुरुः शास्ता, शास्ता राजा दुरात्मनाम् । अथ प्रच्छन्नापापानां, शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ १ ॥ ” चिलातीपुत्रः सिंहगुहाभिधां भिन्नपक्षीं ययौ मल्लीमालामिवमधुव्रतः । मृते चौरपत्नौ चिलातीपुत्रः स्वस्वामी चौरैः कृतः । “ विदेशान्तरितस्यापि, भाग्यं जागर्ति तद्व्रतः । अधैस्तिरोहितस्यापि, भानोर्भासस्तमोपहाः ॥ १ ॥ विपमास्वर्पाडितश्चिलातीपुत्रः सुंसुमां स्मरति । सुंसुमा च तम् । एकदा चिलातीसुन्नराह—भो चोरा गम्यते राजगृहे पुरे, तत्र धनश्रेष्ठिगृहे बह्वी श्रीरस्ति एका

मुंसुमादा मुता समरित च । यद्धनं चटति तद्भवतां सुंसुमा मम भवतु इति व्यवस्थया ते चौरा रात्रौ तत्र जग्मुः । चौरैषु  
 गृहमध्ये प्रविष्टेषु श्रेष्ठी व्याकुलः पञ्चपुत्रयुक् क्वचिन्नीलीय रहसि स्थितो भीतः । यतः—“पंथसमा नत्थि जरा, खुहा समा  
 नेयणा नत्थि । मरणसमं नत्थि भयं, दारिद्रसमो वयरिओ नत्थि ॥१॥” इतस्ते चौरा वित्तमादाय चिलातीपुत्रश्च सुंसुमां  
 लात्वा चेलुः । ततः कलकलं कृत्वा पुरारक्षसहितः श्रेष्ठी पञ्चपुत्रयुक् चौरपृष्ठौ चचाल । ततस्ते चौराः पृष्ठौ पुरारक्षाद्भि-  
 ‘काशितासर्नायातान् वीक्ष्य भयविह्वला वभूवुः । ते सर्वे चौरास्त्यक्तलोपत्रा दिशोदिशं नेशुः । पुरारक्षा आत्तवित्ताः  
 पश्चाच्चेलुः । ततश्चिलातीपुत्रः रक्न्धे तां कन्यां वहमानरत्वरितं चचाल । पञ्चपुत्रयुतं श्रेष्ठिनं धनं निष्काशितासि-  
 मागच्छन्तं वीक्ष्य कन्याशिरः छित्त्वा कन्धं तत्रैव मुक्त्वा करात्तकन्यामस्तकोऽग्रतश्चिलातीपुत्रश्चचाल । इतो  
 धनश्रेष्ठी धनं गतं वीक्ष्य पुत्रीकन्धं वीक्ष्य क्षणं बहु विलप्य पश्चाद्वलित्वा स्वपुरमाजगाम । ततो धनः श्रेष्ठी  
 श्रीधीरपाथे धर्म श्रोतुं गतः पुत्रयुतः । श्रीवीरेणेति धर्मोपदेशो ददे । “न श्रीर्मे विपुलाऽजनि नच मता जाता न  
 वा सूनुवो, जातं वा न गुणारपदं न च मुदं धत्ते कुटुम्बं मम । द्विष्टो भूपतिर्मे खलाश्च कुदृशो देहं रुगतं  
 सुतो, वालो भूरि ऋणं गृणन्ति गृहिणां चेतसि चिन्ता इमाः ॥ १ ॥ इह संसारपाथोधौ, मानुष्यं प्राप्य

दुर्लभम् । आत्महितं हि कर्तव्यं सर्वारम्भेण धीमता ॥ २ ॥ प्राग्जन्मजाते सुकृते सति प्रभौ,  
विवेकिभिस्तत्पुनरर्ज्यते नवम् । नीवीधनादस्य पुनः कुतोऽर्जनं, वाप क वा प्रौषितबीजभोजिनः ॥ ३ ॥ इह लोड्यमि  
कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो तणइ । ता जइ लक्खंसेणवि, परलोए ता सुही होइ ॥ ४ ॥ ” यतः—“ प्रबुध्यस्व  
प्रबुध्यस्व, द्विधा सपदि मानव ! । गृहे ज्वलति चौरा हि, सर्वस्वं लुण्ठयन्त्यमी ॥ ५ ॥ जरा जाव न पडिइ, वाही  
जाव न वड्ढई ॥ जाविदिद्या न हायंति, ताव धम्मं समारये ॥ ६ ॥ ” इत्यादिश्रीजिनस्यास्यादाकर्ण्य धर्मदेशनाम् ।  
पञ्चभिः श्रेष्ठितनयैः, श्राद्धधर्मः समाश्रितः ॥ ७ ॥ धनः संप्राप्तवैराग्यः, श्रीवीरजिनसंनिधौ । जग्राह संयमं स्वर्गो-  
पवर्गसुखदायकम् ॥ ८ ॥ तीव्रं तपस्तप्त्वा चिरं धनः श्रेष्ठी स्वर्गमगात् । इतश्चिलातीपुत्रस्तु करात्तल्लीमस्तको  
रुधिराक्लिन्नशरीरोऽग्रतो वर्त्मनि त्वरितं ब्रजन् मुनिमेकं शान्तं कायोत्सर्गस्थं ददर्श । चौरोऽवगू—भो मुनिपुङ्गव ! त्वरितं  
धर्मं कथय, नो चेदनेनासिना स्त्रीमस्तकवद्भवच्छिरः छेत्स्यामि । ततस्तं योग्यं सत्पात्रं चौरं मत्वा मुनिरुपशम-  
विवेकसंवरोति पदत्रयमुच्चरन् व्योममार्गे उत्पपात । स चौरश्चिलातीपुत्रो दध्यौ—अनेनाकाशगामिनी विद्या किं प्रोक्ता?  
अथवा मन्त्राक्षराण्युक्तानि, अथवा धर्माक्षराणि, इति ध्यायन् मुनिपदस्थाने उवसमन्त्रिवेकसंवरोति ध्यायंस्तस्थौ

उपशमशब्दस्य कोऽर्थ इति ध्यायन् पुनर्जज्ञौ, उपशमः क्रोधाद्युपशान्तिः, एवं ध्यात्वोपशम आश्रितस्तेन चौरैः ।  
 विवेकस्य कोऽर्थः ? इति ध्यायता विवेकार्थस्तेन ज्ञात इति कृत्याकृत्ययोर्विवेकः क्रियते । ततः कृत्यस्याङ्गीकारो-  
 ऽकृत्यस्य, त्याग इति विवेकः । ततो विवेक आश्रितस्तेन । संवरः पञ्चेन्द्रियाणां क्रियते, पञ्चेन्द्रियाणां प्रसरस्य  
 निरोधः, इति संवरस्तेनाश्रितः । इति त्रिपदो ध्यायन् सार्द्धदिनद्वयं कायोत्सर्गे चौरः स्थितः । रुधिरगन्धेन समा-  
 गताभिः शूचिमुग्धाभिः कीटिकाभिः सर्वे शरीरं तस्य चालनीवत् कृतम् । तेन तथा कीटिकाविविधैर्वेदनाऽधि-  
 सहिता, यथा सार्द्धदिनद्वयान्ते चिलातीपुत्रेण स्वर्गपदवी प्राप्ता । उक्तं च “ जो तिहिं जएहिं सम्मं, समभि-  
 गओ संजमं समारूढो । उवसमविवेगसंवर-चिलाइपुत्तं नमंसांमि ॥ १ ॥ अहिसरिया पाएहिं, सोणियगंधेण जस्स  
 कीडीओ । खायंति उत्तमंगं, तं दुक्करकास्यं वंदे ॥ २ ॥ धीरो चिलाइपुत्तो, मूङ्गलिआहि चालिनिव्व कओ । जो  
 तहवि लज्जमाणो, पडिन्नो उत्तमं अहं ॥ ३ ॥ अड्ढाइज्जेहिं राइंदिएहिं, पत्तं चिलाइपुत्तेण । देविदामरभवणं,  
 अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥ ४ ॥ इति चिलातीपुत्रकथा समाप्ता ॥ ३४ ॥

तीव्रेण तपसा कर्म, कृतं दुष्टमपि स्फुटम् । युगवाहोरिवोपैति, क्षयं शीघ्रं शरीरिणः ॥ १ ॥



तथाहि—पाटलीपुरं नगरं शोभते स्म । तत्र विक्रमभूपो राज्यं कुरुते स्म । मदनरेखा तस्य पत्नी बभूव । मतिसागरनामा मन्त्रीशो बभूव । अन्यदा राजा सचिन्तां पत्नीं वीक्ष्य दुःखहेतुं जिज्ञासुः पप्रच्छ । भो पति ! तव कस्य वस्तुनो विषये चिन्ता विद्यते । इति भर्तृवचः श्रुत्वा प्रिया प्रिया प्राह—नाधुना वर्तते किञ्चि—दन्यद्दुःखस्य कार-  
णम् । लालितायास्त्वया पत्या, विहाय निरपत्यताम् ॥ १ ॥ तस्याः प्रियाया वाचं श्रुत्वा त्रिसन्ध्यं पूजापूर्वं पुत्रार्थं नृपः कुलदेवतामाराधयामास । क्रमात् पत्न्या गर्भोऽभूत् । क्रमात् प्राप्तसमये सा पुत्रमसूत । महोत्सवं कृत्वा युगबाहुरिति नाम ददौ राजा तस्मै । क्रमाद् वर्धमानो लेखशालायां पठितुं मुक्तो युगबाहुः पित्रा । यतः—“धन-  
हीनो न हीनस्तु, धनं वा कस्य निश्चलम् । विद्याहीनस्तु यः कश्चित्, स हीनः सर्ववस्तुषु ॥ १ ॥ विद्या यशस्करी पुंसां, विद्या श्रेयस्करी मता । सम्यगाराधिता विद्या, देवता कामदायिनी ॥ २ ॥” अन्यदा लेखशालायां कश्चिद्द्वैदेशिकोऽतिथिः  
समायातः सोऽभाषिष्ट । ब्रत लोकोत्तरफूर्तिः, कथं भूयात्पुमानिति ? जगदुर्जगतीशेन, गौडेनाभिहिता बुधाः ॥ १ ॥ शास्त्रे  
शास्त्रे च जागर्ति, यस्य कीर्तिरनुत्तरा । भाषितः पुरुषः सैषः बुधैर्लोकोत्तरं परम् । उपाध्यायोऽपि प्राह—यस्य शास्त्रकलायां  
शास्त्रकलायां च बुद्धिः प्रसरति स उत्तमो ज्ञेयः । उपाध्यायस्यैवं वाचं श्रुत्वा नृपाङ्गजो बहिर्वर्तिने गतो मुनिपार्श्वे पप्रच्छ—

लोकोत्तरा कलावासिः कथं जायते पुंसाम् । ते मुनयो जगुः—भो विक्रमबाहुनन्दन ! शुभकर्मनुकूल्यात् सर्वं शुभं  
 धियादि जायते । अशुभकर्मणा दुःखमूर्खादि भवति । पुनः मुनयः प्रोचुः—पञ्चम्यादितपोयोगै—देवताराधनेन च ।  
 ज्ञानव्यक्तिर्भवेन्नृणां, मुक्तिसौख्यप्रदायिनी ॥१॥ तपसा च दृढं कर्म, कृतं प्राणमुजा भृशम् । क्षयं गच्छति मर्तण्डा-  
 दिवान्धकारसन्धयः ॥ २ ॥ श्रुत्वा मुनिवचः स युगबाहुः पणमार्सी यावत्तपश्चकार । अथाकस्मान्मेघः समागात् । अम्भोद-  
 पटलैर्व्योम्नि, छादितः सितदीधितिः । मुखेन्दुः पान्थनारीणां, सकज्जलजलाश्रुभिः ॥ १ ॥ वारिभिः सरोद्भवादि-  
 भृतम् । एवंविधे वर्धति मेघे कश्चिद्राजानं प्रति प्राह—गङ्गाप्रवाहः प्लावयन् नगरं प्रसरति, स ततो भूपो याव-  
 द्दुत्तिष्ठति गङ्गाप्रवाहं पश्चाद्वालयितुं तावत् पुत्रः प्राह—ममादेशं देहि तात ! अहं यास्यामि । राजाऽवगृह्णेत् पुत्र !  
 स्वर्णपुत्रमादाय तत्र गच्छ । पूजामस्य कृत्वा जलमध्ये प्रक्षिपेः । यथा जलोपसर्गः शान्तिं याति । तातं प्रणम्य  
 तत्र गत्वा यावत्तातोक्तं चक्रे पुत्रः, तावद्राजपुत्रः कस्याश्चिन्नार्याः करुणध्वनिं शुश्राव । यावद्भूपभस्तां कर्षितुं दध्यौ  
 तावत् कापि स्त्री रुदन्ती जलचरान् नन्ती प्रकटीभूता जलमध्ये, प्राह च स्त्री—कोऽप्यस्ति भूपो भूपपुत्रोवा । यो  
 मां नुडन्ती प्रवाहाद्रक्षति । प्राह पुनः स्त्री—रत्नगर्भाऽपि वन्ध्याऽसि, कुतो देवि ! वसुन्धरे ! । यन्न जातस्त्वया कोऽपि,

मत्प्राणत्राणकारणम् ॥ १ ॥ श्रुत्वेति वचो भूपभूः सर्वं परिवारमवगणय्येतां स्त्रियं कर्षितुं जलान्तः प्रविष्टः । वीक्षितः  
सैनिकैः कन्या—मुद्विधौर्पुर्महीमिव । स्फुरद्रत्नतलां सोऽयं, नारायण इवाबभौ ॥ १ ॥ प्लवमानः कुमारो यावत्तस्याः  
पार्श्वे ययौ, तावत्सा दूरं दूरतरं यातिस्म । क्रमात्तस्याः पृष्ठौ गच्छन् कुमारः सैनिकस्य दृष्टिगोचराददृश्यतां भेजे । ततः  
सर्वं कुमारानुगा राजपुत्रमपश्यन्तो दुःखिनोऽभवन् । इतरस्तं कुमारमपहतं दृष्ट्वा सूर्योऽस्तं गतः । यतः—“ अस्तोक-  
शोकभृल्लोक—चक्रं चक्रन्द चक्रवत् । तत्र मित्रे स्फुरद्दृत्ता—देशे देशान्तरं गते ॥ १ ॥ ” तदा लोका एवं जगुः—  
दिदृक्षुरिव तं भानुः, कुमारं मारविग्रहम् ॥ पाथोनाथपथेनाथ, पातालमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥ अथ ते सैनिकाः पुर-  
मध्येऽभ्येत्य कुमारस्वरूपं भूपस्यात्रे प्रोचुः । दम्भोलिनेव भूपाल—स्ताडितो हृदयेऽपतत् । तद्घातोदुःखसंघट्ट—जन्मना  
शोकशङ्कुना ॥ १ ॥ चन्दनछटादिप्रक्षेपाद्राजा स्वस्थीकृतः ग्राह पुत्रगुणस्वरूपमिति—क्व सा भक्तिः क्व सा शक्तिः,  
क्व सा क्षान्तिः क्व सा मतिः । एकैकशोऽपि दृश्यन्ते, हा हन्त नहि ते गुणाः ॥ १ ॥ त्वं तातवत्सलो  
वत्स !, जन्मतोऽपि प्रभृत्यभूः । मां जराजर्जरितिं हित्वा, तत्संप्रति कुतो गतः ॥ २ ॥ ततोऽमात्या भूषं  
प्रति प्रोचुस्तदेति । स्वकर्मफलभोगेन, संसाराब्धौ शरीरिणः । बुहुदा इव यान्त्येके, समायान्त्यपरे पुनः

॥ १ ॥ यदेवेष्टवियोगादि, विरक्तेः कारणं सताम् । मोहान्धानां तदेवाहो, क्रोधशोककरं परम् ॥ २ ॥ न चक्रिणा  
 न शक्रेण, कृतविक्रमसंक्रमम् । विश्वैकवीरमाख्यान्ति, दैवमेवंविधं बुधाः ॥ ३ ॥ वरसैन्येन दैत्येन, सेवितैः परि-  
 द्वेषितैः । असौ प्रकृतिदुर्दान्तः, कृतान्तः केन गृह्यते ॥ ४ ॥ इदं मन्त्रिवचः श्रुत्वा कुपाणमाकुण्ठ्य भूपः प्राह—कृतं  
 तत्रानेन वस्तव्येन, दृष्टिपथाद् दूरं ब्रज । ततो योजिताञ्जलिः सचिवेश्वरः प्राह—स्वामिन् ! मया मौढ्यादिदमुक्तं  
 तथाऽपि किञ्चिदुच्यते । तदेवं दैवं यत्कुर्यात्, कर्म कुर्याच्छुभाशुभम् । शोभैव सृष्टिसंहार—कारिकारणवर्णना ॥ १ ॥  
 जरा नित्यं पृष्ठौ घावति । पुत्रः समेष्यति दोदूया न क्रियते । इतोऽकस्मात् प्रातर्मङ्गलध्वनिः मंसलः श्रुतः । काश्चिन्नरस्तत्र  
 तत्क्षणात् भूपात्रेऽभ्येत्य प्राह—आन्ध्यहेतुतमःस्तोम—च्छेदभासुरभास्यतः । दिष्ट्या त्वं वर्द्धसे देव ! युगबाहोरिहागमात्  
 ॥ १ ॥ पारितोषिकं दानं तस्मै वितीर्य भूपो विस्मेरनेत्रो यावदुत्तिष्ठतिस्म । तावह्लोककोकानां, शोकमुन्मूलयन्नयम् ।  
 स्वच्छरोचिरलङ्कार—भासुराकारविग्रहः ॥ १ ॥ स्वयमीक्षणराजीव,—जीवातुः प्रातरगतः । भास्वानिवोदयकला—  
 दुर्निरीक्ष्यो नृपाङ्गजः ॥ २ ॥ युग्मम् । नन्दनं प्रणमन्तं परिष्वज्य भूपो जगदिति—पुत्र ! त्वं कुत्र गतोऽभूः ?  
 कथमत्रागाः ? । ततो मन्मथाकारः कुमारः प्राह—ताताहं गङ्गाप्रवाहं वालयितुं गतः । तत्रैकां स्त्रीं रुदन्तीं कर्षितुं प्रविष्टः

तदा मूर्छामापम् । अग्रे गच्छन् मूर्छामुषितचैतन्य-स्तामथानुव्रजंस्तदा । कोऽहं किमर्थं कुत्रास्मी-त्येवं न प्रतिपन्न-  
वान् ॥१॥ क्षणेन सचेतनीभूयाहं स्वं सैकते स्थितमपश्यम् । न तत्पुरं न सा गङ्गा, न सा कन्या न सा रसा । आक-  
स्मिकमिदं जज्ञे, किं विचारपथातिगम् ॥ १ ॥ किमिन्द्रजालं किं वा स्वप्नं किं वा चैतन्यविप्लवः, विचिन्त्येति क्षणं समु-  
त्थाय परिभ्रमन् कल्पद्रुमाणां काननमेकमपश्यम् । तमारागं विलोकयन्नहमेकं चित्रकारकं प्रासादमुच्चैः सप्तभूममपश्यम् ।  
यावदहं तस्य षष्ठ्यां भुवि गतस्तावदपूर्वं गीतध्वनिमश्रौषम् । ततोऽप्रतो गत्वा द्वारदेशे विलम्बितोऽहं कयाचिद्वे-  
त्रधारिण्यागत्य भाषितः । अहं श्रीशारदादेव्या, त्वदाकारणहेतवे । शब्दविद्या प्रतीहारी, प्रेषिता तत्पुरो भव ॥ १ ॥  
ततस्तथा तत्र नीतः । शारदादेवीमपश्यम् । चारुनारीप्रचारेण, नतेनाप्सरसां पुरः । प्रेक्षाकौतूहलेनोच्चैः, क्षण-  
माक्षिप्तचक्षुषीम् ॥ २ ॥ तर्कसाहित्यविद्याभ्यां, वामदक्षिणपार्श्वयोः । वालव्यजनपाणिभ्यां, वीज्यमानां मुहुर्मुहु-  
॥ ३ ॥ अथाहं तस्यै देव्यै नमोऽकार्षम् । ततोऽहं वाग्देव्या स्वपादपीठे निवेशितः । हारहरामधुरया वाण्या  
भाषितश्चेति । मा वत्स ! विस्मयायत्तं, कार्षींश्चित् नृपाङ्गज ! । ततो विनयं कुर्वाणं राजपुत्रं दृष्ट्वा वाग्देवी जगौ-  
गङ्गाकन्यया मया तव सम्यगाराधनाभाजः स्तवनपूजनैः सत्त्वपरीक्षणं कृतम् । किञ्च स्वां प्रतीहारीं प्रेष्य त्वमिहानी

तोऽपि स्वक्रीडावनं दर्शयितुम् । त्वं तु सत्त्ववान् ज्ञातोऽसि । तव तपसाऽहं हृष्टाऽस्मि, प्राच्यैः पूर्वकृतकर्मभिस्त्व-  
 शीधैस्तुष्टारम्यहं तुम्यम् । प्राच्यकृतकर्मसम्बन्धः श्रूयताम् । यथाहि-पुरा पुष्पपुरे निर्धनः कोऽपि जनस्तिष्ठतिस्म,  
 महोत्सवेऽन्येषुर्नागरान् कौमुदीमहोत्सवकरणपरान् वीक्ष्याचिन्तयत् । मन्दभाग्योऽतिनिर्लेज्जः, पात्रं निन्दति कर्म-  
 णाम् । मया(म)-समः समस्तेऽपि, नास्त्यन्यः कोऽपि भूतले ॥ १ ॥ एवं विधेऽप्युत्सवे जायमाने मया न लब्धं  
 मनागपि भैक्ष्यं, प्राणारुनु न मां मुञ्चन्ति । इह मया यद् भैक्ष्यं न लब्धं तत्पूर्वकर्मविलसितम् । समानेऽपि मनु-  
 प्यत्वे, विशेषोऽयमभूच्च यत् । तदत्राहमहो मन्ये, पुण्यापुण्ये निबन्धनम् ॥ १ ॥ तन्मया यत् कञ्चित् किञ्चिन्न  
 कृतं मुकृतं पुरा । दुःखपात्रं तदत्राह-मभवं विभवं त्रिना ॥ २ ॥ ततोऽहं कञ्चिद्भैरवे गत्वाऽहं देहद्व्यागं करि-  
 प्यामि । यथा दुःखभाजनं भवान्तरे न भवामि । पर्यालोच्येति भैरवे भृगुपातं कर्तुं गतः । अभीष्टदेवतायाश्च,  
 नमस्कारं चकार सः । झम्पापातं चिकीर्षुश्च, दिशो व्यालोक्यन्नयम् । शमं मूर्तिमिवाशोक-तले मुनिमुदैक्षत ॥ १ ॥  
 दृष्ट्वा च तं पञ्चाङ्गप्रणिपातेन प्रणनाम् । ध्यानान्तेऽथ मुनीन्द्रोऽपि, ज्ञानत्रयमयः स्वयम् । ज्ञात्वोपकारमूचे तं, सुधामधु-  
 किरागिरा ॥ १ ॥ भो वत्स ! कुतस्त्वं समागाः उवाच सोऽपि निर्धनः-मम दारिद्र्यमद्यापि न गतं, युष्मद्दर्शनेन चाधुनाऽहं

कृतकृत्योऽस्मि । अथोवाच मुनीन्द्रः—कुतस्त्वमिति मूढोऽसि वत्साविदिततत्त्ववित् । तथाहि—सुलभा जीवलोकेऽस्मिन्,  
धृतिः श्रीः सुखसम्पदः । चिन्तारत्नमिवात्यन्तं, दुर्लभं जन्म मानुषम् ॥१॥ असारो देहो विनश्यति ततस्तपः कर्तव्यम् ।  
तत्र कर्मविनाशाय, प्रायः कार्यस्तपोऽग्निना । संशोध्यनिर्मलः स्वात्मा, बुद्धिमद्भिर्विधीयते ॥ १ ॥ महात्मन् पूर्वदुष्कर्म,  
निर्मूलनसमीहया । युज्यते तपसाऽऽराहुं, ततस्ते ज्ञानपञ्चमी ॥ २ ॥ तावज्जाड्यज्वरोद्गारै—जीर्यन्ते हन्त जन्तवः ।  
यावन्नाविर्भवत्युच्चैस्तपस्तपनवैभवम् ॥१॥ येषां तपःकुठारोऽयं, कठोरः स्फुरति स्फुटम् । मूलादुच्छेदमायान्ति, तेषां दुष्कर्म-  
वीरुधः ॥२॥ भावेनाराधितो येन, तपोधर्मोऽतिनिमलः तेनैवाराधितौ दान-शीलधर्मवपि ध्रुवम् ॥३॥ सम्पन्नानन्यसामान्य-  
तपःसन्दोहदोहदः । वितनोति फलस्फूर्तिं, मनोरथमहीरुहः ॥४॥ तत्तत्क्षीणान्तरायस्य, पञ्चमीतपसाऽमुना । मनोरथतरुः  
सर्व—वांछितार्थं फलिष्यति ॥५॥ इत्युक्तो मुनिना तपोधर्मो निःपुण्येन तेन पुरुषेण गृहीतः । ततः स्वगृहे समागात् ।  
ततः पञ्चम्यादितपः कुर्वाणः स्वजन्मकृतार्थतां चकार सः । ततः आयुः सम्पूर्णोऽकृत्य स दरिद्री पुरुषः पञ्चम्यादितपः—  
प्रभावाच्चपतेः सुतो युगबाहुरिति नामाभूः । एवं पश्चाद्भवसम्बन्धः प्रोक्तो मदीयो देव्या । पुनस्तुष्ट्या देव्योक्तम् । शास्त्रे-  
शास्त्रे च कौशलं लोकोत्तरं भवतु तव । प्रतिपक्षप्रतिक्षेप—क्षममेकं परं पुनः । काममन्त्रं ददौ देवी, कलाकौशलदा-

धिनम् ॥ १ ॥ एवं देवपिश्वं यावत् पूर्वं भवं श्रुत्वा शस्त्रशास्त्रादिकलाकौशलयादिविद्या गृहीता मया, तावदहमात्मानं नदी-  
 पुलिनगामिनमपश्यम् । ततोऽहं प्रमोदमेदुरस्वान्तस्त्वां नन्तुं त्वरितमत्रागमम् । एतत्पुत्रोक्तं श्रुत्वा पुत्राय यौवराज्यपदवीं  
 ददौ । कुमरोऽपि श्रियं प्राप्य, सहकार इवाद्भुताम् । गमयामासिवान्काम-मर्थिसार्थं कृतार्थताम् ॥ १ ॥ ततः प्रभृति  
 युगवाहुः मातापित्रोर्भक्तिं कुत्राणो जिनधर्मकरणतत्परस्तपः करोति पञ्चम्यादिपर्वसु । अर्द्धरात्रावन्यदा स्वावासपर्यन्ते  
 कनकाध्वनिं श्रुत्वा युगवाहुः । जिज्ञासुः प्रभवं तस्य, कुमारः करुणामयः । कृपाणपाणिर्निर्गत्य, गतवान् ध्वनिसंमुखम्  
 ॥ २ ॥ ततोऽन्तेवणं गतो युगवाहुरेकां स्त्रियं रुदन्तीं म्लानीभवन्मुखाभोजां लावण्यपुण्यखानिमपश्यत् । तदा नरेण  
 केनचिन् संभोगार्थं प्रार्थ्यमानां रुदन्तीं वीक्ष्य कुमरो वृक्षान्तरे छन्नं तस्थौ । तदा स पुमांस्तां स्त्रियं प्रत्येवमवदत् ।  
 मयि प्रपन्नदास्येऽपि, दास्यते यदि नोत्तरं । तदसिर्दृश्यतामेव, स्मर्यतामिष्टदेवताम् ॥ १ ॥ ऊचे कन्या तदा  
 मूढ ! स्मरामि कभिवापरम् । युगवाहुः कुमरोऽस्ति, हृदि मेऽद्वैतदैवतम् ॥ २ ॥ यद्यत्र मन्दभाग्याया, नैव देवेन  
 दर्शितः । भवान्तरेऽपि मे भूयात्, प्राणनाथस्तथापि सः ॥ ३ ॥ हृष्टः स्वनामश्रवणात् कुमरो दध्यौ-इयं मम  
 नाम कथं वेत्ति । कुमारः खड्गमाकृष्य, ततः क्रोधादधावत । स्वीधातपातकिन् । क्रूर ! क रे यासीति तर्जयन् ॥ १ ॥



अथासौ पुरुषः ब्राह्म, भद्र ! द्रुतमितिःसर । रजकस्यायुषि क्षीणे, खरवान्मित्रयसे कथम् ॥ १ ॥ कुमारोऽवग्-प्राणैः सत्वरगत्यरै-  
रोभिः स्वार्थः परार्थश्च पुम्भिः कर्तव्य एव । किं चाऽतिक्लृप्तमेतत्ते, निर्मातुं कर्म नोचितम् । लोकद्वयविरुद्धं हि, विद-  
धाति सुधीः कुतः ॥ १ ॥ नरोऽवग-दुष्ट ! किं ममाप्युपदेशं ददासि ? । इत्युक्त्वा स नरो युगबाहुं हन्तुमुत्तस्थौ ।  
खड्गाखड्गि युद्धं चिरं द्वाभ्यां कृतम् । अथ कुमारमजशयसारविक्रमं हन्तुं दन्दशूकाखं साक्षेपमक्षिपन्नरः । ततः कुमारः  
शारदादत्तं मन्त्रं नागपाशनाशाय सस्मार । तयोररुहमस्त्रेण निवारयतोर्मिथश्चिरं युद्धमभूत् । क्रमात्कुमारेण स्तम्भ-  
नीविद्यया स नरः स्तम्भीकृतः । तदा कुमाररूपमालोक्य सा कन्या विस्मयोत्ताना मनसैवं व्यचिन्तयत् । स एव  
यदि राजेन्द्र-नन्दनोऽयमिहागमत् । उपचक्रे ममैतेन, नष्टो विद्याधराधमः ॥ १ ॥ ततः स नरस्तेन बन्धनान्मुक्तः  
सन् कुमारस्य पादयोः पयात । तदा कोऽप्याविर्भव विद्याधरो विमानादुत्तीर्य भासुरोदारनेपथ्यधरः । स  
विद्याधरः कुमारस्य पुरो भूत्वा जगौ-भो युगबाहो ! त्वं सुस्थितः सन् शृणु मे वचः । तथाहि-  
भरतक्षेत्रसीमान्त-वैताल्योत्तरदिग्गतम् । अस्त्यपास्तामपुरं, पुरं गगनवल्लभम् ॥ १ ॥ तत्र मणिचूडनामा  
खग आसीत् । तस्य प्रिया मदनावली । तयोः पुत्री जलदेवतया दत्ताऽनङ्गसुन्दरी जज्ञे । क्रमाद्यौवनं प्राप्ता । चतुः-

पथिकलाकुशलाऽनङ्गसुन्दरी जाता । साऽनङ्गसुन्दरीति प्रतिज्ञां चक्रे । यः कश्चित् मरुतस्य प्रश्नचतुष्टयस्य प्रत्युत्तरं  
 दारयति स एव भानी मम भर्ता खेचरो भूचरो वा । ततस्तयाऽनङ्गसुन्दर्या कृतां प्रतिज्ञां श्रुत्वाऽनेके विद्याधरा  
 नृपास्तत्राययुः । गर्वतः सर्वतोऽप्येत्य, प्रश्नोत्तरवहिर्मुखाः । वृथाभवन्नपुण्याना—मिव लक्ष्मीमनोरथाः ॥ १ ॥ तत्रातेन  
 भूमन्त्रा, पृष्टो नैमिचित्कोत्तमः । युगवाहुं शशंसास्या, भाविनं भूचरं वरम् ॥ २ ॥ ततः प्रभृति सा तत्र, लक्ष्मीरिव  
 मुरद्धिपि । वदद्भावाऽभवत्कामं, गुणैः श्रुतिपथागतेः ॥ ३ ॥ पूर्वेषुः प्रातरेवास्य, सभासीनस्य भूभुजः । अगात्प-  
 वनवेगाख्यः, खगः शङ्खपुरेश्वरः ॥ ४ ॥ पुत्रीमुद्धोदुकामोऽकृतप्रश्ननिर्णयो विलक्षो जहारैनामनङ्गसुन्दरीम् । ततो-  
 ऽनेके खेचराः स्वस्वरथानि ययुः । अस्यास्तु मातुलः सोऽह—मिहायातोऽस्मि दैवतः । अयं पवनवेगाख्यो, जामेयो-  
 ऽस्ति ममाप्यमौ ॥ १ ॥ इतोऽक्रस्मात्तत्र मणिचूडोऽपि सपरिवारः समागात् । मणिचूडो जगौ—भो सहाबाहो ! युग-  
 बाहो ! ममेयं सुता मम जीवितमस्ति । पूर्वं नैमिचित्त्वेन मया पृष्टेन त्वमस्याः पतिः कथितोऽसि । सांप्रतं तु  
 ज्ञापितोऽसि विद्याधरेशः । तत्त्वां प्रतिप्रदानेऽस्याः, का नाम प्रसुता मम । किन्तु प्रतिज्ञानिर्वाहोऽप्यस्यास्त्वय्येव  
 तिष्ठति ॥ १ ॥ निष्कारणोपकर्तारः, क नाम स्युर्भवाद्दशः । दृष्टः किं विष्टपोज्जीवी, यदिवा न दिवाकरः ॥ २ ॥ एवं

तस्मिन् खगे वदति ज्ञात्वा स्वपुत्रस्थितिवृत्तान्तं विक्रमबाहुः समागात् । सङ्गमस्तत्र चान्योऽन्य-मुभयोरपि भूभुजोः ।  
प्रशस्यः समभूद्भङ्गा-कालिन्दीस्रोतसोस्त्रि ॥ १ ॥ ततः पवनवेगोऽपि युगबाहुं प्रणम्याह-मया स्त्रीहरणात्पापं कृतं तत्  
क्षमस्व । ततो युगबाहुस्तं स्वसेवकं चक्रे । मणिचूडः सर्वान् खगान् स्वपुरेऽनैषीत् । ततः पुरीपरिसरे रम्ये संसूत्र्य मण्डपं  
कारयामास मञ्चोन्मज्जान् । ततः सर्वेषु भूचरेषु खेचरेषु मञ्चोन्मज्जेषु उपविष्टेषु विक्रमबाहुमणिचूडभूपावुपविष्टौ ।  
युगबाहुरपि तत्रोपविष्टः । ततोऽनङ्गमुन्दरी आप्ययानारूढा सारालङ्कारवस्त्रभूषितगात्रा तत्रागत्य पितुश्चरणौ प्रणम्य  
निपसाद पितुरग्रतः । ततो राजाऽवग-इयं मम पुत्री प्रशचतुष्टयं स्वकृतं जल्पिष्यति । तस्य यः प्रत्युत्तरं दास्यति स  
परिणेष्यति मत्पुत्रीम् । ततस्तयोक्तं कः सकलः १, कः सद्बुद्धिः २, कः शुभगः ३, को विश्वजयी ४, एतस्य प्रशचतुष्टयस्य  
प्रत्युत्तरो न केनाऽप्यपुरि । ततो युगबाहुस्वर्णपाञ्चालिकापार्श्वीदेवं पूरयामास । कः सकलः? सुकृतरुचिः १, कः सद्बुद्धिः?  
विधेयकरुणापरः २, कः शुभगः? शुभवादी ३, को विश्वजयी? जितक्रोधः ४ ॥ १ ॥ एवं समस्यायां पूरितायां जयजयारावे  
जायमाने कुमारी युगबाहुकण्ठे वरमालां चिक्षेप । शुभे मुहूर्ते विशेषतो राजा तयोः पाणिग्रहणं कारयामास । ततो  
मणिचूडो विक्रमबाहुप्रभृतीन् भूषान् सद्बुद्धभूषणादिना मानयामास । ततो विक्रमबाहुः पुत्रयुतः स्वपुरमाययौ ।

नृपः पवनवेगोऽपि स्वपुरं ययौ । क्रमादन्येद्युर्मन्त्रीश्वरानापृच्छय जिनेन्द्रस्य पूजां कारयित्वा वन्दीजनमोक्षणं च  
कृत्वा स्वपुत्रं युगबाहुं स्वपदेऽभिषिच्य संयमश्रीगुरुपान्ते संयमं जग्राह । युगबाहुनृपस्तु पितृदत्तविद्ययाऽनेकान्  
धैरिवागन् वशीचकार । मणिचूडविद्यार्धेणापि दीक्षां जितृक्षुणा युगबाहुर्विद्याधरनायकश्चक्रे । अन्येद्युरनङ्गसुन्दरी  
शुभेऽदृशि सत्स्रमसूचितं पुत्रमसूत । जन्मोत्सवं कृत्वा सूनो रत्नबाहुरिति नाम ददौ राजा । वर्द्धमानः क्रमाद्धर्म-  
नर्मशालाणि पाठितः पित्रा । अन्येद्युः श्रीविक्रमबाहुमुनिर्विहरमाणः प्राप्ताचार्यपदस्तत्राययौ । ततः श्रीयुगबाहुर्धर्मं  
श्रोतुं गतस्तत्र । गुरुरित्याह—धर्मो विशिष्टः पितृमातृपत्नी—सुहृत्सुतस्वामिसहोदरेभ्यः । सनातनोऽयं सह याति  
मृत्यौ, दुःखापहोऽभी पुनरीदृशा न ॥ १ ॥ धर्मो सदा मङ्गलमङ्गभाजां, धर्मो जनन्युद्वलिताखिलार्तिः । धर्मः  
पिता प्रतित्तिचिन्तितायो, धर्मः सुहृद्घातितनित्यहर्षः ॥ २ ॥ विद्युद्विलासस्थितिजीवितव्यं, सन्ध्येव लक्ष्मीः क्षणदृष्ट-  
नद्या । तरङ्गभङ्गप्रतिमं प्रभुत्वं, धर्मस्ततः शाश्वत एव सेव्यः ॥ ३ ॥ इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा युगबाहुः स्वपुत्रं  
रत्नबाहुं स्वपदेऽभिषिच्य श्रीविक्रमबाहुगुरुपार्श्वे दीक्षां ललौ । तदा गुरोर्भिरुक्तं—चारित्रं शुद्धं पालनीयं, यतश्चारित्रात्  
स्वर्गापवर्गादिसुखं भवति । यतः—एके सिंहीभूय चारित्रं गृह्णन्ति शृगालीभूय पालयन्ति १, एके शृगालीभूय

चारित्रं गृह्णन्ति सिंहीभूय पालयन्ति २, एके श्रृगालीभूय चारित्रं गृह्णन्ति शृगालीभूय पालयन्ति ३, एके सिंहीभूय चारित्रं गृह्णन्ति सिंहीभूय पालयन्ति ४, त्वया चारित्रं चतुर्थभङ्गे पालनीयम् । श्रुत्वेति गुरुवचो युगबाहुः षष्ठाष्टमपक्षपणमासक्षपणादितपः कुर्वाणो युगबाहुः कर्मविच्छेदं चकार । युगबाहुना तपः कुर्वता सर्वकर्मक्षयात् केवलज्ञानं प्रपेदे । ततोऽनेकभव्यजीवान् चिरं प्रबोध्य युगबाहुर्मूर्त्तिं गतः । ॥ इति युगबाहुकथा समाप्ता ॥ ३५ ॥ अज्जगिरि अज्जरक्खिअ, अज्जसुहत्थी उदायणो मणगो । कालयसूरी संबो, पज्जुन्नो मूलदेवो य ॥ ५ ॥ लभन्ते भवीनः सौख्यं, कुर्वाणा धर्ममार्हतम् । आर्यमहागिरिसुह-स्तित्ताविवावनीतले ॥ १ ॥

तथाहि---स्थूलभद्रमुनीन्द्रस्य शिष्यौ आर्यमहागिरिसुहस्तिनावभूताम् । चरणाविव धर्मस्य, ज्ञानस्य नयने इव । तावभूषयतां साङ्ग-दशपूर्वधरौ धराम् ॥ १ ॥ आर्यमहागिरिरिनेकशः शिष्यान् वाचनादनैर्निष्पादयामास । निज-गच्छभारं सुहस्तिनि न्यस्य । एकोऽभून्मनसा कामं, जिनकल्पाहवृत्तिधीः । व्यवच्छेदाज्जिनकल्पस्य, गच्छस्थोऽपि तदर्हकृत् । महागिरिर्महीपीठे, विजहार महातपाः ॥ १ ॥ तौ सूरी पाटलीपुरमध्येऽन्येद्युर्ययतुः । तत्र वसुभूतिर्महे-भ्यो बोधितोऽस्ति श्रीसुहस्तिभिः जीवाजीवादितत्त्वज्ञोऽभूत् । क्रमादसुभूतिः सुश्रावको निजस्वजनान् बोधयितुं

प्रवृत्तः । तेन ते बोधयितुं न शक्निरे । प्रतिबोधयितुं बन्धुवर्गं मोहग्रहग्रस्तं तद्धानिव वसुभूतिः स्वयं स्वगुरुं तत्र  
 निन्ये । तत्र व्याख्या भवतापापहारीणी श्रीसुहस्तिना समारब्धा । तत्र भिक्षार्थमार्थमहागिरिराययौ । तत्क्षणमेवोत्थाय  
 श्रीसुहस्तिमूर्तिर्भक्तिपूर्वं श्रीआर्यमहागिरिं ववन्दे । श्रेष्ठी जगाद—भगवन् सुहस्तिसूर ! तव सर्वगुरोरपि किमेष गुरुः ? ।  
 श्रीसुहस्ती प्राह—गुरुवोऽमी मम तपश्चरन्तोऽत्र त्यागाहं भक्तं पानं च गृह्णते कर्मरोगच्छिदे एवंविधं तपः कुर्वते-  
 ऽमामी । एवं विनयं तस्य सूरवीक्ष्य धर्मोपदेशमाकर्ण्य च तत्कुटुम्बं प्रबुद्धम् । ततः सुहस्ती तान् बन्धून् प्रतिबोध्य  
 श्वाश्रयं ययौ । इतो वसुभूतिरभाषिष्ट, स्वजनान् प्रति—ईदृग् मुनीन्द्रो मोक्षमार्गदायी यदाऽऽत्मीयगृहे समायाति, तदाऽ-  
 ऽमे मुनीशाय त्यज्यमानं भक्तं पानं च देयम् । तद्दानं बहुफलं मुक्तिदायिनं भविष्यति । अथ तत्रैव भिक्षार्थं  
 प्राप्नोऽन्यद्वा श्रीमहागिरिस्तत्रागात् । यदा ते श्राद्धारत्यज्यमानभक्तपानप्रतिलाभनायोद्यता अभूवन् । तदा ज्ञानाद-  
 शुद्धमाहारं ज्ञात्वा महामुनिरुपाश्रये गत्वा सुहस्तिसूरिं प्रति जगाद—त्वदुपदेशात्ते श्राद्धा अशुद्धां भिक्षां मद्यं  
 दातुमसज्जयन् । नेदं पुनः करिष्याम्यशुद्धमाहारमित्युक्त्वा आर्यसुहस्ती क्षमयामास विनीतात्मा । जीवन्तस्नामि-  
 प्रतिमाश्चयात्रां निरीक्षितुं आर्यमहागिरिसुहस्तिसूरी गच्छतः स्मावन्तीम् । तदा तत्र नृपः संप्रतिर्जितानेकवैरिचक्र

आसीत् । उत्सवादथ श्रीजीवन्तस्वामिनो निरर्थ्यौ रथः । संसारसागरोत्तारकारणं नीयमानः स रथोऽन्वीयमानः सुहस्तिसूरिणा श्रीसङ्घेन च पुर्यौ स्थाने स्थाने पर्यटतिस्म । इतो रथो आभ्यमाणो राजद्वारमागात् । तदा राजा संप्रतिर्गवाक्षस्थः श्रीसुहस्तिनं सूरिं गच्छन्तमवलोक्य दध्याविति—किमेष यतीशः शान्तात्मा पुण्यमूर्तिर्मया पूर्वस्मिन् भवे वा कुत्रचिद् दृष्टोऽसौ, येनास्मिन् दृष्टेऽतीव मोदो जायमानोऽस्ति । “यस्मिन् दृष्टे भवेन्मोदो, द्वेषश्च प्रलयं व्रजेत् । स विज्ञेयो मनुष्येण, बान्धवः पूर्वजन्मनः ॥ १ ॥” इत्येवं पुनर्विमृशन् प्राप्तमूर्च्छो नृदेवः पपातावनीतले । तदा मन्त्रिभिरनैकैर्वातप्रक्षेपादिभिरुपचारैः सचेतनीकृतः । सचेतनो भूत्वा जातिस्मृतिं प्राप । उत्थाय तत्क्षणान्नृदेवो गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य श्रीसुहस्तिनं पूर्वभवसम्बन्धिनं स्वगुरुं जानन् भूतलमिलन्मौलिर्ननामोच्चैः । ततो हस्तौ योजयित्वा राजा सानंद उवाच—भगवन् ! केन फलेन जिनधर्मः फलति । आख्यद्गुरुस्तरोस्तस्य, सुपक्वममृतं फलम् । अपक्वफलभेदास्तु, कल्पाश्चानुत्तराश्च ते ॥ १ ॥ पुनः पृथ्वीशः पप्रच्छ—अव्यक्तस्य सामाधिक्यस्य किं फलं भवति ? । गुरुराह—सामाधिक्यस्य कर्तुर्यत्पुण्यं भवति, तस्य सङ्ख्यां कर्तुं शक्यते न । “सामाईअंमि कए, समणो इव सावओ हवइ जग्हा । एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥ १ ॥” ततोऽव्यक्तसामाधिक्याद्राज्यं

प्राप्यते ततो राज्यफलम् । एतत् श्रुत्वा राजा जगौ-भगवन् ! अहं त्वयोपलक्ष्यो न वा । उपयोगेन विज्ञाय गुरु-  
 गिरिमाह-ज्ञानोपयोगात् विहरन्तो वयं श्रीमहागिरिसूरिभिः समं सगच्छाः कौशाम्ब्यामागच्छाम । साधुबाहुल्यात्  
 वननेः संकीर्णत्वात् पृथक् स्थितौ आवां तदाऽतिदुर्भिक्षे प्रवर्तमाने श्राद्धा महर्द्धिका अस्मभ्यं बहु अन्नं विहारयन्ति स्म ।  
 कस्यापि श्रेष्ठिनो गृहे साधवोऽस्मदीया भिक्षायै ययुः । तदा एको रङ्गस्तेषां पृष्टिस्थो धान्यं बहु विहार्यमाणं वीक्ष्य  
 वर्त्मनि जगौ-अहं दीनो नुमुक्षितोऽस्मि, म्रियेऽहं तेन भोज्यं किञ्चिदीयताम् । साधवोऽस्मदीया जगुः-गुरवो  
 जानन्ति वयं तु तदधीनाः, स्वयं दातुं किमपि नेश्वराः । ततो रङ्गो गुरुपाश्वर्यं गत्वा भोजनमयाचत । तदा गुरु-  
 भिरतिशयज्ञानवह्निस्तस्याग्रेतनं भवं दृष्ट्वा प्रोक्तं-व्रतं चेद्भजसे तदा लभसे भक्तमस्मत्पार्श्वतः । अचिन्तयदयं रङ्ग-  
 शिरं कष्टं सहाम्यहम् । तद्वरं व्रतजं कष्टं, यथेष्टं यत्र मुज्यते ॥ १ ॥ रङ्गः प्राह-मम संयमं ददत यूयम् । ततो  
 गुरुभिः संयमश्चीस्तरमै विश्राणिता । अल्पमार्युर्भूत्वा स्वन्नपानदानेन भोजयित्वा भाववृद्धये साध्वीपार्श्वे साधुयुतो  
 रङ्गसाधुः प्रेषितः । साध्वीभिरुत्थाय महर्भ्यप्रियापुत्रीयुताभिर्विन्दतो यतिः । तदा ध्यातं तेन-अहो धर्मस्य साम्राज्यं,  
 मया यत् कदाचिद् दृष्टं नान्नं तद्भुक्तं, एवंविधाः साध्व्यादयो मामद्य दीक्षितं वन्दन्ते । वर्द्धमानभावो रङ्गः पश्चात्



शालायां समागतोऽकस्माद्वलिष्टाद्वाराजीर्णत्वात् गत्यानीभूतो रात्रौ तस्यां गुरुभिर्निर्योमितो मृतः । रा रक्षसाधुरव्य-  
क्तसामाधिक्यो विपद्य राजंस्त्वं मृणालमपक्वणालमियाङ्गजोऽभूः, वयं ते रक्षस्य दीक्षान्दातारः स्मः । पुनः भूपोऽवगू-भगवन्नेप  
राज्यसम्भवो भवत्यसादः । भगवन् ! यदि तदा युष्माकं दर्शनं नामवन्मम, तदा मम केद्वगू रांयमः । पूर्वजन्यमनि  
यूयं गुरवो जाताः । अस्मिन्नपि भवे भवन्तो गुरवो भवन्तु । श्रीसुहस्तिरूरिराह-राजज्ञानमस्वर्गोपवर्गमुच्चन्द  
प्रवरं जिनधर्मं भज । येन धर्मेण संसाराच्चिस्तारो भवति । ततो राजा बहुपरिवाग्युक् श्रीगुरुपाश्च धर्मं श्रोतुं  
गतः । ततो गुरुराह-“ विवर्गसंसाधनमन्तरेण, पक्षोरिवायुर्विकलं नरस्य । तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना  
यद्ववतोऽर्थकामो ॥ १ ॥ ते वत्तूरतमं वपन्ति भवने प्रोन्मूच्य कल्पद्रुमं, चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकृते ते  
जडाः । विक्रीय द्विरदं गिरिन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं, ये लब्धं परित्यज्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशयाः ॥ २ ॥”  
संप्रतिर्जनधर्मं जग्राह । देवो गुरुधर्मं पृथ मे भवन्तु । ततः संप्रतिभूपतिर्जिनधर्मवासितारासधानुश्राद्धपुद्गवोऽभवत् ।  
यतः-“ आसने परमपद्, पावेयद्वमि सयलकद्वाने । जीवो जिणिद्वमणियं, पट्टिवज्जड् भावओ धम्मं ॥ १ ॥”  
सन्ध्याव्रथे जिनार्चो करोतिस्म राजा । साधर्मिकवात्सल्यं प्रतिदिनं व्यधाच्च । रासक्षेत्र्यां धनं व्ययन् मनागपि

वेदां निःशलां न निर्गमयामास । अवाप्य धर्मावसरं विवेकी, कुर्याद्विलम्बं नहि विस्तराय । तातो जिनस्तक्षशिला-  
 धिपेन, रात्रिं व्यतिक्रम्य पुनर्न नेमे ॥१॥ अद्वरिद्रिनिदानानि दानानि याचकेभ्यो दीनेभ्यो दत्तेरम भूपः ततो दिग्गन्त्रां  
 नृवीणः संप्रतिभूषणनिगूढं भरतं साधयामास । क्रमात् संप्रतिभूपतेस्त्रिखण्डाधिपतेरष्टौ सहस्रं राजानः सेवां कुर्वते,  
 पत्राक्षरसहस्रमिता मतद्गजा आसन्, पुष्पकोटिमितारतुरङ्गमा जाताः, कोटिसप्तमिताः सेवकाः, स्थानां कोटयो नवा-  
 भयन्, अनेके देवाः सर्वत्र सानिध्यं कुर्वते । मुवर्णरूप्यटंककादिकोशस्य प्रमाणं तस्य भूपतेर्न ज्ञायते त्रिबुधैरपि । श्रीसुह-  
 र्निगुरिगुरुक्तं धर्मं मदा कुर्वन् बहुपुन्यमर्जयामास । श्रीसङ्केन सह वर्षे वर्षे चैत्ययात्रोत्सवः संप्रतिभूपेन तन्यते । धुर्यो-  
 भूनेरथ रथः, आर्द्धरत्नस्य तीर्थं दृतः । स्वयमात्मेव संसाग-चैत्यद्वारादकृष्यता ॥१॥ पुरि तस्यां श्रीसुहस्तिगुरवोऽपि नानादेशेषु  
 विहृत्य तत्रागच्छन्ति स्म । तदा श्रीजिनचैत्येभ्यो, वाल्मथित्वा विलोचनम् । चमत्कृतैः ससम्यक्त्वैर्दृश्यमानो वैमानिभिः ॥१॥  
 न गननुर्विधाऽनोय वायोरुपेक्षणीयकः । आनन्दनिद्रानिर्मम जनः स्वप्नायितोत्सवः ॥२॥ सरासैः श्राविकालोके अमह-  
 मेकुलाग्निः । धर्मार्णनमहावर्तेरिव मारजितपातकः ॥ ३ ॥ पूज्यमानजिनो भक्तैः, प्रत्यद्राट्टालकालयम् । काश्मीरनी-  
 रपरेण, श्रीगमानच्छटोऽग्रतः ॥ ४ ॥ चतुर्विधमहासङ्घचतुरङ्गचमूवृतः । रथस्तीर्थपतेर्मोह-द्रोहिण्या यात्रयाऽचलत् ॥ ५ ॥

पद्मभिः कुलकम् । त्रिखण्डस्मातलोद्धार-धुर्यैः संप्रतिभूपतेः । भाग्यैः सा कुण्ड्यमाणोऽपि, राजद्वारं शनैर्गयो ॥ १ ॥  
कर्माण्युच्छेत्तुमिवाष्टौ अष्टग्रन्तराभिः पूजाभिः संप्रतिभूपो जिनप्रातिमामपूजयत् । तदैवाहूय स रांप्रतिः आद्यै-  
ताढ्यं रामन्तान् तानित्यवोचत्-अपि चेन्मयि यदि भवन्तो भक्ताः स्युस्तदा श्रमणानामुपासका भवन्तु । इति संप्र-  
तिराजादेशात्ते भूपाः स्वस्वदेशे जैनधर्मं श्रमणोपासकपरास्तेनिरे । आर्यदेशस्थान् भूपान् जिनधर्मकारकान् कृत्वा  
शुद्धधीः रांप्रतिभूपतिरिति वृध्यौ निशीथे । अनार्थदेशेषु मया कथं जैनधर्मः कारयिष्यते लोकपार्थात् । साधून्  
विना धर्मोपदेशं को ददाति । तेन प्रथमं श्रमणोपासकाः प्रेष्यन्ते । ते तत्र धर्मोपदेशं दत्वा श्रावकान् कुर्वते । ततः  
संप्रतिभूपेन बहवः श्रावका यतिविपधारकाः कृत्वा चालिताः तत्रोपरि प्रोक्तं-तत्र भवद्भिर्द्विचत्वारिंशदोषवर्जितमाहारं  
गृहीत्वा साधुभिरिव भवद्भिः स्वाध्यायादि सर्वं कर्तव्यं नो चेदत्र वः सर्वो आरोग्यो गृहीष्यते मया । एवं मदुक्तं चेष्टादि  
करिष्यते तदा द्विगुणो आसौ दास्यते मया । ततः संप्रतिभूपतिनिर्देशात्ते श्रमणोपासका गृहीतराधुवेपा निर्वाहमात्रगृही-  
तधना अनार्थदेशेषु ययुः । तत्रत्या लोकाः श्रीरामप्रातिभूपगुरून् मत्वा धर्मोपदेशमिति शृण्वन्ति । तथाहि-धर्मोज्ज्वलकुले  
शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं, धर्मेणैव भवन्ति निर्मल्यशोविधार्थसम्पत्तयः । कान्तारात्र महाभयाच्च राततं धर्मः परित्रायते,

धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥१॥ अहिंसासत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् । एतेषु पञ्चसूक्तेषु, सर्वे  
 धर्मोः प्रतिष्ठिताः ॥ २ ॥ प्राज्यानि राज्यानि सुभोजनानि, सोभाग्यमारोग्यसुयोग्यवार्ता । रामा रमा रम्यशोविलासाः,  
 स्वर्गापवर्गौ प्रभवन्ति वर्मात् ॥ ३ ॥ दारिद्र्यमुद्रा परकर्मकृत्वा, दुष्टस्वभावासुखसङ्गतानि । एकत्वरङ्गत्वकदम्बभो-  
 ज्य-कुलपमुग्धानि भवन्त्यधर्मात् ॥ ४ ॥ नित्यं शुद्धान्नपानदानेन प्रतिलाभयन्ति ते तत्रत्या लोकाः क्रमाच्चैर्येतिभि-  
 स्मादृशैश्चे बहवो जनाः जिनधर्मं ग्राहिताः जिनभवनादिषु स्वां श्रियं व्ययन्तिरम । तैः साधुभिस्ते अनार्यदेशवास्त-  
 व्यजनाः आवर्ककृताः सन्तो जल्पन्तिरम । भवतां को गुरुरस्ति । तैरुक्तमस्माकं गुरुः श्रीसुहस्तिसूरिः । क्रमात्संप्रतिना  
 साधुविहारमनार्थदेशेषु जायमानं श्रुत्वा हृष्टम् । ततोऽनेके साधवस्तेषु तेषु अनार्यदेशेषु गुरुभिर्विहारिताः । अग्रेतना  
 ये साधवस्तत्र गतारस्तेऽपि गृहीतं संयमं न मुमुचुः । यतः—“ अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं, कुर्मो विभर्ति  
 धरणीं नन्दु पृष्ठभागे । चारानिधिविहति दुर्वहवाडवाग्नि-मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥ १ ॥ ” अन्येद्युः श्रीगुरु-  
 भिरुक्तं—भो संप्रतिभूय ! विशेषतो दानमनर्गलं दीयते । दानं विना भोगो न भवति । चतुर्धा धर्मः श्रीजिनैरुक्तः ।  
 नत्र दानधर्मो मुख्यतया श्रीवीतिगमैरपि प्रोक्तः । यतो दानं विना अपरे धर्माः कर्तुं न शक्यन्ते । यतः “निखि-

लेष्वपि धर्मेषु, दानधर्मो विशिष्यते । दानधर्मं विना यस्मान्मुक्तिर्नैवाप्यते क्वचित् ॥ १ ॥ ” इत्यादि० । ततो ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे सत्रागारानकारयन्नृपः । अन्येद्युर्गुरुपाश्र्वे धर्मोपदेशं श्रोतुं गतः । तदा श्रीगुरुभिः प्रोक्तम् । जिणभ-  
वणबिंबपुत्थयसंघसरूवेसु सत्तखित्तिसु । ववीयं धणंपि जायइ शिवफलाइमहो अणंतगुणं ॥ १ ॥ क्षमाभृद्रंकतयोर्भनी-  
षिजडयोर्नारोगरोगार्तयोः, श्रीमहुर्गतयोर्बलाबलवतोः सद्रूपनीरूपयोः । सौभाग्यासुभगत्यसङ्गमजुपोरस्तुल्ये पितृत्वे  
पुनर्यत्तत्कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत ॥ २ ॥ प्रासादान् श्रीजिनेन्द्राणां, कारयन् भव्यमानवः ।  
लभते सपदि श्रेयः सुखं श्रीहरिषेणवत् ॥ ३ ॥ पुरा श्रीहरिपेणचक्रवर्ती श्रीगुरुक्तधर्ममाकर्ण्य षट्खण्डामखण्डां मही-  
मभ्रंलिहजिनागारैर्भूषयामास । ततः स चक्रवर्ती सर्वकर्मक्षयं कृत्वा मुक्तिं ययौ । इति श्रुत्वा संप्रतिचक्री त्रिखंडां  
महीं जिनमन्दिरैरमण्डयत् । सत्रागारेषु दीयमाने यदवशिष्टं मुक्तं भक्तघृतादिकं भवति तत् सत्रागाराधिकारिणो  
गृह्णन्ति स्म । नृपोऽन्यदा सत्रागाररक्षकान् प्रति जगौ । यद्यदवशिष्टमन्नं भवति । तत्तत् व्रतिभ्यो देयं शुद्धत्वात्  
साधवोऽकृताकारितमाहारं गृह्णन्ति । भवद्भ्यो विभवं भूरि, गृहनिर्वाहहेतवे । दास्यामि कामितं यद्वाः, पूरयिष्यामि  
तच्च भोः ॥ १ ॥ राजाज्ञया साधुभ्योऽन्नं प्रासुकं ददिरे सत्रागाररक्षकास्ते । ततस्तैः दीयमानमन्नं प्रचुरं विशिष्ट-

भगुद्धमपि शुद्धनुद्ध्या गृह्णन्तिरस साधवः । सेहे स्वयं सुहस्ती तु, सद्रोपं तद्विदन्नपि । सूनोरिव स्वाशिष्यस्य, को  
 न गणेन लिप्यते ॥ १ ॥ अन्येयुः श्रीआर्यमहागिरिः श्रीसुहस्तिसूरिं तथाविधाहारं गृह्णन्तं श्रुत्वा तत्रोवाच । किं  
 गजगिष्ठं सद्रोपं जानन्नपि त्वं गृह्णासि । गृह्णानान् साधूनप्यनुजानासि । सत्रागारे तु साधूनामाहारं गृहीतुं न कल्पते ।  
 यतः—“ आह्लाकम्मुनेसिय पूईयकम्मे य भीसजाए य ठवणा पाहुडिआए १ । सुहस्त्युचे—प्रभो भक्तिभासुरा अभी  
 दूदने दानम् । अरमाभिरीहृदानविश्रानविषये किमप्युक्तं नारित । स्वभावेन परार्थमत्र निष्पाद्यमानमस्ति तेनात्र  
 को द्योपः । नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइअं तंभि, गिहिणा कडमाईयड, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ॥ १ ॥  
 न कारितं कृतमनुगतमरमाभिरतोऽय दाने को दोपः महागिरिगुरुः स्माह । सच्चं तद्वि मुणंतो गिन्हंतो बुद्धए  
 पंगंगं ते । निद्धंघमो य गिद्धो, न मुयइ सर्जीयंपि न्हु पच्छा ॥ १ ॥ महागिरिगुरुः स्माह, शान्तं पापं किमात्थ भोः ।  
 अनेन यचना श्रन्न-पातो भवति देहिनाम् ॥ २ ॥ पृथग् जनानां साधूनां, सामाचर्येव सद्गतिः । सामाचारी  
 निमिसेन, दुर्गतिर्जायते खलु ॥ ३ ॥ भयेन डिम्भवद्देप-मानो मानयितुं गुरुन् । पादावादाय शिरसा, जगानार्थ-  
 गुरुमस्य ॥ १ ॥ दृढा महापराधोऽयं, मयैको विदधे विभो । । क्षन्तव्यं भवताऽधैक-चारं कुर्वे इदं न तु ॥ २ ॥

श्रीमहागिरिसूरिराह—भवतः को दोषो दीयते । दुःषमाकालविलसितमिदं यतः इति संबोध्य श्रीसुहस्तिसूरिं श्रीमहा-  
गिरिसूरिः श्रीजीवन्तस्वामिनं जिनं नन्तुमवन्त्यां ययौ । तत्र जिनं नत्वा यत्र दशार्णभद्रशक्तौ श्रीवीरं समवसरणस्थं  
नन्तुं स्वस्वार्द्धिसमेतौ समेतौ यत्र च गजेन्द्रोऽङ्घ्रिं न्यधत् । तस्मिन् तीर्थे जिनं नन्तुं ययौ । तत्रानशनं गृहीत्वा  
श्रीमहागिरिसूरिर्देवलोकं गतः । ततश्च्युत्वा मुक्तिं यास्यति । श्रीसुहस्तिसूरिभिरप्यनेकान् भव्यशरीरिणः प्रबोध्य  
त्रिदिवं भजे । क्रमान्मुक्तिं यास्यति । इति श्रीआर्यमहागिरिश्रीसुहस्तिसूरिकथा समाप्ता ॥ ३६ ॥

स्वकुटुम्बं भवान्भोद्यौ, पतन्तं वाणीविडया । उत्तार्य भविकैरार्यं, रक्षितेनैव वेगतः ॥ १ ॥

आर्यरक्षितसूरिदीक्षादिसम्बन्धः श्रीवज्रस्वामिचरित्रे पुरा प्रोक्तोऽस्ति स वाच्यः । एकदा श्रीआर्यरक्षितसूरिः  
स्वकुटुम्बं प्रतिबोधाय चचाल । तत्र गतो गुरुः स्वकुटुम्बप्रबोधार्थम् । ततः श्रीआर्यरक्षितेन स्वकुटुम्बं प्रतिबो-  
धितम् । रुद्रसोमा माता भगिनी च बहुपरिवारयुता संयमं जग्राह । पुनः सोमदेवो जनको दीक्षां पालयितुमशक्तः  
श्रीआर्यरक्षितादिकुटुम्बस्यानुरागेण तैः समं ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे वने वने गच्छति । न पुनः सोमदेवो लज्जया रजोहर-  
णादि गृह्णाति । यदा श्रीआर्यरक्षित्यतिर्दीक्षार्थं पितुः कथयति । तदा सोमदेवोऽवगृह्णाति । अत्र मम सज्जनाः सन्ति ।

नेन स्यजनमध्येऽहं लज्जामि । यदि नमाम्नयुगं कुण्डिकां छत्रिकोपानहौ यज्ञोपवीतं अनुजानीत यूयं तदाऽहं वीक्षां  
 गृहीन्यामि । गुरुभिरुक्तं—एवं भवतु । ततो विप्रवेपथुतः प्रवज्यां जग्राह सोमदेवः । ततो गुरुणाऽनुज्ञातो धौतिका-  
 न्वगदि सर्वं सोमदेवो दधाति स्म । अन्यदा गुरवश्चैत्ये देवान्नुं गताः । तत्र पूर्वशिक्षिताः शिशवः सोमदेवं विना  
 नर्वाण् साधून् वयन्दिरे । तदा एकेन शिशुनोक्तं—एष साधुः कथं न वन्द्यते । तदाऽपरैरुक्तं—वयं साधूनेव वन्दा-  
 महे । एष साधुर्न गृहस्थवेपथारणात् । ततः सोमदेव ऋजुस्यभावः साधुस्तान् प्रति प्राह—यूयमेतान् साधून् वन्दध्वं  
 मां न नमत । ततः किं नाहं साधुः । तैरुक्तं भवान् कथं साधुर्भवतु । वल्लयुगं गृहस्थतुल्यं वर्तते । ततस्तेन सोम-  
 देवेनैकं वक्ष्यं स्थापितम् । एवं कुण्डिकोपानहच्छत्रयज्ञोपवीतानि त्याजितः सोमदेवः कटिपट्टकमेकं न मुञ्चति  
 चतुशो बालकपार्श्वज्जलिपतोऽपि सोमदेवः । इतस्तत्र साधुस्तीव्रतपस्कारी भक्तप्रत्याख्यानं चकार । तदाऽनेके जनाः  
 आन्दास्तस्य साधोरनशनमहोत्सवं चक्रुः तदा साधुभिश्चाराधना तस्य साधोः सम्यक् कारिता । जिनेन्द्रध्यानपरो  
 मृतवा साधुः स्वर्गं जगाम । ताहे तस्मिन्मिन्तंकडिपट्टवोसिरण्डाए आयरिआ भणंति—य एतं मृतं साधुं वहते तस्या-  
 नंतं पुण्यं मुक्तिगमनयोग्यं भवति । तथा पृथक् पृथक् सर्वे साधवो जल्पन्ति । अहमेनं साधुं वहामि । तदा



सोमदेवोऽपि जगाद् चाहमपि साधुमेनं वहामि । तदा गुरुभिः प्रोक्तं—मृतं साधुं वहतां साधूनां देवा विधे कुर्वन्ति । यदि न क्षुभयति साधुस्तत्र तदा तस्य देवा अपि प्रसन्ना भवन्ति । तदा सोमदेवो जगौ—अहमेनं साधुं वहामि । ममानन्तं पुण्यं भवति । गुरवो जगुः । अत्र विधे बालकादिकृतं बहु समुत्पद्यते तव साधुं वहतः । सोमदेवोऽवगमया सर्वं उपसर्गः सहिष्यते । तदा सोमदेवः साहसीभूय साधुमुत्पादयितुं लग्नो यदा तदा श्रीगुरुभिः शिक्षिता बालकास्तत्राभ्येत्याकस्मात्तस्य साधोः सोमदेवस्य धौतिकं कर्पयामासुः । तदा गुरुभिः प्रोक्तं—भो साधव एकं वस्त्रमानयत आनयत । तदा सोमदेवो जगौ—जं ददुधं तं तु ददुमेव । एवं जल्पन्तं सोमदेवं चोलपट्टं परिधापयामासुः । ततः सोमदेवः सत्यसाधुरभूत् । तस्य साधोरभिसंस्कारे कृते गुरवो यदा देवगृहे देवान्नन्तु आगताः तदा सर्वान् साधून् सोमदेवं च श्रद्धा वन्दन्तेस्म । सोमदेवो लज्जमानो भिक्षार्थं श्रद्धगृहे न गच्छति । एकदा श्रीगुरुभिरासन्ने ग्रामे गच्छन्तिः प्रोक्तं—श्रद्धमन्नमानीय भक्षितव्यं सोमदेवो भिक्षां विना तिष्ठतु । श्रीगुरुषु ग्रामं गतेषु साधुभिर्गुरुक्तं कृतम् । एवं द्वितीये दिने गते तृतीये दिने गुरुरागात् । सोमदेवेन तद् भक्तस्वरूपं प्रोच्ये । ततो गुरुः ग्राह्य भो—शिष्या अस्मात्पितुः कथं भक्तं नानीतम् । ततः पूर्वशिक्षिता जगुः । किमयं स्वयं विहर्तुं न याति । ततो गुरुभिरुक्तं—सोमदेवाग्रे यूयम-

ज्ञानतत्त्वगुहे गत्वाऽऽहारमानयत । गुरुणोक्तो लज्जन् कस्यापि महेभ्यस्य गृहछंडिके प्रविष्टः । श्रेष्ठिनोक्तं—यते! छंडिके न  
 प्रविश्यते । मायुः प्राह—लक्ष्मीः छंडिकेऽपि प्रविष्टा वग । श्रेष्ठी हृष्टः द्वात्रिंशन् मोदकान् ददौ । हृष्टो यतिगुरु-  
 पान्नेऽदर्शयन् । गुरुणोक्तं मायुभ्यो मोदकान् ददत्त । सोऽवग्—एषां प्रस्तरा दीयन्ते यैरेवमहं विगोपितः । गुरु-  
 भिरुचै—ययं राजव्यापारे स्थिताः पूर्वं सेवकेभ्यो दत्तैव भोक्तारः । अधुनाऽपि तथा कुर्वन्तु । ततः साधुभ्यो मोद-  
 कान् द्वात्रिंशद् दत्त्वा पुनर्लोभोदयकर्मयोगात् परमाद्यं विहृत्यागात् पारणं चक्रे । ततो लज्जां मुक्त्वा सदा  
 विन्यायानि सोमं देवो भिक्षामानीय पारणं चकार । श्रीआर्यरक्षितसूरयो भव्यजीवान् प्रबोधयामासुः । अन्येषुः  
 श्रीआर्यरक्षितसूरयः पाटलीपुत्रपत्तने ययुः । तत्र चन्द्रनरेश्वरो धर्म श्रोतुमाययौ । तत्र श्रीगुरुभिरिति धर्मोपदेशो ददे ।  
 “ निर्देनः कस्यी ह्यो गतजवश्चन्द्रं विना शर्वरी, निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तहः । रूपं निर्लेखणं  
 नृनो गगगुणधारिविहीनो यतिर्निर्देवं भुवनं न राजति यथा धर्मं विना पौरुषम् ॥ १ ॥ ” इत्यादि धर्मोपदेश-  
 नाकर्ण्य राजा जिनधर्मं प्रपेदे । श्रीआर्यरक्षितसूरिप्रभृतिसूरयः क्रमादवसरे स्वर्गलोकं ययुः । श्रीआर्यरक्षितसूर-  
 योऽप्यहंणमभवन्तो वज्रस्वामिभिरुत्तर्जयः । इति श्रीआर्यरक्षितसूरिसम्बन्धः ॥ ३७ ॥

अनर्घ्यं वस्तु भुक्त्वापि, न मुञ्चेत् धृतिमात्मनः । राजर्षिपदमादायो-दायनः शिवमासदत् ॥ १ ॥  
तथाहि—एकदा श्रीवीरजिनो राजगृहे समवासार्षीत् । तत्राभयकुमारो धर्मं श्रोतुं समागात् । परमं मुनिं  
वीक्ष्याप्राक्षीत्—भगवन् ! कोऽयं यतिः ? । प्रमुणोक्तम्—अन्तिमो राजर्षिरयमुदायननृपः । अभयोऽवगू-अनेन कथं व्रतं  
गृहीतं कथं मुक्तिं गमिष्यति । प्रमुणोक्तं—श्रूयताम् । सिन्धुदेशालङ्कारेण वीतभये पत्तने उदयनो राजा राज्यं करो-  
तिस्म । तस्य चेटकराजपुत्री प्रभावतीनाम्नी पत्नी बभूव । इतस्तत्र वास्तव्यः कुमारनन्दी सुवर्णकारो विषयलोलुपो-  
ऽन्यदा देवताद्वयदर्शनात् प्राह—के भवत्यौ स्तः ताभ्यां प्रोचे—पञ्चशैलद्वीपवासिन्यौ हासाप्रहासाद्देव्यौ स्तः । यदि  
तव भोगेच्छाऽस्ति तदा तत्रागत्यावयोः पतिर्भव इत्युक्त्वा ते गते । सोऽपि स्वर्णकारस्तयोर्देव्योः पतिर्भवामीति वाञ्छन्  
केनापि नरेण समं तरीमारुह्य नीरधौ चचाल । वर्त्मनि स्वर्णकारः प्राह—कथं हासाप्रहासयोर्योगो भवति । तेन  
सांयात्रिकेणोक्तम्—अत्रे दृश्यमानगिरिरूपकण्ठे तरुर्महानस्ति । तस्याधो यानपात्रे गच्छति यः साहसी तस्य तरोः  
शाखां हस्ताभ्यां गृह्णाति, तत्र वृक्षे स्थितश्च निशि विश्रान्तानां भारण्डपक्षिणां चरणे विलगति च । स तत्र गतो मृत्वा  
तयोः पतिर्भवति । इति तस्य नागिलस्य (सांयात्रिकस्य) वचः श्रुत्वा स स्वर्णकारस्तथाकृत्वा तयोः पतिर्व्यन्तरोऽभूत् ।

नागिल्योऽपि भद्रे याने ( भिद्रे मृते ) प्रव्रज्य तपस्तप्त्वा द्वादशमे स्वर्गे सुरोऽभूत् । अथाच्युतदेवो नन्दीश्वरे यात्रायां  
गच्छन् तं व्यन्तरं गले बद्धमृदङ्गमुपलब्ध्वा ग्राह—किं जातमिदं तव । व्यन्तरेण तेनोक्तं—दुःखे पतितोऽस्मि निस्तारय  
मामस्मात्कथान । ततो देवेनोक्तं—यदि त्वं श्रीदेवाधिदेवप्रतिमां नवीनां कृत्वा गोशीर्षचन्दनादिना प्रपूज्य क्वापि तां  
प्रपूज्यमानां कारय । ततश्नवास्मात्कर्मणो निस्तारो भवति । तदा स व्यन्तरस्तथा कृत्वा तामेव प्रतिमां केनचित् सांयात्रि-  
कोपान्नेन धीतभवे पत्तने प्रापितवान् । तां प्रतिमां च प्रभावत्यै अर्पयामास स सांयात्रिकः । बहुकालं तां प्रतिमां  
प्रभावनी प्रपूज्यासन्नमृत्युं ज्ञात्वा श्रीदेवाधिदेवप्रतिमां दास्याः कुब्जिकायाः पूजायै अर्पयामास । सा ततो विशेषात्  
प्रभुं पूजयामास । राज्ञी समुत्पन्नवैरग्या श्रीवीरपार्श्वे संयममादाय क्रमेण सौधर्मे देवत्वेनोत्पन्ना । देवाधिदेवस्य पूजां  
कुर्यादस्यास्तस्याः क्लोऽपि गन्धाराण्यः श्राद्धो देवान् सर्वत्र वन्दमानस्तत्रागात् । कियन्तं कालं स गन्धारस्तत्र स्थितः ।  
अन्यदा तस्य देहे रोगः समुत्पन्नः । तथा दास्या शुश्रूषितस्तदा । ततस्तेन श्राद्धेन तस्यै दास्यै गुटिका बहुयोऽर्पिताः ।  
ततः कुब्जिका पुनर्गुटिकाभक्षणेन देवाङ्गनातुल्यदेहाऽभूत् । ततः सा वर्यं वरमङ्गीकर्तुं ध्यायति । ततः केनचिदव-  
न्त्याः प्रणीतनो भूपः प्रोक्तस्तत्र योग्योऽस्ति । ततो द्वितीयागुटिका भक्षिता । तस्या अधिष्ठायकदेवेन तस्या दास्या

मनोगतभावं रूपं च चण्डप्रद्योतनाग्रे निवेदितम् । ततः प्रद्योतनोऽनिलगिरिकुञ्जरारूढो रहोवृत्त्या तत्रागत्य दासीं देवाधिदेवप्रतिमायुतां लात्वा स्वस्थाने ययौ । उदयनो निजेभमदगलनादिना दासीप्रतिमाहरणस्य स्वरूपं ज्ञात्वा चुक्रोध । ततः संनह्य महासेनायुतः उदायनः प्रद्योतनाधिष्ठितामवन्तीं ययौ । तत्र दासी प्रतिमायुता भार्गिता । स यदा नार्पयति । तदा महायुद्धे जायमाने उदयनः प्रद्योतनं बबन्ध रणे । दासी नष्टा प्रतिमा तु ततः स्थानान्न चलिता यदा तदा उदयनपत्नी प्रभावतीदेवः स्वर्गादागत्य प्राह—भो उदयन ! त्वन्मरणादनु वीतभये पत्तने धूलि-कोटिः पतिष्यति । तेन न तत्र नेतव्या, अत्रैव तिष्ठतु । तथा कृतं तेन उदयनेन । मम दासीपतिरेष इति अक्षराणि प्रद्योतनमस्तके दापयित्वा स्वपुरं प्रति चलिताः, ततो मार्गे पर्युषणापर्व समागतं तत्र राजा स्थितः, प्रभोः पूजा कृता राज्ञा तस्मिन् हि दिने क्षपणं कृत्वा सूपकारायादिष्टम् । प्रद्योतनमापृच्छ्य यत्तस्य रोचते तद्भोजनं तस्य देयम् । ततः सूपकारः प्रद्योतनपार्श्वे गत्वाऽवग—भवतोऽद्य का रसवती रोचते । तदा प्रद्योतनेन चिन्तितमद्य यावन्न किमपि पृष्टं राज्ञा सह भोजनं ममाऽप्यभूत् । नूनं विषं दास्यत्यसौ मम । एवं ध्यात्वा प्रद्योतनः प्राह—पुरा एवं कदाऽपि न पृष्टमधुना एवं कथं पृच्छ्यते ? ततस्तेन राज्ञोक्तं सर्वं पर्युषणावृत्तान्तं सूपकारेणोक्तम् । ततः सोऽपि

मायां विद्याय प्राह—अहमपि आहः पर्युगणापथं विस्मरितं दुःखात् । ततो ममाप्युपवासो भवतु । ततः प्रद्योतनप्रोक्तं  
 गजोऽग्रे तेन निवेदितम् । ततः राजा साधर्मिकोऽयं ममेति कृत्वा क्षामणकं विना प्रतिक्रमणकं न शुद्ध्यति । इति  
 न्यात्वा च प्रद्योतनो वन्दनान्छोदितः । मरुतके तस्य स्वर्णमयं पट्टवन्धं कारयित्वा क्षामणकं च कृत्वा उदायनः  
 प्रद्योतनं पश्चात् प्रेषयामास । ततः प्रद्योतनो राजा जैनधर्मं शुद्धमाराधय । उदायनः स्वपुरं प्रातः । उदायनः परमार्हतोऽ-  
 न्यथा श्रीवीरगजिनपात्रे धर्ममिति शुश्राव । मज्जे विसयकसाया, निहा विगहा य पञ्चमी भणिया । एष पञ्च पमाया, जीवं  
 पात्रे नि संसार ॥ १ ॥ आर्यदेशदुलरूपचलायु—दुद्धिवन्धुरमवाप्य नरत्वम् । धर्मकर्म न करानि जडो यः, पोतमुञ्जति  
 पयोधिगतः सः ॥ २ ॥ इत्यादि धर्मोपदेशं श्रुत्वा प्राप्तवैराग्यः स्वभागिनेयं स्वराज्ये निवेदय श्रीवीरपादान्ते दीक्षां  
 अग्राह । ननो नानातपः कुर्याणः क्रमाद्भूषो श्रीतभधे समागात् । भागिनेयेन राज्ञा स्वराज्यापहरणशङ्कितेन हि पारणेणु  
 निषं द्वागितं प्रपंचेन । शासनदेवतायाः सानिध्यात्समुत्तीर्णविपः प्रान्ते महाध्यानपरः सर्वकर्मक्षयं कृत्वा मुक्तिं चास्यति ।  
 उदायनोऽयं नरमराजर्षिः । ततोऽभयकुमारः समुत्थाय तं चरमराजर्षिभृपं भूयसीभक्त्या प्रणनाम । ततः क्रमादायुःसमाप्तौ  
 उदायनो मुक्तिं गतः । प्रभावतीजीवोऽपि मुक्तिं गमिष्यति । इति उदायनप्रभावतीकथासमाप्ता ॥ ३८ ॥

किञ्चित् सिद्धान्तभणनाराधनादर्थवीक्षणात् । लभते मुखदं स्थानं, मनकक्षुल्वरस्फुटम् ॥ १ ॥  
तथाहि—शय्यंभवभट्टो यज्ञं कायति । तदा श्रीप्रभवस्वामिना स्वगच्छमध्ये तादृशं पट्टस्थापनाहंमदृष्ट्वा  
यज्ञकर्मकृच्छय्यंभव उपयोगेन ज्ञातः । साधुद्वयं श्रेष्ठ्य अहोकष्टमहोकष्टमिति ज्ञापिते स प्रष्टुं लभः । ताभ्यामुक्तं-  
अरमदुरवो विदन्ति । गुणमिरुचे-यूपान्तस्तत्त्वमस्ति । तत्र श्रीशान्तिनाथप्रतिमां प्रादुष्कृतां वीक्ष्य गुरुपाश्र्वं दीक्षा-  
जग्राह तदा । पूर्वं तस्य पत्नी साधानाऽमूत् । ततस्तथा पुत्रोऽसावि । तस्य मनक इति नाम ददौ माता । मनकः  
कमाद्धर्ममानो मात्रा लेखद्यालयां मुक्तः । यतः—“प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये नार्जितो  
धर्मः, चतुर्थे किं करिष्यति ॥ १ ॥ ” अन्येद्युरपितृकमिति लेखद्यालकैर्हंसितो मनकस्ततो दोन्दूयाकुर्वणो  
मातृपाश्र्वं गत्वा जगौ-मामपितृकमिति लेखद्यालकाः कथं हसन्तिस्म, मम पितुः किं नाम कुत्र गतोऽस्ति  
इति मातरमपृच्छन्मनकः । माता तमुवाच—तव पित्रा जैनदीक्षा गृहीता । अधुना शय्यंभवसुरिर्जिनतत्त्वज्ञो  
भव्यजीवान् प्रबोधयन्नस्ति पाटलीपुरे । ततो मनको मातरमापृच्छ्य पितृमिलनार्थं चलिताः । पाटलीपुरसमीपे  
मनको गतः । इतः श्रीशय्यंभवसुरिं तनुगमनिकायामागतं वीक्ष्य मनकस्तं पप्रच्छ—शय्यंभवः सूरिः क्वास्ति,

श्रीगुरुगोपनिः । ततो गुरुभिः प्रकरोणेत्तम्—अहमेवाऽस्मि, त्वया सम्बन्धः कस्याप्यग्रे न प्रोक्तव्यः । ततो गुरुणा  
 मार्गं शाल्यायां गनो मनकः । ततो मनको गुरुपार्थे दीक्षां जग्राह । श्रीशय्यंभवसूरिभिर्मनकस्याल्पमायुर्ज्ञात्वा  
 सिद्धान्तमस्थान् श्रीदशवैकालिकं कर्षयित्वा मनकस्य पठनाय दद्रे । मनकेन पट्मासे दशवैकालिकं पठितम् । लघु-  
 ग्नि वैराग्यगणिनाजयोऽभून् गुरुपदेशान् । क्रमादगुणोऽन्यवेलायां मनकस्याराधना गुरुभिः कारिता । शुभध्यान-  
 पारायणो मनको मुत्वा स्वर्गं जगाम । ततोऽग्निदाहं तस्य मनकस्य दत्त्वा श्रीसङ्क्षो गुरुपार्थे धर्मोपदेशं श्रोतुमा-  
 नगाम । गुरुभिरुपदेशं ददन्निश्च्युतः कृतः । उपदेशानन्तरं श्रीसङ्क्षेनाश्रुगतस्वरूपं पृष्टम् । ततो गुरुभि-  
 र्ग्रन्थं—मनको मम पुनः । ततः श्रीगशोभद्रसरिप्रभृतिसाधुभिरुक्तं—किं न ज्ञापितमदः श्रीपूज्यपादेः ? गुरवः  
 बोधुः—यद्यदं दशपुनसम्बन्धमकथयिष्यं तदाऽतो मनकआनिं नाराधयिष्यत् । त्रैयावृत्त्यं विना न कर्मक्षयो  
 भवति । ननः श्रीग्रन्थंभगुरिः श्रीदशवैकालिकं पद्यायावत्सिद्धान्तमध्ये क्षिपति तावच्छीरंघः श्रीगशोभद्रसूरयो-  
 ऽपि जगुः—भगवत्तयं श्रीदशवैकालिकग्रन्थः पृथक् सिद्धान्तचिष्ठतु साधूनामुपकाराय । अयं ग्रन्थः सिद्धान्तस्य-  
 साधनोऽस्ति । ततः दशवैकालिकग्रन्थः स्यापितः । साधवोऽधुना पठन्ति च । उक्तं च—



रिज्जंभवं गणहरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं । मणगपियंरं दसविकालयस्स, निज्जह्गं वंदे ॥ १ ॥ मणगं पडुच्च  
रिज्जंभवेण, निज्जुद्धिया दसज्झयणा । वेयालिआ य ठविया, तम्हा दराकालियं नाम ॥ २ ॥ छद्दि मासेद्दि  
अहीअं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेणं । छम्मासा परिआओ, अह कालगओ, समाहीणु ॥ ३ ॥ आणंदअंसुपायं, कासी  
सिज्जंभवा ताद्दि थेरा । जसभद्दस्स य पुब्बहा, कहणा य विआलणा संघे ॥ ४ ॥ इति श्रीमनककथा समाप्ता ॥ ३१ ॥

दत्तेन भूभुजा याग-फलं पृष्टोऽन्यदा हठात् । कालिकाचार्य आचष्ट, नरकस्य गतिं स्फुटम् ॥ १ ॥  
तथाहि-तुरमण्यां पुरि कालिको भूदेवो बभूव । तस्य भद्रादा सहोदरी जाता । तस्य स्वस्रीयो दत्त इति  
नामाऽभूत् । कालिकः क्रमात् गुरुपान्ते धर्मोपदेशमाकर्ण्य वैराग्यात् संयमश्चियं जग्राह । तं शास्तरं विना दत्तोऽत्यन्त-  
निर्गलोऽभूत् । क्रमात्सप्तव्यसनाराक्तो बभूव । क्रमाहुर्देवयोगाज्जितशत्रुभूषस्य दत्तः सेवकोऽभूत् । अज्ञेन भूपेन  
जितशत्रुणा स दत्तः प्रधानपदवीं प्रापितः । क्रमात्सर्वान् सेवकान् वशीकृत्य तं भयं निर्वास्य दत्तः स्वयं राजाऽभूत् ।  
दुर्वृत्तप्लवगव्याल-व्याघ्रमार्जारवाहिवत् । नोपकारैः परिग्राह्यः, स भूपो विबुधैरपि ॥ १ ॥ ततस्तस्य राज्ञो बुधाः प्रजाश्च  
विश्वासं न कुर्वते विश्वस्तथातत्वात् । यतः-“ये कुलाचारतो भ्रष्टाः, परलोकादभीरवः । तेषां कुर्वीत विश्वासं, न कथं-

सिज्जंभवं गणहरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं । मणगपियरं दसविकालयस्स, निज्जूहगं वंदे ॥ १ ॥ मणगं पडुच्च  
सिज्जंभवेण, निज्जूहिंया दसज्झयणा । वेयालिआ य ठविया, तमहा दसकालियं नास ॥ २ ॥ छहि मासेहि  
अहीअं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणेणं । छस्मासा परिआओ, अह कालगओ, समाहीए ॥ ३ ॥ आणंदअंसुपायं, कासी  
सिज्जंभवा तहिं येरा । जसभदस्स य पुच्छा, कहणा य विआलणा संघे ॥ ४ ॥ इति श्रीमनककथा समाप्ता ॥ ३९ ॥

दत्तेन भूभुजा याग-फलं पृष्टोऽन्यदा हठात् । कालिकाचार्य आचष्ट, नरकस्य गतिं स्फुटम् ॥ १ ॥

तथाहि—तुरमण्यां पुरि कालिको भूदेवो बभूव । तस्य भद्राह्वा सहोदरी जाता । तस्य स्वस्तीयो दत्त इति  
नामाऽभूत् । कालिकः क्रमात् गुरुपान्ते धर्मोपदेशमाकर्ष्य वैराग्यात् संयमश्रियं जग्राह । तं शास्तरं विना दत्तोऽत्यन्त-  
निर्गलोऽभूत् । क्रमात्सप्तव्यसनासक्तो बभूव । क्रमाद्दुर्दैवयोगाज्जितशत्रुभूषस्य दत्तः सेवकोऽभूत् । अन्तेन भूमेन  
जितशत्रुणा स दत्तः प्रधानपदवीं प्रापितः । क्रमात्सर्वान् सेवकान् वशीकृत्य तं अपं निर्वारय दत्तः स्वयं राजाऽभूत् ।  
दुर्वृत्तलवगव्याल—व्याघ्रमार्जारवाहिवत् । नोपकारैः परिग्राह्यः, स भूपो विबुधैरपि ॥ १॥ ततस्तरस्य राज्ञो बुधाः प्रजाश्च  
विश्वासं न कुर्वते विश्वस्तथातत्वात् । यतः—‘ये कुलाचारतो अष्टाः, परलोकादभीरवः । तेषां कुर्वीत विश्वासं, न कथं—

सप्तदिनेभ्यः पुरतो जीविष्यामि तदा कालिकाचार्यममुं हनिष्यामि । ततस्तस्य सूररन्तिके स्वसेवकान् मुक्त्वा स दुष्ट-  
मतिर्दत्तः सौधमध्ये सप्तदिनानि स्थातुं स्थितः । इतो जितशत्रुभूपभक्तैर्जनैर्जितशत्रुभूपो राज्यदानार्थं प्रकटीचक्रे  
प्रच्छन्नं । इतो रक्ष्यमाणेषु राजमार्गेषु अशुचिषु वस्तुषु अपसार्यमाणेषु सप्तमे दिने दत्तो राजा हृष्टस्तुरगारूढोऽ-  
ष्टमदिनभ्रान्त्या ध्रियमाणातपत्रो राजमार्गे निरससार । इतो मालिकः पुष्पपूर्णकरण्डकयुतो राजमार्गे समागात् ।  
भेर्यादिनिनादैः श्रुतमार्त्रैरकस्मात्तस्यात्यन्तं मलोत्सर्गचिन्ताऽभून्मालिकस्य । लोकबाहुल्यादन्यत्र गन्तुमशक्नुवन् लब्ध-  
लक्षतया त्वरितं मलोत्सर्गं तत्रैव कृत्वा तस्योपरि पुष्पपुञ्जं मुक्त्वा मालिकोऽप्रतो गतः । तदा राज्ञो दत्तस्य तस्मिन्  
मार्गे गच्छतस्तुरङ्गमुखोत्खातो विट्प्लेशो वदनेऽविशत् । स राजा दत्तस्तेन प्रत्ययेन पश्चाद्यावद् गृहाभिमुखं समा-  
याति, तावन्मन्त्रिनियुक्तैः सेवकैर्दत्तो हतः, स दत्तो मृत्वा सप्तमनरकं गतः । स जितशत्रुभूपः स्वराज्ये  
उपविष्टः । ततस्तं कालिकाचार्यं भूपो निषेवतेस्म, जिनधर्मं चाङ्गीचकार ॥ इति कालिकाचार्यकथा ॥

श्रीपुरे प्रजापालभूपस्य राज्ञी पुत्रं प्रासूत् । तस्याभिधानं कालिककुमार इत्यभूत् । पुत्री तु भानुश्रीरासीत् ।  
कालिककुमारः श्रीगुरुरपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा दीक्षां ललौ । स च बहुश्रुतोऽभूत् गुरुभिः सूरिपदं दत्तम् । इतो राज्ञा

गानुभीर्भृगुरुच्छे विनारिभूपय दत्ता । तस्याः सुतो चलमित्रभानुमित्रो । तयोर्भोगिनेयो बलभानुरभूत् ।  
 एकदा नत्र गुरवः कालिकमूर्य आगताः । तत्र धर्मोपदेशं श्रुत्वा बलभानुर्दीक्षां जग्राह । तदा गुरुसत्कैः  
 भृगुर्देवताधरः पुंगुहितो वादे जितः । एकदा गुरवो विहारं कृत्वा तत्रागताः, बलमित्रभानुमित्रयोराग्रहात् गुरवस्तत्र  
 ननुगोपी स्थिताः । नतो गङ्गाधरपुरोहितस्तान् गुरून् कर्षितुमिच्छन् पूर्ववैरात् भूपात्रे छन्नं जगौ-देव !  
 मे तद् पुज्या, भमंति जहिं तत्थ गच्छिरमि जणे । गुरुपयअकमगकया, होइ अवन्ना दुरिअहेऊ ॥ १ ॥  
 उच्चन " यत्र देवर्षिपूजाः क्रियतेऽतिक्रमः कश्चित् । तच्चेत्सहते राजा, घोरं तत्र भयं भवेत् ॥ १ ॥ "  
 गताऽवत्-किं नित्येने गुरवः मुरिथताः, तेषां चलनविषये वक्तुं न युक्तम् । पुरोहितोऽवग्-गृहे गृहे नवीना वर्या रस-  
 मी कथ्यते । यदा साधनो विहर्तुमायान्ति तदोच्यते-श्रीपृथ्वपादकृते रसवती कृताऽस्ति । ततोऽनेपणां ज्ञात्वा गुरवः  
 नयमन्वन गमिष्यन्ति । भूमेन तथा कारिते गुरवः प्रतिष्ठानपुरे चातुर्मासकमध्ये गताः प्रवेशमहोत्सवोऽभूत् । तत्र  
 साष्टिचारानो भूयः पृथिवीं पालयन्तिस्म । पर्यपणापर्व समीपं समायातं, तत्र भूपोऽवग्-भगवन् ! पर्यपणापर्व  
 तस्मिन् दिने करिष्येने गुरवो जगुः-भाद्रसुदिपञ्चम्याम् । तदा भूपोऽवक् पञ्चम्यामत्रेन्द्रमहोत्सवो भवति तेन

पर्युपणापर्व पक्षस्मिन् दिने कथं करिष्यते । भाद्रपुर्णिपक्षस्या अर्वाङ्क पञ्चाद्या भवति तदाऽहं पर्युपणापर्वणि तपोनियम-  
जिनाल्लयोत्सायादि करोमि । तदा गुणो जगुः—भाद्रपुर्णिपक्षस्याः पुरतः प्रहरेऽपि न क्रियते अर्वाङ्क तु भवति ।  
उक्तं च—“तेषां कालेषां तेषां रामपुं रामणे भगवं महावीरे वाराणां रात्रीराहस्यासे विदधंते वासावारां पज्जोरावंति ।”  
उक्तं च—“आराहपुत्रिमाए, संवच्छरिथसामग्गि होह पज्जोरावणा । ततो सावणपंचभि—मादगु अरिवाहकारणओ ”  
॥ १ ॥ इत्यादि । “ इत्थं य पणगं पणगं करणीयं जाय वीराहं मासो । गुह्यदसमिद्ध ठिआण य, आसादी  
पुद्धिमोसरणं ॥२॥ ” इत्यादि । यदि चतुर्थी क्रियते तदा व्रतते । ततो राजा प्रतिपदिने उत्तरपारणकं चकार आञ्जा  
अपि तथा चक्रुः । ततः सार्वाचार्यसमतं पर्युपणापर्व श्रीकालिकसूरिभिः कृतम् । ततः सौर्वः सूरिगिरस्तथा सर्वत्र पर्यु-  
पणापर्व चक्रे यतः—“अवलंबिऊण कज्जं, जं किंचिच्चि आयरंति गीयत्था । ओवावराहचहुगुणं, राब्बोसिं तं पमाणं ति  
॥१॥ आयरणा वि हू आणा, अत्रिमन्ना होह चेव आणात्ति । इयरा तित्थयरासायण च्चि, तद्धयलणं चेवं ॥ २ ॥  
अराहण समाद्धो, जं कत्थह केणहं असावज्जं । न निवारिअमच्चोहिं, बहुमणुमयमेयमायसिअं ॥३॥ कदाचिदवन्त्यां  
कालिकसूरयः स्थिताः । तत्र प्रमादपसान् साधून् दृष्ट्वा जगुः—ओ सानवो गनाग् नैव, प्रमादः क्रियते व्रते ।

पर्युषणापर्व एकस्मिन् दिने कथं करिष्यते । भाद्रसुदिपञ्चम्या अर्वाक् पश्चाद्वा भवति तदाऽहं पर्युषणापर्वणि तपोनियम-  
जिनालयोत्सवादि कशेमि । तदा गुरवो जगुः--भाद्रसुदिपञ्चम्याः पुरतः ग्रहरेऽपि न क्रियते अर्वाक् तु भवति ।  
उक्तं च--“तेनं कालेनं तेनं समएणं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइमासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवंति ।”  
उक्तं च--“आसाढपुब्बिमाए, संवच्छरियसामग्गि होइ पज्जोसवणा । तत्तो सावणपंचमि--माइसु असिवाइकरणओ ”  
॥ १ ॥ इत्यादि । “ इत्थं य पणगं पणगं, करणीयं जाव वीसई मासो । सुद्धदसमिइ ठिआण य, आसाढी  
पुब्बिमोसरणं ॥२॥” इत्यादि । यदि चतुर्थी क्रियते तदा घटते । ततो राजा प्रतिपदिने उत्तरपरणकं चकार श्राद्धा  
अपि तथा चक्रुः । ततः सर्वाचार्यसंसतं पर्युषणापर्व श्रीकालिकसूरिभिः कृतम् । ततः सर्वैः सूरिभिस्तथा सर्वत्र पर्यु-  
षणापर्व चक्रे यतः--“अवलंबिऊण कज्जं, जं किंचिवि आयरंति गीयत्था । थोवावराहबहुगुणं, सन्वोसिं तं पमाणं ति  
॥१॥ आयरणा वि हु आणा, अत्रिरुद्धा होइ चेव आणत्ति । इयरा तित्थयरासायण त्ति, तल्लवखणं चेवं ॥ २ ॥  
असंटेण समाइन्नं, जं कत्थइ केणई असावज्जं । न निवारिअमन्नेहिं, बहुमणुमयमेयमायारिअं ॥३॥ कदाचिदवन्त्यां  
कालिकसूरयः स्थिताः । तत्र प्रसादपरान् साधून् दृष्ट्वा जगुः--भो साधवो मनाग् नैव, प्रसादः क्रियते व्रते ।

कुमारो व्रतं ललौ । गुरुपार्श्वे कालिककुमारः पठन् साहित्यतर्कलक्षणछन्दोऽलङ्कारनाटकाद्यागमशास्त्रकुशलोऽभूत् । श्रीगुणधरसूरिभिर्योग्यं मत्वा कालिकसाधोः सूरिपदं ददे । विहारं भूमण्डले कुर्वन् भव्यजीवान् प्रबोधयतिस्म । अन्यदा श्रीकालिकसूरिरुज्जयिन्यां बहिरुद्याने समवासार्णीत् । तदा सरस्वती साध्वी प्राप्तप्रवर्तिनीपदा पुरमध्वे थियासुर्गुरून् प्रणम्य पुरद्वारे समागात् । तदा तत्रत्यो गर्दभिल्लो राजा पुराद् बहिर्निस्सरन् सरस्वतीं साध्वी विलपन्ती रूपशालिनीं वीक्ष्य रागातुरः स्वान्तःपुरे बलात् क्षेपयामास । गुरुणा गर्दभिल्लभूपस्य कृतं ज्ञातं, ततो गुरुणा श्रीसङ्घः प्रेषितः साध्वीवालनार्थं राजपार्श्वे गत्वा प्राह—महासतीयं मुच्यतां तपोधनाः तपस्विन्यो राज्ञो यस्य भूमौ तपः कुर्वन्ति, तस्य पुण्यविभागो राज्ञः समेति । तेन स्वामिन्नियं मुच्यताम् । त्वं प्रजापालोऽसि, तपस्विनां तु भूप एवाधारोऽस्ति यतः—“ नरेश्वरमुजच्छायासाश्रित्याश्रयिणः सुखम् । निर्भयाः सर्वकार्यणि, धर्मादीनि वितन्वते ॥ १ ॥ ” एवं श्रीसङ्घेनोक्तो भूपः प्राह—नाहमिमां मुञ्चे उपदेशः स्वगृहे दीयते भूपस्याग्रे न दीयते एवंविधः । ततः श्रीगुरुभिर्भूपपार्श्वे गत्वोक्तम्—इयं तपस्विनी मम भगिन्यस्ति तेन मुच्यतां त्वं प्रजापालोऽसि त्वमाधारस्तपस्विनां ततो गुरुक्ते यदा राजा न मुञ्चति सरस्वतीं तदा गुरवः स्वस्थानेऽभ्येत्य श्रीसङ्घमाकार्यं प्राह—अग्रं दुष्टो राजा सरस्वतीं जहार, अस्य

॥ श्रीभरते-  
भर वृत्तिः ॥

॥ १८२ ॥

कुमारो व्रतं ललौ । गुरुपार्श्वे कालिककुमारः पठन् साहित्यतर्कलक्षणछन्दोऽलङ्कारनाटकाद्यागमशास्त्रकुशलोऽभूत् ।  
श्रीगुणधरसूरिभिर्योग्यं सत्त्वा कालिकसार्धोः सूरिपदं ददे । विहारं भूमण्डले कुर्वन् भव्यजीवान् प्रबोधयतिरसम् ।  
अन्यद्वा श्रीकालिकसूरिरुज्जयिण्यां बहिरुद्याने सप्तवासार्षीत् । तद्वा सरस्वती साध्वी प्राप्तप्रवर्तिनीपद्मा पुरस्त्रये  
यियासुर्गुरुन् प्रणम्य पुरद्वारे स्वमागात् । तद्वा तत्रत्यो गर्दभिह्रो राजा पुराद् बहिर्निरसरन् सरस्वतीं साध्वीं  
विलपन्ती रूपशालिनीं वीक्ष्य रागातुरः स्वान्तःपुरे बलात् क्षेपयामास । गुरुणा गर्दभिह्रभूपस्य कृतं ज्ञातं, ततो  
गुरुणा श्रीसङ्घः प्रेषितः साध्वीवालनार्थं राजपार्श्वे गत्वा प्राह—सहासतीर्थं मुच्यतां तपोधनाः तपरिवन्द्यो राज्ञो यस्य अग्नौ  
तपः कुर्वन्ति, तस्य पुण्याविभागो राज्ञः समेति । तेन स्वामिद्विधं मुच्यताम् । त्वं प्रजापालोऽसि, तपरिव्रजानां तु भूप एवाधारो-  
ऽस्ति यतः—“ नरेश्वरभुजच्छायासाश्रित्याश्रयिणः सुखम् । निर्भयाः सर्वकार्याणि, धर्मादीनि वितन्वते ॥ १ ॥ ” एवं  
श्रीसङ्घेनोक्तो भूपः प्राह—नाहमिमां मुञ्चे उपदेशः स्वगृहे दीयते भूपस्यग्रे न दीयते एवंविधः । ततः श्रीगुरुभिर्भूपपार्श्वे  
गत्योक्तम्—इदं तपरिव्रजानां सम भगिन्यस्ति तेन मुच्यतां त्वं प्रजापालोऽसि त्वयाधारस्तपरिव्रजानां ततो गुरुक्ते यद्वा  
राजा न मुञ्चति सरस्वतीं तद्वा गुरवः स्वस्थानेऽभ्येत्य श्रीसङ्घमाकार्यं प्राह—अयं दुष्टो राजा सरस्वतीं जहार, अस्म्य

श्रीकालि-  
काचार्य  
कथा ।



सर्वे भूपाः मया सार्द्धं आगच्छन्तु । भवतां उज्जयिन्या राज्यं दास्यते मया । आक्रायतु भवान् भूपान् सर्वान् । ततो-  
विचारं कृत्वा षण्णवतिर्भूपाः स्वतुरङ्गमपत्तिकुटुम्बयुताश्चेलुः । वर्त्सन्ति तेषां वर्षाकालः समायात । ततो टंकपर्व-  
तपार्श्वे सुराष्ट्रमध्यस्थे ते भूपास्तस्थुः । शम्बलक्षीणा भूया जगुः—भो कालिकावधूत ! शम्बलं विना कथमुज्जयिन्या  
गम्यते तत्रत्यं राज्यं च गृहीष्यते । सूरिः प्राह—स्थिरं स्थीयतां सर्वं वर्यं भविष्यति तदा सरस्वत्या आचाम्लतपस्करण-  
स्वरूपं शासनदेव्या प्रोक्तम् । ततः [ गुरुणा ] चूर्णेन इष्टिकानिवाहं स्वर्णोक्त्य सर्वेषां भूपानां त्रिमज्ज्य ददौ सूरिः ।  
ततः सर्वे भूपाः सुस्थिता बभूवुः । ततः सूरिणा शिबिरं चालितं गुर्जरात्रमध्ये भूवोज्जयिनीपार्श्वे यत्र । तदा गर्द-  
भिल्लो भूपः संमुखमागत्य युद्धं कुर्वाणं वैरिबलं महत् दृष्ट्वा वप्रमध्ये प्रविवेश । सर्वे भूपाः सुरादेशेन वप्रं वेष्ट-  
यित्वा स्थिताः । राज्ञा ध्यातमिदं सैन्यं महत् तेन किं क्रियते । अत्रान्तरे सूरिणा ज्ञापितं सरस्वतीं मुञ्च नो चेदतो  
मरणं भावि । ततः सूरिमागतं श्रुत्वा वैरिबलं महद्दृष्ट्वा गर्दभिल्लो विद्यां साधयितुमुपविष्टः । तदा सूरिभिर्गर्दभिल्ली-  
निद्यां साधयंतं गर्दभिल्लं भूपं ज्ञात्वा प्रोक्तम्—असौ भूपोऽग्रेतन्यामष्टभ्यां गर्दभिल्लीं साधयिष्यति । सा च यदा वप्रो-  
परि चटित्वा शब्दं करोति, तदा यः शब्दं श्रोष्यति स मरिष्यति । अतः कारणात् अष्टोत्तरशतं शब्दवेधिनी मया सह

सर्वे भूपाः मया सार्द्धं आगच्छन्तु । भवतां उज्जयिन्या राज्यं दास्यते मया । आक्रायतु भवान् भूपान् सर्वान् । ततो-  
विचारं कृत्वा षण्णवतिर्भूपाः स्वतुरङ्गमपत्तिकुटुम्बयुताश्चेलुः । वर्त्सन्ति तेषां वर्षाकालः समायात । ततो टंकपर्व-  
तपार्श्वे सुराष्ट्रमध्यस्थे ते भूपास्तस्थुः । शम्बलक्षीणा भूपा जगुः—भो कालिकावधूत ! शम्बलं विना कथमुज्जयिन्यां  
गम्यते तत्रत्यं राज्यं च गृहीष्यते । सूरिः प्राह—स्थिरं स्थायीतां सर्वं वर्धं भविष्यति तदा सरस्वत्या आचासलतपस्करण-  
स्वरूपं शासनदेव्या प्रोक्तम् । ततः [ गुरुणा ] चूर्णेन इष्टिकानिवाहं स्वर्णीकृत्य सर्वेषां भूपानां विभज्य ददौ सूरिः ।  
ततः सर्वे भूपाः सुस्थिता बभूवुः । ततः सूरिणा शिबिरं चालितं गुर्जरान्नमध्ये भूज्योज्जयिनीपार्श्वे ययौ । तदा गर्द-  
भिल्लो भयः संमुखमागत्य युद्धं कुर्वाणं वैरिबलं महत् दृष्ट्वा वप्रमध्ये प्रविवेश । सर्वे भूपाः सुरदेशेन वप्रं वेष्ट-  
यित्वा स्थिताः । राज्ञा ध्यातमिदं सैन्यं महत् तेन किं क्रियते । अत्रान्तरे सूरिणा ज्ञापितं सरस्वतीं मुञ्च नो चेदतो  
मरणं भावि । ततः सूरिमागतं श्रुत्वा वैरिबलं महद्दृष्ट्वा गर्दभिल्लो विद्यां साधयितुमुपविष्टः । तदा सूरिभिर्गर्दभिल्ली-  
विद्यां साधयंतं गर्दभिल्लं भूपं ज्ञात्वा प्रोक्तम्—असौ भूपोऽप्रेतन्यामष्टभ्यां गर्दभिल्लीं साधयिष्यति । सा च यदा वप्रो-  
परि चटित्वा शब्दं करोति, तदा यः शब्दं श्रोष्यति स मरिष्यति । अतः कारणात् अष्टोत्तरशतं शब्दवेधिनो मया सह

रात्यभामा रुपायुषा कृष्णस्याग्रे गत्वा जगाद—भया हस्तिगह्वोऽथ स्वप्ने दृष्टः । ततो नारायणस्तस्या जालिपतभिः, ता-  
नगैः कूटं मत्वा जजल्प—भो पति ! त्वया किं शिष्यते परसम्पदं भाविनीं श्रुत्वा । रात्यभामाऽवगु—मन्दीयं जालिपतं  
न कूटं भविष्यति । ततस्तयोर्भित्थस्तदा रात्यभामाक्विमण्योर्निवादे जायमाने रात्यभामा सा जगौ—यस्याः पुत्रः  
प्रथमं परिणेष्यति, तस्यै अन्यया स्वमस्तकस्यां वेणीं छित्त्वाऽर्पणीया, तत्र साक्षिणः कृताः । देवादृभे अपि राक्षसो  
गर्भं दधतुः, क्रमाद्रुक्विमण्या जनिते पुत्रे प्रच्योतनत्वात् प्रद्युम्न इति नाम दत्तं, रात्यभामया द्वितीये दिने पुत्रे प्रसूते  
भानुरिति नामाऽभूत् । इतो धूमकेतुरसुरो ऋक्विमण्या गृहेऽभ्येत्य छन्नमर्भं गृहीत्वा प्रतिवैताल्यमभ्यगात् । तत्र हंक-  
शिलायामुपरि मुत्तवा देवस्तिरोदधे । इतस्तात्रागतः कालरांघ्रः खेचरस्तं बालकं गृहीत्वा स्वपुरं गयो । तनकमा-  
लानाम्भ्ये स्वपत्न्ये विश्राणितः पालनीयः पुत्रस्थाने स्थापितश्च तथा । प्रोक्तं च त्वगेन पत्न्यग्रे—मया पुत्रो जनित  
इति सर्वत्र प्रघोषो वक्तव्यः । ततस्तथा तथा कृते प्रकृष्टदीक्षिमच्छरीरत्वात् प्रद्युम्न इति नाम दत्तं तस्य मुनोः । ततः  
क्रमात् सतन्यमानादिना सा प्रद्युम्नः पुत्रो बभूव । इतो नारदः कृष्णं पुत्रविद्योगतुः श्वितं मत्वा श्रीसीमन्धरस्वामि-  
पार्श्वे गतः, श्रीसीमन्धरस्वामिपार्श्वे पृष्टं प्रद्युम्नस्वरूपं, श्रीसीमन्धरस्वामिनः मन्वासात् प्रद्युम्नास्थितिरुत्तरं धूमकेतु-

सत्यभामा खषारुणा कृष्णस्याग्ने गत्वा जगाद-मया हरितमह्योऽद्य स्वप्ने दृष्टः । ततो नारायणरतस्या जालिपतमिङ्गिता-  
कारैः कूटं सत्वा जजल्प-भो पति ! त्वया किं खिद्यते परसम्पदं भाविनीं श्रुत्वा । सत्यभामाऽवग-मदीयं जालिपतं  
न कूटं भाविष्यति । ततस्तयोर्मिथ्यस्तदा सत्यभामाखिमपयोर्विवादे जायमाने सत्यभामा सा जगौ-यस्याः पुत्रः  
प्रथमं परिणेष्यति, तस्यै अन्यया स्वमस्तकरथां वेणीं छित्त्वाऽर्पणीया, तत्र साक्षिणः कृताः । दैवाहुभे अपि राइयो  
गर्भं दधतुः, क्रमाद्भुविमप्या जनिते पुत्रे प्रद्योतनत्वात् प्रद्युम्न इति नाम दत्तं, सत्यभामया द्वितीये दिने पुत्रे प्रसूते  
भानुरिति नामाऽभूत् । इतो धूमकेतुरसुरो खिमप्या गृहेऽभ्येत्य लज्जमर्भं गृहीत्वा प्रतिवैताळ्यमभ्यगात् । तत्र टंक-  
शिलायामुपरि सुत्तवा देवस्तिरोदधे । इतस्तत्रागतः कालसंवरः खेचरस्तं बालकं गृहीत्वा स्वपुरं ययौ । कनकभा-  
लानाम्भ्यै स्वपत्न्यै विश्राणितः पालनीयः पुत्रस्थाने स्थापितश्च तया । प्रोक्तं च खगेन पत्न्यग्ने-मया पुत्रो जनि-  
त इति सर्वत्र प्रघोषो वक्तव्यः । ततस्तथा तथा कृते प्रकृष्टदीप्तिमच्छरीरत्वात् प्रद्युम्न इति नाम दत्तं तस्य सुनोः । ततः  
क्रमात् सतन्यपानादिना स प्रद्युम्नः पुत्रो ववृधे । इतो नारदः कृष्णं पुत्राविद्योगादुःखितं सत्वा श्रीसीमन्धरस्वामि-  
पार्श्वे गतः, श्रीसीमन्धरस्वामिपार्श्वे पृष्टं प्रद्युम्नस्वरूपं, श्रीसीमन्धरस्वामिनः सकाशात् प्रद्युम्नास्थितिरवरूपं धूमकेतु-

ततस्तथा दत्ते ते द्वे विद्ये गृहीत्वा प्रद्युम्नो विधिना साधयामास । ततो विद्याभृताप्रियाऽऽचष्ट-भोगान् मया सह-  
धुना प्रद्युम्न ! मुंक्ष्व स्ववाचां पालय । यतः-“अलसार्यतेण वि सज्जणेण, जे अक्खरा समुल्लिखिआ । ते पत्थरटंकुल्ली-  
रिअव्व, न हु अन्नहा हुंति ॥ १ ॥ ” यतः-“अक्खणसणी कमाण मोहणी, तह वयाण बंभवयं । गुत्तीण य मण-  
गुत्ती, चउरो दुःखेण जिप्पंति ॥ १ ॥ ” ततः प्रद्युम्नो जगाद-त्वं मम माताऽसि मात्रा समं यस्य पतिसम्बन्धो भवति  
तस्य नूनमधो गतिः स्यात् । भो मातस्त्वमेवं किं वक्षि । यतः “वरमग्निमि पवेशो ॥ १ ॥ ” इति जल्पन् प्रद्युम्नः  
पुराद् बहिरगात् । तदा नखैः स्वदेहं निकृत्य दीर्घं कनकमाला कलकलं कृत्वाऽभ्यधात्-भो भो लोका ! धावत  
धावत । अयं दुष्टः प्रद्युम्नो भोगसुखार्थी मां विदार्यैवं गतः किमिदं किमिदमिति जल्पन्तः कनकमालापुरास्तत्राययुः ।  
ज्ञात्वा प्रद्युम्नचेष्टितं मातुः पार्श्वे ते पुत्रा रोषारुणा योधाः प्रद्युम्नं हन्तुं लग्नाः प्रद्युम्नो विद्याबलेन तान् जघान ।  
हतान् सुतान् ज्ञात्वा संवरः पिता युद्धार्थं निर्ययौ । तमपि युध्यमानं संवरं विद्यया स्तब्धवान् सः । ततः संवरो-  
जगौ-भो महानुभाग ! त्वं पुत्रोऽसि मम किमेवं कदर्थयसि ? मां मुत्कलं मुञ्च यत्त्वं जल्पसि तत्करोम्यहम् । तत-  
स्तत्क्षणात् संवरो मुत्कलः कृतः । ततः प्रद्युम्नः पितुः पार्श्वे गत्वा प्रणामं कृत्वा च जगौ-इयं तव पत्नी वर्या न

ततस्तथा दत्ते ते द्वे विद्ये गृहीत्वा प्रद्युम्नो विधिना साधयामास । ततो विद्याभृतप्रियाऽऽचष्ट—भोगान् मया सहान-  
धुना प्रद्युम्न ! भुंक्ष्व स्ववाचां पालय । यतः—“अलसायंतेण वि सज्जणेण, जे अन्नखरा समुल्लुविआ । ते पत्थरटं कुक्की-  
रिअव्व, न हु अन्नहा हुंति ॥ १ ॥ ” यतः—“अक्खणसणी कमाण भोहणी, तह वयाण बंभवयं । गुत्तीण य मण-  
गुत्ती, चउरो दुःखेण जिप्पंति ॥ १ ॥ ” ततः प्रद्युम्नो जगाद—त्वं मम माताऽसि मात्रा समं यस्य पतिसम्बन्धो भवति  
तस्य नूनमधो गतिः स्यात् । भो मातस्त्वमेवं किं वक्षि । यतः “वरमग्गिमि पवेशो ॥ १ ॥ ” इति जल्पन् प्रद्युम्नः  
पुराद् बहिरगात् । तदा नखैः स्वदेहं निकृत्य दीर्घं कनकमाला कलकलं कृत्वाऽभ्यधात्—भो भो लोका ! धावत  
धावत । अयं दुष्टः प्रद्युम्नो भोगसुखार्थी मां विदार्थैवं गतः किमिदं किमिदमिति जल्पन्तः कनकमालापुरास्तत्राययुः ।  
ज्ञात्वा प्रद्युम्नचेष्टितं मातुः पार्श्वे ते पुत्रा रोषारुणा योधाः प्रद्युम्नं हन्तुं लप्ताः प्रद्युम्नो विद्याबलेन तान् जघान ।  
हतान् सुतान् ज्ञात्वा संवरः पिता युद्धार्थं निर्ययौ । तमपि युध्यमानं संवरं विद्यया स्तब्धवान् सः । ततः संवरो-  
जगौ—भो महानुभाग ! त्वं पुत्रोऽसि मम किमेवं कदर्थयसि ? मां मुलकलं मुञ्च यत्त्वं जल्पसि तत्करोम्यहम् । तत-  
स्तत्क्षणात् संवरो मुलकलः कुतः । ततः प्रद्युम्नः पितुः पार्श्वे गत्वा प्रणामं कृत्वा च जगौ—इयं तव पत्नी वर्या न

कृत्वा जीर्णवासः परिधाय बुडबुडेतिविद्यां कुलदेव्यग्रेजपन्ती जल्प मामधिकरूपां कुरु कुरु स्वाहा । ततो भामा विद्यां साधयितुं मस्तकं भद्रीकृत्य तस्थान्वेकान्ते । विद्याबलात्तदा भामाचेटीभिः परिवेषितं सर्व्वमन्नं पानं विवाहयोग्यं निष्ठापयामास प्रद्युम्नः । ततः स बालमुनिः रुक्मिणीगृहे यावद्यौ, तावद्रुक्मिणी मुदिता वर्यविष्टग्रहणार्थमन्यत्र गता च । इतः स मुनिः कृष्णसिंहासने उपविष्टः । रुक्मिणी पश्चाद्यावदागता, तावत् कृष्णसिंहासनारूढं दृष्ट्वा जगादेति—कृष्णं वा कृष्णजातं वा, विना सिंहासनेऽत्र हि । अन्यं पुमांसमासीनं, सहन्ते न हि देवताः ॥ १ ॥ सोऽप्याह—तपो मेऽतुलं विद्यते, षोडशवर्षप्रान्ते पारणायाहमिहागाम् । तेन त्वं मां पारणं कारय नोचेद्भामागृहे यास्यामि । रुक्मिणी प्राह—मया किमपि विरूपं नोक्तं मम बाढं पुत्रवियोगोऽस्ति । प्रद्युम्नः प्राह ममापि मातुर्वियोगोऽस्ति किं दुःखं क्रियते । त्वं वद तव पुत्रः क्व गतोऽस्ति । ततस्तथा रुक्मिण्या स्वपणसम्बन्धः प्रोक्तः । मया च पुत्रप्राप्त्यर्थं देवी समाराधिता जगौ—तव पुत्रः षोडशवर्षप्रान्ते समेष्यति सोऽद्यापि नागतः । ततोऽधुना त्वं ज्ञानी समयातोऽसि शास्त्रादि विलोक्य पुत्रागमनस्वरूपं कथय सोऽपि मुनिः प्राह—रिक्तहस्तो जनो देवं, गुरुं वा पितरं नृपम् । न पश्यति लसत्सताभिलाषी मेदिनीतले ॥ १ ॥ रुक्मिणी प्राह—तुभ्यं पेया दास्यते । ततस्तथा तस्मै

